प्रकाशकीय

सत्य एक है, किन्तु उसको समझने के दृष्टिकोण अनेक हैं। विभिन्न दृष्टि-कोणों से अनाग्रहपूर्वक सत्य का साक्षात्कार करना, और उसका सम्यक् निर्वचन करना यही स्याद्वाद या अनेकान्तवाद है। अनेकान्त जैनदर्शन की मूल भित्ति है, बल्कि कहना चाहिए कि अनेकान्त के बिना कोई भी दर्शन, दर्शन नहीं कहला सकता, फिर सम्यक्‌दर्शन तो होगा ही कैसे ?

परम श्रद्धेय राष्ट्रसंत आचार्य श्री आनन्द ऋषिजी महाराज श्री व० स्था० श्रमण संघ के आचार्य तो हैं ही, पर इससे भी अधिक हैं, एक विचारक संत, मनीषी और धर्म एवं दर्शन के अधिकारी विद्वान्! आपश्री अनेक भाषाओं के ज्ञाता, विभिन्न दर्शन-शास्त्रों के गम्भीर अध्येता हैं। आपश्री की भव्य लेखनी से प्रसूत, प्रस्तुत पुस्तक 'स्याद्वाद एक अनुशीलन' अपने विषय की अनूठी पुस्तक है। इसके विषय में अधिक न कहकर पाठकों को मूल पुस्तक पढ़ने का अनुरोध करते हैं।

इस पुस्तक का सम्पादन किया है सुप्रसिद्ध विद्वान् साहित्यकार श्रीचन्दजी सुराना एवं श्री देवकुमार जी जैन ने। पूना विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग के अध्यक्ष डा० श्री सुरेन्द्र बारलिंगे जी ने इस पर प्राक्कथन के रूप में दो शब्द लिखकर हमारे आग्रह का मान रखा है, हम उनके आभारी हैं।

प्रकाशन में अर्थ-सहयोग प्रदान करने वाले सद्गृहस्थों का आभार मानते हुए हम आशा करते हैं कि भविष्य मे भी उनका सहयोग मिलता रहेगा।

मंत्री

श्री रत्न जैन पुस्तकालय

सम्पादकीय

प्रस्तुत पुस्तक 'स्याद्वाद : एक अनुशीलन' अपने विषय व शैली की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण पुस्तक सिद्ध होगी, यह मैं सबसे पहले ही बता देना चाहता हूँ, क्योंकि इसमें स्याद्वाद के दार्शनिक पक्ष को बहुत से प्रमाणों के साथ बहुविध दृष्टियों से प्रस्तुत किया गया है। दर्शन क्षेत्र में स्याद्वाद पर अब तक जो तर्क-वितर्क, चिन्तन-मनन चला है, पक्ष विपक्ष प्रस्तुत हुए हैं उन सबका अध्ययन करके तटस्थ दृष्टि से यहाँ विवेचन किया गया है। जहाँ स्याद्वाद के स्वरूप, नय, निक्षेप, सप्तभंगी आदि का वर्णन हुआ है वहाँ अन्य दर्शनों पर स्याद्वाद का प्रभाव, स्वीकार और उसके स्पष्ट प्रसंगों को भी प्रस्तुत किया गया है। इतना ही नहीं, जैनेतर दार्शनिकों ने स्याद्वाद पर जो अगणित आक्षेप किये हैं उनका भी प्रामाणिकता के साथ स्पष्टीकरण किया गया है ताकि स्याद्वाद का असली रूप पाठक समझ सकें।

स्याद्वाद या अनेकान्तवाद मूलतः भगवान महावीर की देन है, दार्शनिक आचार्यों ने उस बीज को पल्लवित किया है—इस दृष्टिकोण के साथ आगमों में स्याद्वाद के स्वरूप पर एक स्वतन्त्र अध्याय इस पुस्तक में लिखा गया है जो स्याद्वाद के मूलस्वरूप को समझने में बहुत उपयोगी होगा।

पुस्तक के कुल १० अध्याय हैं और इनमें स्याद्वाद सम्बन्धी सभी पक्षों पर विभिन्न दृष्टिकोणों से चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।

श्रद्धेय आचार्य सम्राट् श्री आनन्द ऋषिजी के निर्देशन में उनके द्वारा निर्दिष्ट विषयों व प्रमाणों के आधार पर इस पुस्तक का सम्पादन-लेखन किया गया है। आचार्य श्री की विशाल व्यापक दृष्टि व गम्भीर ज्ञान का मुझे जो लाभ मिला है, वह सर्वसाधारण के लिए प्रस्तुत करने में अत्यधिक प्रसन्नता है। श्री कुन्दन ऋषिजी की प्रेरणा से यह कार्य सुविधापूर्ण शीघ्र सम्पन्न हो सका अतः मैं उनकी कृपा का आभारी हूँ।

स्याद्वाद की पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में सम्पादकीय में अधिक न लिखकर प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी सिंघवी का एक लेखांश यहाँ प्रस्तुत करना ज्यादा उपयुक्त होगा, जो इस पुस्तक की पृष्ठभूमि को अधिक स्पष्ट कर सकेगा। साथ ही डा० एम० [illegible] जैसे विद्वान् की भूमिका पुस्तक की महत्ता व उपयोगिता में चार चाँद लगा देगी, इस आशा के साथ मैं उक्त मनीषी द्वय का आभार मानता हूँ।

अक्षय तृतीया —श्रीचन्द सुराना 'सरस'

अनेकान्तवाद : एक बन्धन-मुक्त मानसचक्षु

□ पं. सुखलालजी संघवी

अनेकान्त जैन सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त है, जो तत्वज्ञान और धर्म दोनों विषयों में समान रूप से मान्य हुआ है। अनेकान्त और स्याद्वाद ये दोनों शब्द इस समय सामान्यतः एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। केवल जैन ही नहीं, परन्तु समझदार जैनेतर लोग भी जैन दर्शन और जैन संप्रदाय को अनेकान्त-दर्शन अथवा अनेकान्त-सम्प्रदाय के रूप में जानते हैं। हमें देखना है कि यह अनेकान्त क्या है?

अनेकान्त एक प्रकार की विचार-पद्धति है। वह सर्व दिशाओं में और सब बाजुओं में विचरण करनेवाला एक बन्धन-मुक्त मानसचक्षु है। ज्ञान के, विचार के और आचरण के किसी भी विषय को वह मात्र एक टूटे या अपूर्ण पहलू से देखने से इन्कार करता है और शक्य हो उतने अधिकाधिक पहलुओं से, अधिकाधिक ब्यौरों से और अधिकाधिक मार्मिकतापूर्वक सब कुछ सोचने-समझने और आचरण करने का उसका पक्षपात है। उसका यह पक्षपात भी सत्य की नींव पर आधारित है। अनेकान्त की सजीवता अथवा जीवन यानी उसके आगे, पीछे या भीतर सर्वत्र सत्य का—यथार्थता का प्रवाह है। अनेकान्त मात्र कल्पना नहीं है, परन्तु सत्यसिद्ध कल्पना से वह तत्वज्ञान है और विवेकी आचरण का विषय होने से धर्म भी है। अनेकान्त की सजीवता इसी में है कि वह जिस प्रकार दूसरे विषयों को तटस्थ भाव से देखने, विचारने और अपनाने के लिए प्रेरित करता है, उसी प्रकार वह अपने स्वरूप तथा सजीवता के बारे में भी मुक्त मन से विचार करने को कहता है। विचार की जितनी उन्मुक्तता, स्पष्टता और तटस्थता, उतना ही अनेकान्त का बल या जीवन।

कोई भी विशिष्ट दर्शन हो या धर्म-पन्थ, उसकी आधारभूत—उसके मूल प्रवर्तक पुरुष की—एक खास दृष्टि होती है, जैसे कि शंकराचार्य की अपने मत-निरूपण में 'अद्वैत दृष्टि' और भगवान् बुद्ध की अपने धर्म-पन्थ प्रवर्तन में 'मध्यम-प्रतिपदादृष्टि' खास दृष्टि है। जैन-दर्शन भारतीय दर्शनों में एक विशिष्ट दर्शन है और साथ ही एक विशिष्ट धर्म-पन्थ भी है, इसलिए उसके प्रवर्तक और प्रचारक मुख्यपुरुषों की एक खासदृष्टि उसके मूल में होनी चाहिये और वह है भी। यही दृष्टि अनेकान्तवाद है। तात्विक जैन-विचारणा अथवा आचार-व्यवहार जो कुछ भी हो, वह सब अनेकान्तदृष्टि के आधार पर किया जाता है, अथवा यों कहिये

कि अनेक प्रकार के विचारों तथा आचारों में से जैन विचार और जैनाचार क्या है ? कैसे हो सकते हैं ? इन्हें निश्चित करने एवं कसने की एकमात्र कसौटी भी अनेकान्त दृष्टि ही है।

अन्य दर्शनों में अनेकान्तदृष्टि

हम सभी जानते हैं कि बुद्ध अपने को विभज्यवादी कहते हैं। जैन आगमों में महावीर को भी विभज्यवादी कहा है। विभज्यवादी का मतलब पृथक्करणपूर्वक सत्य-असत्य का निरूपण तथा सत्यों का यथावत् समन्वय करना है। विभज्यवाद का ही दूसरा मतलब अनेकान्त है, क्योंकि विभज्यवाद में एकान्त दृष्टिकोण का त्याग है। बौद्ध परम्परा में विभज्यवाद के स्थान में मध्यममार्ग शब्द विशेष रूढ़ है। अन्तों का परित्याग करने पर भी अनेकान्त के अवलम्बन में भिन्न-भिन्न विचारकों का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण संभव है; अतएव हम न्याय, सांख्य योग और मीमांसक-जैसे दर्शनों में भी विभज्यवाद तथा अनेकान्त शब्द के व्यवहार से निरूपण पाते हैं।[1] अक्षपाद-कृत 'न्यायसूत्र' के प्रसिद्ध भाष्यकार वात्स्यायन ने २-१-१५, १६ के भाष्य में जो निरूपण किया है, वह अनेकान्त का स्पष्ट द्योतक है और 'यथादर्शन विभागवचनम्' कह कर तो उन्होंने विभज्यवाद के भाव को ही ध्वनित किया है। हम साङ्ख्यदर्शन की सारी तत्त्वचिन्तन-प्रक्रिया को ध्यान से देखेंगे, तो मालूम पड़ेगा कि वह अनेकान्त दृष्टि से निरूपित है। 'योगदर्शन (३-१३ सूत्र) के भाष्य तथा तत्त्व वैशारदी विवरण को ध्यान से पढ़ने वाला साङ्ख्ययोगदर्शन की अनेकान्त दृष्टि को यथावत् समझ सकता है। कुमारिल ने भी 'श्लोकवार्तिक' और अन्यत्र अपनी तत्त्व-व्यवस्था में अनेकान्त दृष्टि का उपयोग किया है।[2] उपनिषदों के समान आधार पर केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि जो अनेक वाद स्थापित हुए हैं वे वस्तुतः अनेकान्त-विचारसरणी के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं।[3] तत्त्वचिन्तन की बात छोड़कर हम मानव-यूथों के जुदे-जुदे आचार-व्यवहारों पर ध्यान देंगे, तो भी उनमें अनेकान्तदृष्टि पायेंगे। वस्तुतः जीवन का स्वरूप ही ऐसा है कि जो एकान्त दृष्टि में पूरा प्रकट हो ही नहीं सकता। मानवीय व्यवहार भी ऐसा है कि जो अनेकान्तदृष्टि का अन्तिम अवलम्बन बिना लिये निभ नहीं सकता।

अनेकान्तदृष्टि का आधार : सत्य

जब सारे जैन विचार और आचार की नींव अनेकान्तदृष्टि ही है, तब पहले यह देखना चाहिए कि अनेकान्तदृष्टि किन तत्त्वों के आधार पर खड़ी की गई है ? विचार करने और अनेकान्तदृष्टि के साहित्य का अवलोकन करने से मालूम होगा

---

१ देखिए प्रस्तुत पुस्तक अध्याय ४, पृष्ठ १२३ से १३७

२ देखिए प्रस्तुत पृष्ठ १४१

३ देखिए प्रस्तुत पृष्ठ १७०-१७४

कि अनेक प्रकार के विचारों तथा आचारों में से जैन विचार और जैनाचार क्या है ? कैसे हो सकते हैं ? इन्हें निश्चित करने एवं कसने की एकमात्र कसौटी भी अनेकान्त दृष्टि ही है।

अन्य दर्शनों में अनेकान्तदृष्टि

हम सभी जानते हैं कि बुद्ध अपने को विभज्यवादी कहते हैं। जैन आगमों में महावीर को भी विभज्यवादी कहा है। विभज्यवादी का मतलब पृथक्करणपूर्वक सत्य-असत्य का निरूपण तथा सत्यों का यथावत समन्वय करना है। विभज्यवाद का ही दूसरा मतलब अनेकान्त है, क्योंकि विभज्यवाद में एकान्त दृष्टिकोण का त्याग है। बौद्ध परम्परा में विभज्यवाद के स्थान में मध्यममार्ग शब्द विशेष रूढ़ है। अन्तों का परित्याग करने पर भी अनेकान्त के अवलम्बन में भिन्न-भिन्न विचारकों का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण सम्भव है, अतएव हम न्याय, सांख्य योग और मीमांसक-जैसे दर्शनों में भी विभज्यवाद तथा अनेकान्त शब्द के व्यवहार से निरूपण पाते हैं।[1] अक्षपाद-कृत 'न्यायसूत्र' के प्रसिद्ध भाष्यकार वात्स्यायन ने २ १-१५, १६ के भाष्य में जो निरूपण किया है, वह अनेकान्त का स्पष्ट द्योतक है और 'यथादर्शन विभाग-वचनम्' कह कर तो उन्होंने विभज्यवाद के भाव को ही ध्वनित किया है। हम सांख्यदर्शन की सारी तत्त्वचिन्तन-प्रक्रिया को ध्यान से देखेंगे, तो मालूम पड़ेगा कि वह अनेकान्त दृष्टि से निरूपित है। 'योगदर्शन' (३-१३ सूत्र) के भाष्य तथा तत्त्व वैशारदी विवरण को ध्यान से पढ़ने वाला सांख्ययोगदर्शन की अनेकान्त दृष्टि को यथावत् समझ सकता है। कुमारिल ने भी 'श्लोकवार्तिक' और अन्यत्र अपनी तत्त्व-व्यवस्था में अनेकान्त दृष्टि का उपयोग किया है।[2] उपनिषदों के समान आधार पर केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि जो अनेक वाद स्थापित हुए हैं वे वस्तुतः अनेकान्त-विचारसरणी के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं।[3] तत्त्वचिन्तन की बात छोड़कर हम मानव-यूथों के जुदे-जुदे आचार-व्यवहारों पर ध्यान देंगे, तो भी उनमें अनेकान्तदृष्टि पायेंगे। वस्तुतः जीवन का स्वरूप ही ऐसा है कि जो एकान्त दृष्टि में पूरा प्रकट हो ही नहीं सकता। मानवीय व्यवहार भी ऐसा है कि जो अनेकान्तदृष्टि का अन्तिम अवलम्बन बिना लिये निभ नहीं सकता।

अनेकान्तदृष्टि का आधार : सत्य

जब सारे जैन विचार और आचार की नींव अनेकान्तदृष्टि ही है, तब पहले यह देखना चाहिए कि अनेकान्तदृष्टि किन तत्त्वों के आधार पर खड़ी की गई है ? विचार करने और अनेकान्तदृष्टि के साहित्य का अवलोकन करने से मालूम होता

---

१ देखिए प्रस्तुत पुस्तक अध्याय ४, पृष्ठ १२३ से १३७
२ देखिए प्रस्तुत पृष्ठ १४१
३ देखिए प्रस्तुत पृष्ठ १७०-१७४

है कि अनेकान्तदृष्टि सत्य पर खड़ी है। यद्यपि सभी महान् पुरुष सत्य को पसन्द करते हैं और सत्य की ही खोज तथा सत्य ही के निरूपण में अपना जीवन व्यतीत करते हैं, तथापि सत्य-निरूपण की पद्धति और सत्य की खोज सबकी एक-सी नहीं होती। बुद्धदेव जिस शैली से सत्य का निरूपण करते हैं या शंकराचार्य उपनिषदों के आधार पर जिस ढंग से सत्य का प्रकाशन करते हैं उससे भगवान् महावीर की सत्य-प्रकाशन की शैली जुदा है। भगवान् महावीर की सत्यप्रकाशन-शैली का दूसरा नाम 'अनेकान्तवाद' है। उसके मूल में दो तत्त्व हैं—पूर्णता और यथार्थता। जो पूर्ण है और पूर्ण होकर भी यथार्थ रूप से प्रतीत होता है वही सत्य कहलाता है।

वस्तु का पूर्ण रूप से त्रिकालाबाधित यथार्थ दर्शन होना कठिन है, किसी को वह हो भी जाए तथापि उसका उसी रूप में शब्दों के द्वारा ठीक-ठीक कथन करना उस सत्यद्रष्टा और सत्यवादी के लिए भी बड़ा कठिन है। कोई उस कठिन काम को किसी अंश में करनेवाले निकले भी आय, तो भी देश, काल, परिस्थिति, भाषा और शैली आदि के अनिवार्य भेद के कारण उन सबके कथन में कुछ-न-कुछ विरोध या भेद का दिखायी देना अनिवार्य है। यह तो हुई उन पूर्णदर्शी और सत्यवादी इने-गिने मनुष्यों की बात, जिन्हें हम सिर्फ कल्पना या अनुमान से समझ या मान सकते हैं। हमारा अनुभव तो साधारण मनुष्यों तक परिमित है और वह कहता है कि साधारण मनुष्यों में भी बहुत-से यथार्थवादी होकर भी अपूर्णदर्शी होते हैं। ऐसी स्थिति में यथार्थवादिता होने पर भी अपूर्ण दर्शन के कारण और उसे प्रकाशित करने की अपूर्ण सामग्री के कारण सत्यप्रिय मनुष्यों की भी समझ में कभी-कभी भेद आ जाता है और संस्कार-भेद उनमें और भी पारस्परिक टक्कर पैदा कर देता है। इस तरह पूर्णदर्शी और अपूर्णदर्शी सभी सत्यवादियों के द्वारा अन्त में भेद और विरोध की सामग्री आप-ही-आप प्रस्तुत हो जाती है या दूसरे लोग उनसे ऐसी सामग्री पैदा कर लेते हैं।

भगवान महावीर के द्वारा संशोधित अनेकान्तदृष्टि और उसकी शर्तें

ऐसी वस्तुस्थिति देखकर भगवान् महावीर ने सोचा कि ऐसा कौन-सा रास्ता निकाला जाए जिससे वस्तु का पूर्ण या अपूर्ण सत्य दर्शन करने वाले के साथ अन्याय न हो। अपूर्ण और अपने से विरोधी होकर भी यदि दूसरे का दर्शन सत्य है, इसी तरह अपूर्ण और दूसरे से विरोधी होकर भी यदि अपना दर्शन सत्य है तो दोनों को ही न्याय मिले इसका क्या उपाय है? इसी चिन्तन-प्रधान तपस्या ने भगवान् को अनेकान्तदृष्टि सुझायी, उनका सत्य-संशोधन का संकल्प सिद्ध हुआ। उन्होंने उस मिली हुई अनेकान्तदृष्टि की चाबी से वैयक्तिक और सामष्टिक जीवन की व्यावहारिक और पारमार्थिक समस्याओं के ताले खोल दिये और समाधान प्राप्त किया। तब उन्होंने जीवनोपयोगी विचार और आचार का निर्माण करते समय उस अनेकान्तदृष्टि को निम्नलिखित मुख्य शर्तों पर प्रकाशित किया और उसके अनुसरण का अपने जीवन द्वारा उन्हीं शर्तों पर उपदेश दिया। वे शर्तें क्रमानुसार हैं :

१. राग और द्वेषजन्य संस्कारों के वशीभूत न होना अर्थात् तेजस्वी मध्यस्थभाव रखना।

२. जब तक मध्यस्थभाव का पूर्ण विकास न हो तब तक उस लक्ष्य की ओर ध्यान रखकर केवल सत्य की जिज्ञासा रखना।

३. कैसे भी विरोधी भासमान पक्ष से न घबराना और अपने पक्ष की तरह उस पक्ष पर भी आदरपूर्वक विचार करना तथा अपने पक्ष पर भी विरोधी पक्ष की तरह तीव्र समालोचक दृष्टि रखना।

४. अपने तथा दूसरों के अनुभवों में से जो-जो अंश ठीक जँचें, चाहे वे विरोधी ही प्रतीत क्यों न हों, उन सबका विवेक-प्रज्ञा से समन्वय करने की उदारता का अभ्यास करना और अनुभव बढ़ने पर पूर्व के समन्वय में जहाँ गलती मालूम हो, वहाँ मिथ्याभिमान छोड़कर सुधार करना और इसी क्रम से आगे बढ़ना।

अनेकान्तदृष्टि का स्वरूप और उसका व्यापक प्रभाव

जब दूसरे विद्वानों ने अनेकान्तदृष्टि को तत्त्व-रूप में ग्रहण करने की जगह साम्प्रदायिक वाद के रूप में ग्रहण किया, तब उसके ऊपर चारों ओर से आक्षेपों के प्रहार होने लगे। बादरायण-जैसे सूत्रकारों ने उसके खण्डन के लिए सूत्र रच डाले और उन सूत्रों के भाष्यकारों ने उसी विषय में अपने भाष्यों की रचनाएँ कीं। वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और शान्तिरक्षित-जैसे बड़े-बड़े प्रभावशाली बौद्ध विद्वानों ने भी अनेकान्तवाद की पूरी खबर ली।[1] इधर से जैन विचारक विद्वानों ने भी उसका सामना किया। इस प्रचण्ड संघर्ष का अनिवार्य परिणाम यह आया कि एक ओर से अनेकान्तदृष्टि का तर्कबद्ध विकास हुआ और दूसरी ओर से उसका प्रभाव दूसरे विरोधी साम्प्रदायिक विद्वानों पर भी पड़ा। दक्षिण भारत के प्रचण्ड दिगम्बर आचार्यों और प्रचण्ड मीमांसक तथा वेदान्त के विद्वानों के बीच शास्त्रार्थ की कुश्ती हुई उसमें अन्त में अनेकान्तदृष्टि का ही असर अधिक फैला। यहाँ तक कि रामानुज-जैसे बिल्कुल जैनत्व-विरोधी प्रखर आचार्य ने शंकराचार्य के मायावाद के विरुद्ध अपना मत स्थापित करते समय आश्रय तो सामान्यतः उपनिषदों का लिया, पर उनमें से विशिष्टाद्वैत का निरूपण करते समय अनेकान्तदृष्टि का उपयोग किया, अथवा यों कहिए कि रामानुज ने अपने ढंग से अनेकान्तदृष्टि को विशिष्टाद्वैत की घटना में परिणत किया और औपनिषद तत्त्व का जामा पहना कर अनेकान्तदृष्टि में से विशिष्टाद्वैतवाद खड़ा करके अनेकान्तदृष्टि की ओर आकर्षित जनता को वेदान्त मार्ग पर स्थिर रखा।[2] पुष्टिमार्ग के पुरस्कर्ता वल्लभ, जो दक्षिण भारत में हुए, उनके शुद्धाद्वैत-विषयक सब तत्त्व हैं तो औपनिषदिक, पर उनकी सारी विचार-

---

१ देखिए प्रस्तुत पुस्तक अध्याय ८, पृष्ठ २८१ से ३२५

२ देखिए पृष्ठ १८१

है कि अनेकान्तदृष्टि सत्य पर खड़ी है। यद्यपि सभी महान् पुरुष सत्य को पसन्द करते हैं और सत्य की ही खोज तथा सत्य ही के निरूपण में अपना जीवन व्यतीत करते हैं, तथापि सत्य-निरूपण की पद्धति और सत्य की खोज सबकी एक-सी नहीं होती। बुद्धदेव जिस शैली से सत्य का निरूपण करते हैं या शंकराचार्य उपनिषदों के आधार पर जिस ढंग से सत्य का प्रकाशन करते हैं उससे भगवान् महावीर की सत्य-प्रकाशन की शैली जुदा है। भगवान् महावीर की सत्यप्रकाशन-शैली का दूसरा नाम 'अनेकान्तवाद' है। उसके मूल में दो तत्त्व हैं—पूर्णता और यथार्थता। जो पूर्ण है और पूर्ण होकर भी यथार्थ रूप से प्रतीत होता है वही सत्य कहलाता है।

वस्तु का पूर्णरूप से त्रिकालाबाधित यथार्थ दर्शन होना कठिन है, किसी को वह हो भी जाए तथापि उसका उसी रूप में शब्दों के द्वारा ठीक-ठीक कथन करना उस सत्यद्रष्टा और सत्यवादी के लिए भी बड़ा कठिन है। कोई उस कठिन काम को किसी अंश में करनेवाले निकल भी आयें, तो भी देश, काल, परिस्थिति, भाषा और शैली आदि के अनिवार्य भेद के कारण उन सबके कथन में कुछ-न-कुछ विरोध या भेद का दिखायी देना अनिवार्य है। यह तो हुई उन पूर्णदर्शी और सत्यवादी इने-गिने मनुष्यों की बात, जिन्हें हम सिर्फ कल्पना या अनुमान से समझ या मान सकते हैं। हमारा अनुभव तो साधारण मनुष्यों तक परिमित है और वह कहता है कि साधारण मनुष्यों में भी बहुत-से यथार्थवादी होकर भी अपूर्णदर्शी होते हैं। ऐसी स्थिति में यथार्थवादिता होने पर भी अपूर्ण दर्शन के कारण और उसे प्रकाशित करने की अपूर्ण सामग्री के कारण सत्यप्रिय मनुष्यों को भी समझ में कभी-कभी भेद आ जाता है और संस्कार-भेद उनमें और भी पारस्परिक टक्कर पैदा कर देता है। इस तरह पूर्णदर्शी और अपूर्णदर्शी सभी सत्यवादियों के द्वारा अन्त में भेद और विरोध की सामग्री आप-ही-आप प्रस्तुत हो जाती है या दूसरे लोग उनसे ऐसी सामग्री पैदा कर लेते हैं।

भगवान महावीर के द्वारा संशोधित अनेकान्तदृष्टि और उसकी शर्तें

ऐसी वस्तुस्थिति देखकर भगवान् महावीर ने सोचा कि ऐसा कौन-सा रास्ता निकाला जाए जिससे वस्तु का पूर्ण या अपूर्ण सत्य दर्शन करने वाले के साथ अन्याय न हो। अपूर्ण और अपने से विरोधी होकर भी यदि दूसरे का दर्शन सत्य है, इसी तरह अपूर्ण और दूसरे से विरोधी होकर भी यदि अपना दर्शन सत्य है तो दोनों को ही न्याय मिले इसका क्या उपाय है? इसी चिन्तन प्रधान तपस्या ने भगवान् को अनेकान्तदृष्टि सुझायी, उनका सत्य-संशोधन का संकल्प सिद्ध हुआ। उन्होंने उस मिली हुई अनेकान्तदृष्टि की चाबी से वैयक्तिक और सामष्टिक जीवन की व्यावहारिक और पारमार्थिक समस्याओं के ताले खोल दिये और समाधान प्राप्त किया। तब उन्होंने जीवनोपयोगी विचार और आचार का निर्माण करते समय उस अनेकान्तदृष्टि को निम्नलिखित मुख्य शर्तों पर प्रकाशित किया और उसके अनुसरण का अपने जीवन द्वारा उन्हीं शर्तों पर उपदेश दिया। वे शर्तें क्रमानुसार हैं :

१. राग और द्वेषजन्य संस्कारों के वशीभूत न होना अर्थात् तेजस्वी मध्यस्थ-भाव रखना।

२. जब तक मध्यस्थभाव का पूर्ण विकास न हो, तब तक उस लक्ष्य की ओर ध्यान रखकर केवल सत्य की जिज्ञासा रखना।

३. कैसे भी विरोधी भासमान पक्ष से न घबराना और अपने पक्ष की तरह उस पक्ष पर भी आदरपूर्वक विचार करना तथा अपने पक्ष पर भी विरोधी पक्ष की तरह तीव्र समालोचक दृष्टि रखना।

४. अपने तथा दूसरों के अनुभवों में से जो-जो अंश ठीक जँचें, चाहे वे विरोधी ही प्रतीत क्यों न हों, उन सबका विवेक-प्रज्ञा से समन्वय करने की उदारता का अभ्यास करना और अनुभव बढ़ने पर पूर्व के समन्वय में जहाँ गलती मालूम हो, वहाँ मिथ्याभिमान छोड़कर सुधार करना और इसी क्रम से आगे बढ़ना।

अनेकान्तदृष्टि का खण्डन और उसका व्यापक प्रभाव

जब दूसरे विद्वानों ने अनेकान्तदृष्टि को तत्त्व-रूप में ग्रहण करने की जगह साम्प्रदायिक वाद के रूप में ग्रहण किया, तब उसके ऊपर चारों ओर से आक्षेपों के प्रहार होने लगे। बादरायण-जैसे सूत्रकारों ने उसके खण्डन के लिए सूत्र रच डाले और उन सूत्रों के भाष्यकारों ने उसी विषय में अपने भाष्यों की रचनाएँ कीं। वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और शान्तिरक्षित-जैसे बड़े-बड़े प्रभावशाली बौद्ध विद्वानों ने भी अनेकान्तवाद की पूरी खबर ली।[१] इधर से जैन विचारक विद्वानों ने भी उनका सामना किया। इस प्रचण्ड संघर्ष का अनिवार्य परिणाम यह आया कि एक ओर से अनेकान्तदृष्टि का तर्कबद्ध विकास हुआ और दूसरी ओर से उसका प्रभाव दूसरे विरोधी साम्प्रदायिक विद्वानों पर भी पड़ा। दक्षिण भारत के प्रचण्ड दिगम्बर आचार्यों और प्रकाण्ड मीमांसक तथा वेदान्त के विद्वानों के बीच शास्त्रार्थ की कुश्ती हुई उसमें अन्त में अनेकान्तदृष्टि का ही असर अधिक फैला। यहाँ तक कि रामानुज-जैसे बिल्कुल जैनत्व-विरोधी प्रखर आचार्य ने शंकराचार्य के मायावाद के विरुद्ध अपना मत स्थापित करते समय आश्रय तो सामान्यतः उपनिषदों का लिया, पर उनमें से विशिष्टाद्वैत का निरूपण करते समय अनेकान्तदृष्टि का उपयोग किया, अथवा यों कहिये कि रामानुज ने अपने ढंग से अनेकान्तदृष्टि को विशिष्टाद्वैत की घटना में परिणत किया और औपनिषद तत्त्व का जामा पहना कर अनेकान्तदृष्टि में से विशिष्टाद्वैतवाद खड़ा करके अनेकान्तदृष्टि की ओर आकर्षित जनता को वेदान्त मार्ग पर स्थित रखा।[२] पुष्टिमार्ग के पुरस्कर्ता वल्लभ, जो दक्षिण भारत में हुए, उनके शुद्धाद्वैत-विषयक सब तत्त्व हैं तो औपनिषदिक, पर उनकी सारी विचार-

---

१ देखिए प्रस्तुत पुस्तक अध्याय ८, पृष्ठ २९१ से ३२५

२ देखिए पृष्ठ १८१

स्याद्वाद ३२८, वल्लभाचार्य और स्याद्वाद ३२६, निम्बार्काचार्य और स्याद्वाद ३२६, स्वामी दयानन्द सरस्वती और स्याद्वाद ३३० महापण्डित राहुल साङ्कृत्यायन और स्याद्वाद ३३१, डा० सम्पूर्णानन्द और स्याद्वाद ३३३, प्रो० बलदेव उपाध्याय और स्याद्वाद ३३३, डॉ० देवराज और स्याद्वाद ३३६, श्री हनुमन्तराव एम० ए० और स्याद्वाद ३३६, प्रो० एस० के० बेलवालकर और स्याद्वाद ३३७, डा० सर राधाकृष्णन और स्याद्वाद ३३७, स्याद्वाद : व्यवहार सत्य ३३८, स्याद्वाद अपेक्षा सहित प्रयुक्त होने वाला निश्चयवाद है ३३९।

९. स्याद्वाद साहित्य का विकास : ऐतिहासिक दृष्टि ३४१—३५८

जैनधर्म का मूल सिद्धान्त अनेकान्तवाद ३४३, जैनदर्शन में स्याद्वाद साहित्य का विकास ३४४, तत्वार्थसूत्र में नयवाद की चर्चा ३४४, कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों में स्याद्वाद ३४५, स्वामि समन्तभद्र की रचनाओं में स्याद्वाद ३४६, सिद्धसेनदिवाकर की अनेकान्तवाद सम्बन्धी रचनाएँ ३४७, जिनभद्रगणी का विशेषावश्यक भाष्य ३४६, अकलंकदेव और उनके ग्रन्थों में स्याद्वाद का विकसित रूप ३५१, हरिभद्रसूरि के ग्रन्थ ३५२, विद्यानन्दि और माणिक्यनंदि के जैन न्याय सम्बन्धी ग्रन्थ ३५३, अभयदेव सूरि की कृतियां ३५४, वादिदेवसूरि और उनका प्रमाण-नय-तत्वालोक ३५४, हेमचन्द्र सूरि की न्याय सम्बन्धी कृतियाँ ३५५, तेरहवीं, चौदहवीं, पन्द्रहवीं शताब्दी के जैनाचार्यों की न्याय सम्बन्धी रचनाएँ ३५५, सत्तरहवीं अठारहवीं शताब्दी के विशिष्ट विद्वान उपाध्याय यशोविजयजी और उनकी रचनाओं की न्याय-सम्बन्धी भव्य शैली में स्याद्वाद का रूप ३५५, पाश्चात्य साहित्य में स्याद्वाद ३५६, ग्रीक दार्शनिकों के विचार ३५६, प्लेटो के विचार ३५६, हीगेल के विचार ३५७, अन्य आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों के विचार ३५८।

१०. स्याद्वाद की लोकमंगल दृष्टि ३५९—३७२

मानवीय विचित्र वृत्ति ३६१, शांति का मार्ग ३६२, लोक-व्यवहार अनेकान्तात्मक है ३६३, लोक जीवन में स्याद्वाद का योगदान ३६४, विवाद पराङ्मुखता ३६५, वैचारिक सहिष्णुता ३६६, वैचारिक समन्वय तथा सहअस्तित्व की स्थापना ३६७, समत्वयोग का विस्तार ३६८, व्यक्तिगत जीवन में स्याद्वाद ३७०, शिष्ट सामान्य नागरिक के आचरण के तीन सूत्र ३७१, विश्वमंगलकारी स्याद्वाद ३७२।

दर्शन शब्द का प्रयोग विविध अर्थों में होता है और यथावसर उसके योग्य प्रसंगानुरूप अर्थ ग्रहण किये जाते हैं। जैसे 'षड्दर्शन' इत्यादि व्यवहार में शास्त्र-ज्ञान अर्थ में, आत्मदर्शन इत्यादि प्रसंग में आत्मसाक्षात्कार अर्थ में दर्शन शब्द का प्रयोग देखा जाता है। इसके सिवाय जैन-परम्परा में दर्शन शब्द के दो अर्थ और प्रसिद्ध हैं, जो अन्य परम्पराओं में प्रचलित नहीं हैं। उनमें से एक अर्थ तो है श्रद्धान, तत्त्व-श्रद्धा[1] और दूसरा अर्थ है—सामान्य बोध या आलोचनमात्र, वस्तु की निर्विशेष सत्तामात्र का ग्रहण।[2] इनमें से प्रस्तावित प्रसंग में दर्शन शब्द का अर्थ तत्त्वचिन्तन की विचारशालिनी ग्रहण किया गया है। इस विचारशालिनी से दर्शन का अभिप्राय है—सत्य का साक्षात्कार करना। सत्य वह है जो पूर्ण है और पूर्ण होकर भी यथार्थ रूप में प्रतीत होता है। साक्षात्कार का अभिप्राय है—जिसमें भ्रम, सन्देह, मतभेद या विरोध के लिए अवकाश न हो।

मनुष्य में सत्य को समझने और सत्य को जानने की जिज्ञासा स्वाभाविक है। वह जो कुछ भी देखता और जो कुछ भी सुनता है उसे जानने का प्रयत्न करता है। दर्शन की इस अभिधेयात्मक व्याख्या सबको मान्य है। सभी दर्शन और उनके प्रवर्तक सत्य का ही समर्थन करते हैं और अहर्निश सत्य के अन्वेषण की साधना एवं निरूपण में तल्लीन रहते हैं। तथापि सत्यान्वेषण और सत्य-निरूपण की पद्धति सर्वत्र एकसी नहीं होती है। सत्य प्रकाशन की पद्धति सबकी अपनी-अपनी है। बौद्धदर्शन में जिस प्रणाली के द्वारा सत्य का निरूपण किया गया है, उससे विपरीत वेदान्त दर्शन की प्रणाली है। इसी प्रकार न्याय, सांख्य आदि-आदि दर्शनों की सत्य निरूपण पद्धति अपनी-अपनी और भिन्न-भिन्न है। ये प्रणालियाँ इतनी भिन्न हैं कि उनका परस्पर एक-दूसरे से किसी भी प्रकार का सामंजस्य नहीं दीखता। इसका कारण है उनका एक पक्षीय विचार, जो सत्यांश होते हुए भी सम्पूर्णता को स्पर्श नहीं करता है। जिससे वे सभी पूर्ण सत्य का साक्षात्कार नहीं कर पाते हैं।

समग्र सत्य के साक्षात्कार का उपाय जैनदर्शन ने प्रस्तुत किया है। सत्य निरूपण हेतु जैनदर्शन की प्रणाली अपनी और अनूठी है। वह विभिन्न विचारकों का विरोध न कर उदारता का परिचय देते हुए विभिन्न दर्शनों के आंशिक सत्यों को यथास्थान अंशतापूर्वक यथार्थ मानता है। जैनदर्शन की इस प्रणाली को 'स्याद्वाद'-किंवा अनेकान्तवाद कहते हैं।

---

१ तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । —तत्त्वार्थ सूत्र १।२

२ (क) विषयविषयिसन्निपातानन्तरं समुद्भूत सत्तामात्रगोचरदर्शनात् । —प्रमाणनय० २।७

(ख) जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टु आयारं ।
अविसेसिऊण अत्थे दंसणमिदि भण्णदे समए ॥ —पंचसंग्रह १।१३८

1

स्याद्वाद सिद्धान्त : सामान्य अवलोकन

दर्शन का अर्थ है देखना। व्याकरण में 'दृश्' धातु इसी अर्थ में प्रयुक्त की गई है। द्रष्टा, दर्शन, दृश्य और दृष्टि ये दृश् धातु से निष्पन्न शब्द हैं जो अपने-अपने आधारों से उपयोग में आते हैं। जिनके अलग-अलग अर्थ हैं, लेकिन इन सबका मूल स्रोत एक है। इनमें से दर्शन शब्द पर विचार करते हैं।

ऊपर दर्शन का अर्थ देखना बताया गया है। देखने का कार्य आँखों द्वारा होता है। जो सर्वजन प्रसिद्ध है। अतः जिनके आँखें हैं, चाहे वे मानव हैं या मानवेतर प्राणी—उनकी आँखों द्वारा होने वाली प्रवृत्ति को दर्शन कहा जाता है। यह तो हुआ दर्शन शब्द का सामान्य अर्थ। लेकिन प्रत्येक शब्द का एक व्यंजनात्मक सांकेतिक विशेष अर्थ और भी हुआ करता है। जिसमें अर्थ गाम्भीर्य भी अधिक होता है। दर्शन शब्द इससे अछूता कैसे रह सकता है। अतः यह भी अपने अंतस् में एक गम्भीर आशय को अन्तर्भूत किए हुए है, और वह अर्थ है—सत्य का साक्षात्कार करना। सत्य को देखना—यथार्थ की उपलब्धि करना। यह कार्य बुद्धि के द्वारा किया जाता है, विचार उसकी आधारभूमि है।

मानव सृष्टि का सर्वोत्तम, श्रेष्ठ विचारशील प्राणी है। विचार करना उसका स्वभाव है। चिन्तन-मनन के सर्वश्रेष्ठ फल का उपभोक्ता है मानव। अतएव वह सुदूर अतीत काल से ही जीवन और जगत की प्रत्येक वृत्ति एवं प्रवृत्ति के बारे में विचार करता आया है। इस विचार के साथ ही दर्शन का प्रादुर्भाव हो जाता है। भले ही हम उसे दर्शन के नाम से सम्बोधित करें अथवा अन्य किसी नाम से, लेकिन यह सत्य है कि विचार करने के साथ ही मानव का दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश हो जाता है। यानी विचार दर्शन की आधारशिला है। जहाँ विचार है, वहाँ दर्शन का अस्तित्व है, चाहे फिर वह विचार स्व-अस्तित्व के बारे में हो या पर-वस्तुओं के बारे में। यही नहीं, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि जीवन व्यवहार से सम्बन्धित सभी प्रवृत्तियों में भी दर्शन शब्द का प्रयोग किया जाता है। जिससे यह सिद्ध है कि दर्शन का अस्तित्व तिल में तेल की तरह मानव-जाति में सार्वकालिक है। दर्शन के अस्तित्व की अस्वीकृति का सिद्धान्त भी प्रकारान्तर से दर्शन का ही परिणाम है।

दर्शन शब्द का प्रयोग विविध रूपों में होता है और यथावसर उसके योग्य प्रसंगानुरूप आशय ग्रहण किये जाते हैं। जैसे 'षट्दर्शन' इत्यादि व्यवहार में शास्त्र-ज्ञान अर्थ में, आत्मदर्शन इत्यादि प्रसंग में आत्मसाक्षात्कार अर्थ में दर्शन शब्द का प्रयोग देखा जाता है। इसके सिवाय जैन-परम्परा में दर्शन शब्द के दो अर्थ और प्रसिद्ध हैं, जो अन्य परम्पराओं में प्रचलित नहीं हैं। उनमें से एक अर्थ तो है श्रद्धान, तत्त्व-श्रद्धा[1] और दूसरा अर्थ है—*सामान्य बोध या आलोचनमात्र, वस्तु की निर्विशेष सत्तामात्र का बोध।*[2] इनमें से प्रस्तावित प्रसंग में दर्शन शब्द का अर्थ तत्त्वचिन्तन की विचार सारिणी ग्रहण किया गया है। इस विचारसारिणी में दर्शन का अभिप्राय है—सत्य का साक्षात्कार करना। सत्य वह है जो पूर्ण है और पूर्ण होकर भी यथार्थ रूप से प्रतीत होता है। साक्षात्कार का अभिप्राय है—*जिसमें भ्रम, सन्देह, मतभेद या विरोध के लिए अवकाश न हो।*

मनुष्य में सत्य को समझने और सत्य को जानने की जिज्ञासा स्वाभाविक है। वह जो कुछ भी देखता और जो कुछ भी सुनता है उसे जानने का प्रयत्न करता है। दर्शन की उक्त अभिप्रायात्मक व्याख्या सबको मान्य है। सभी दर्शन और उनके प्रवर्तक सत्य का ही समर्थन करते हैं और अहर्निश सत्य के अन्वेषण की साधना एवं निरूपण में तल्लीन रहते हैं। तथापि सत्यान्वेषण और सत्य-निरूपण की पद्धति सर्वत्र एकसी नहीं होती है। सत्य-प्रकाशन की पद्धति सबकी अपनी-अपनी है। बौद्धदर्शन में जिस प्रणाली के द्वारा सत्य का निरूपण किया गया है, उससे विपरीत वेदान्त दर्शन की प्रणाली है। इसी प्रकार न्याय, सांख्य आदि-आदि दर्शनों की सत्य निरूपण पद्धति अपनी-अपनी और भिन्न-भिन्न है। ये प्रणालियाँ इतनी भिन्न हैं कि उनका परस्पर एक-दूसरे से किसी भी प्रकार का सामंजस्य नहीं दीखता। इसका कारण है उनका एक पक्षीय विचार, जो सत्यांश होते हुए भी सम्पूर्णता को स्पर्श नहीं करता है। जिससे वे सभी पूर्ण सत्य का साक्षात्कार नहीं कर पाते हैं।

समग्र सत्य के साक्षात्कार का उपाय जैनदर्शन ने प्रस्तुत किया है। सत्य निरूपण हेतु जैनदर्शन की प्रणाली अपनी और अनूठी है। वह विभिन्न विचारकों का विरोध न कर उदारता का परिचय देते हुए विभिन्न दर्शनों के आंशिक सत्यों को यथास्थान अपेक्षापूर्वक यथार्थ मानता है। जैनदर्शन की इस प्रणाली को 'स्याद्‌वाद'-किंवा अनेकान्तवाद कहते हैं।

---

१ तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। —तत्त्वार्थ सूत्र १।२

२ (क) विषयविषयिसन्निपातानन्तर समुद्‌भूत सत्तामात्र[illegible]दर्शनात्। —प्रमाणनय० २।७

(ख) जं सामण्णं गहणं भावाणं
[illegible]विसेसिऊण अट्ठं

सचेतन और अचेतन पदार्थों का अलग-अलग अस्तित्व स्वीकार किया है। वे सचेतन पदार्थ को पुरुष और अचेतन पदार्थ को प्रकृति नाम से अभिहित करते हैं। लेकिन उन्होंने चैतन्य शक्ति को पदार्थों का ज्ञान करने वाला नहीं मानकर ज्ञान करना प्रकृति का गुण माना है। उन्होंने पुरुष (सचेतन) का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि वह अमूर्त, चेतन, भोक्ता, नित्य सर्वव्यापी, क्रिया रहित, अकर्ता, निर्गुण और सूक्ष्म है।[1] अन्धे और लंगड़े व्यक्ति की तरह प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध होता है और प्रकृति-जन्य जो महत् (बुद्धि) तत्त्व है, उसमें पदार्थ प्रतिभासित होते हैं। वास्तव में पुरुष स्वयं शुद्ध है परन्तु वह बुद्धि सम्बन्धी अध्यवसाय को देखकर बुद्धि से भिन्न होकर भी अपने आपको बुद्धि से अभिन्न समझता है।[2] और बुद्धि में चेतनशक्ति का प्रतिबिम्ब पड़ने से अचेतन बुद्धि चेतन की तरह प्रतिभासित होने लगती है। जैसे कि भिन्न-भिन्न रंगों के संयोग से निर्मल स्फटिक मणि काले, पीले आदि रंग की हो जाती है, वैसे ही अविकारी चेतन-पुरुष अचेतन मन को अपने समान चेतन बना लेता है। इतना होने पर भी वास्तव में विकारी होने से मन चेतन नहीं कहा जा सकता है।[3]

उनका मन्तव्य है कि पुरुष निष्क्रिय एवं निर्लेप है और बंध-मोक्ष प्रकृति को ही होता है। किन्तु प्रकृति और पुरुष का अभेद होने से पुरुष के संसार और मुक्ति का सद्भाव माना जाता है। प्रकृति के संयोग से ही पुरुष 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुखी हूँ' ऐसा मानने लगता है। लेकिन यहां विचारणीय यह है कि यदि चेतन शक्ति स्व और पर का ज्ञान करने में असमर्थ है तो उसे चेतनशक्ति कैसे कहा जा सकता है और अमूर्त चेतनशक्ति का बुद्धि में प्रतिबिम्ब भी कैसे पड़ सकता है? क्योंकि प्रतिबिम्ब तो मूर्त पदार्थ का ही पड़ता है। चेतनशक्ति को परिणमनशील और कर्ता माने बिना उसका बुद्धि में परिवर्तन होना भी सम्भव नहीं है एवं पूर्व रूप के त्याग तथा उत्तर रूप को ग्रहण किये बिना पुरुष सुख-दुःख का भोक्ता नहीं कहला सकता है। यही बात पुरुष के बंध और मोक्ष मानने के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। जब पुरुष निष्क्रिय है, कर्ता [illegible] है तब बन्ध और मोक्ष किसको?

[illegible] जड़ मानने पर उससे पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता है। क्योंकि जिस प्र[illegible] [illegible] में व्यक्ति वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ने से अथवा स्वयं चेतन नहीं हो जाता, [illegible] प्रकार अचेतन बुद्धि भी चेतन पुरुष के प्रतिबिम्ब से चेतन नहीं हो सकती।

[1] [illegible] भोगी नित्य सर्वगतोऽक्रियः।
[illegible] र्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने॥

[2] पुरुषः [illegible] बोद्धव्यमध्यवसायं [illegible] [illegible] [illegible]
—स्याद्वाद भाष्य

[3] [illegible] स्फटि[illegible] [illegible] चेतनम्।
[illegible] स्फटिकं यथा॥ —[illegible]

चिन्तक और आचार्य ने अपने-अपने अभिमत संस्थापित करते हुए दूसरों का खण्डन भी किया है और युक्ति आदि के द्वारा उसे खण्डन की चरमसीमा तक पहुँचाया है। लेकिन एक-दूसरे के दृष्टिकोण एवं वस्तुस्थिति की ओर झाँकने का प्रयास नहीं किया है।

इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ चिन्तकों ने सिर्फ एक चिदात्मक (सचेतन) ब्रह्म रूप तत्व को स्वीकार किया है और दृश्यमान जगत, ज्ञेय पदार्थों को माया बताया और कहा है कि वह मिथ्या है और जो कुछ भी हम देखते हैं, वह सब ब्रह्म का ही प्रपंच है। इस सम्बन्ध में उक्ति एवं शास्त्रीय प्रमाण देते हुए वे कहते हैं—यह जागतिक प्रपंच मिथ्या रूप प्रतीत होने से मिथ्या है—मायाजाल है और जो मिथ्या होता है, उसे मिथ्या मानना ही चाहिए जैसे कि सीप के टुकड़ों में चाँदी की प्रतीति होना मिथ्या माना जाता है। इस बात को जन-साधारण भी ऐसा ही कहते हैं और मानते हैं। फिर भी यह जो कुछ दीख रहा है, वह ब्रह्म का रूप है। ब्रह्म नाना रूप नहीं है और उसको कोई नहीं देखता है।[१]

उक्त दृष्टिकोण के प्रति सहज रूप में जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है कि क्या यह दृश्यमान जगत मिथ्या है? मायाजाल है? असत् है? क्या यह सब ब्रह्म रूप ही है और ब्रह्म का ही रूपान्तर है? क्या इन दृश्यमान पदार्थों का स्वयं अपने विभिन्न रूपों में कोई अस्तित्व नहीं है?

कुछ दूसरे चिन्तकों ने केवल भौतिक पदार्थों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश-की सत्ता स्वीकार की और इन्हीं के संयोग से चैतन्य की उत्पत्ति मानी है। उनकी युक्ति है कि जिस समय पृथ्वी आदि भूत (भौतिक पदार्थ) शरीर रूप में परिणत होते हैं उस समय उनमें चैतन्य शक्ति स्वयमेव उत्पन्न हो जाती है। जैसे मदिरा आदि में गुड़, महुआ जल आदि पदार्थों के सड़ने से शराब बनती है और उसमें मादक शक्ति स्वयं आ जाती है, वैसे ही पंचभूतों के विशिष्ट संयोग से चैतन्य शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है। अतः चैतन्य, आत्मा का धर्म न होकर शरीर का धर्म है। मरणकाल में शरीरयन्त्र में विकृति आ जाने से चैतन्यशक्ति समाप्त हो जाती है। लेकिन क्या यह सम्भव है कि विजातीय, गुण, जाति, स्वभाव वाली वस्तु से उनके विपरीत गुण, धर्म स्वभाव वाली वस्तु की उत्पत्ति हो जाये? चैतन्य का गुण धर्म, स्वभाव जड़-पदार्थों के गुण, धर्म, स्वभाव से सर्वथा विरुद्ध है। यदि उनसे ही चैतन्य शक्ति की उत्पत्ति माननी हो तो जैसे मादकशक्ति प्रत्येक मादक पदार्थ में पायी जाती है, जो मदिरा आदि के रूप में पूर्णतया अभिव्यक्त हो जाती है, वैसे ही पृथ्वी आदि भूतों में भी चेतनशक्ति को मानना आवश्यक है, जो इन भूत चैतन्यवादियों को अभिप्रेत नहीं है।

उक्त ब्रह्मवादी और भूत चैतन्यवादी दोनों चिन्तकों से भिन्न किन्हीं चिन्तकों ने

---

१ सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तत् पश्यति कश्चन॥ —छांदोग्य उपनिषद् ३/१४

सचेतन और अचेतन पदार्थों का अलग-अलग अस्तित्व स्वीकार किया है। वे सचेतन पदार्थ को पुरुष और अचेतन पदार्थ को प्रकृति नाम से अभिहित करते हैं। लेकिन उन्होंने चेतन्य शक्ति को पदार्थों का ज्ञान करने वाला नहीं मानकर ज्ञान करना प्रकृति का गुण माना है। उन्होंने पुरुष (सचेतन) का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि वह अमूर्त, चेतन, भोक्ता, नित्य सर्वव्यापी, क्रिया रहित, अकर्ता, निर्गुण और सूक्ष्म है।[१] अन्धे और लंगड़े व्यक्ति की तरह प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध होता है और प्रकृति-जन्य जो महत् (बुद्धि) तत्व है, उसमे पदार्थ प्रतिभासित होते हैं। वास्तव में पुरुष स्वयं शुद्ध है परन्तु वह बुद्धि सम्बन्धी अध्यवसाय को देखकर बुद्धि से भिन्न होकर भी अपने आपको बुद्धि से अभिन्न समझता है।[२] और बुद्धि में चेतनशक्ति का प्रतिबिम्ब पड़ने से अचेतन बुद्धि चेतन की तरह प्रतिभासित होने लगती है। जैसे कि भिन्न-भिन्न रंगों के संयोग से निर्मल स्फटिक मणि काले, पीले आदि रूप की हो जाती है, वैसे ही अविकारी चेतन-पुरुष अचेतन मन को अपने समान चेतन बना लेता है। इतना होने पर भी वास्तव मे विकारी होने से मन चेतन नहीं कहा जा सकता है।[३]

उनका मतव्य है कि पुरुष निष्क्रिय एवं निर्लेप है और बंध-मोक्ष प्रकृति को ही होता है। किन्तु प्रकृति और पुरुष का अभेद होने से पुरुष के ससार और मुक्ति का सद्भाव माना जाता है। प्रकृति के संयोग से ही पुरुष 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुखी हूँ' ऐसा मानने लगता है। लेकिन यहाँ विचारणीय यह है कि यदि चेतन शक्ति स्व और पर का ज्ञान करने में असमर्थ है तो उसे चेतनशक्ति कैसे कहा जा सकता है और अमूर्त चेतनशक्ति का बुद्धि मे प्रतिबिम्ब भी कैसे पड़ सकता है? क्योंकि प्रतिबिम्ब तो मूर्त पदार्थ का ही पड़ता है। चेतनशक्ति को परिणमनशील और कर्ता माने बिना उसका बुद्धि मे परिवर्तन होना भी सम्भव नही है एवं पूर्व रूप के त्याग तथा उत्तर रूप को ग्रहण किये बिना पुरुष सुख-दुःख का भोक्ता नहीं कहला सकता है। यही बात पुरुष के बंध और मोक्ष मानने के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। जब पुरुष निष्क्रिय है, कर्ता ही नही है तब बन्ध और मोक्ष किसको?

बुद्धि को जड़ मानने पर उससे पदार्थों का ज्ञान नही हो सकता है। क्योंकि जिस प्रकार दर्पण मे व्यक्ति वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ने से अचेतन दर्पण चेतन नहीं हो जाता, उसी प्रकार अचेतन बुद्धि भी चेतन पुरुष के प्रतिबिम्ब से चेतन नही हो सकती है।

---

१ अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्य सर्वगतोऽक्रिय ।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ॥

२ शुद्धोऽपि पुरुषः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति तमनुपश्यन् अतदात्मापि तदात्मक इति प्रतिभासते । —व्यास भाष्य

३ पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् ।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा ॥ —विन्ध्यवासी

कुछ चिन्तकों ने द्रव्य, गुण, कर्म आदि छह तत्त्व माने हैं। लेकिन उनमें सत्ता पृथक् मानी है। द्रव्य आदि स्वयं सत् नहीं है, सत्ता सामान्य से वे सत् हैं। लेकिन विचार करने पर यह भी एक कल्पना मात्र प्रतीत होती है। यदि सत्ता को द्रव्यादि से भिन्न माना जाये तो द्रव्य आदि को असत् मानना चाहिए। जब द्रव्य आदि का स्वयं अस्तित्व ही नहीं है तो दूसरे की सहायता से उनका अस्तित्व कैसे माना जा सकता है? साथ ही यह भी विचारणीय है कि द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन तत्त्वों में तो सत्ता मानने और सामान्य विशेष एवं समवाय इन तीन तत्त्वों में नहीं मानने का कारण क्या है? क्योंकि अस्तित्व वस्तु का स्वरूप है और इन द्रव्यादि छह तत्त्वों का अस्तित्व स्वयं उनके सत् होने पर ही सम्भव है। एक ओर तो द्रव्य, गुण और कर्म में ही सत्ता मानना और दूसरी ओर द्रव्यादि समवाय पर्यन्त छहों पदार्थों में सत्ता मानना[१] तो उपहासास्पद प्रतीत होता है तथा इस प्रकार की द्विविधता का कारण क्या है? इसका कोई स्पष्टीकरण ये चिन्तक नहीं देते हैं।

उक्त सभी विचारों से भिन्न जैन-दर्शन जीव और अजीव दोनों तत्त्वों (द्रव्यों) को स्वीकार करता है। न तो सिर्फ एक चेतन तत्त्व ही है और न केवल अचेतन ही। जड़ और चेतन इन दोनों तत्त्वों में से न तो चेतन तत्त्व निष्क्रिय है और न अचेतन तत्त्व सक्रिय है। दोनों का अपने गुण, धर्म स्वभाव से अस्तित्व है; आरोपित सत्ता से उनका अस्तित्व नहीं है। उनमें अपनी-अपनी स्थिति रूप से परिवर्तन होते रहने पर भी नित्यता है। वे न तो सर्वथा नित्य ही हैं और न सर्वथा अनित्य ही। इसी प्रकार उनमें वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि अनेक गुण अपने-अपने रूप में विद्यमान रहते हैं।

जीव और अजीव तत्त्वों में से अजीव के निम्नलिखित पाँच भेद हैं—(१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) पुद्गलास्तिकाय, (५) काल[२]। जीव का कोई भेद नहीं है। इन छह द्रव्यों के लक्षण[३] क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) धर्मास्तिकाय—यह जीव और पुद्गलों की गति क्रिया में सहायक द्रव्य हैं।

१ षण्णां पदार्थानां साधर्म्यमस्तित्वं ज्ञेयत्वमभिधेयत्वं च इति।

—प्रशस्तकारवचनात्

२ धम्मो अहम्मो आगासं कालो पुग्गल········।

—उत्तराध्ययन २८।७

३ गइ लक्खणो उ धम्मो अहम्मो ठाण लक्खणो।
भायणं सव्वदव्वाणं नहं ओगाहलक्खणं॥
वत्तणा लक्खणो कालो जीवो उवओग लक्खणो।
वण्णरसगंधफासा पुग्गलाणं तु लक्खणं॥

—उत्तराध्ययन २८।९, १०, १२

(२) अधर्मास्तिकाय—जीव और पुद्गलों की स्थिति में सहयोगी कारण रूप अधर्म द्रव्य है।

(३) आकाशास्तिकाय—जिसमें पदार्थों को आश्रय-आधार देने का गुण हो।

(४) पुद्गलास्तिकाय—जिसमें रूप, रस, गन्ध, वर्ण हो, उसे पुद्गल कहते हैं।

(५) काल—समस्त द्रव्यों के वर्तना, परिणमन आदि के साधारण कारण को काल कहते हैं।

(६) जीवास्तिकाय—जिसमें चेतन शक्ति हो अथवा इन्द्रिय, बल, आयु एवं श्वासोच्छ्वास रूप प्राणों से जो जीता है, वह जीव है।

धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव यह पाँच द्रव्य बहु-प्रदेशी होकर अस्तित्व वाले होने से अस्तिकाय द्रव्य कहलाते हैं और काल द्रव्य सिर्फ एक प्रदेशी होने से अस्ति द्रव्य तो है किन्तु बहु प्रदेशी न होने से अस्तिकाय द्रव्य नहीं है।

जैनदर्शन में इन छहों द्रव्यों के रूप में लोक-व्यवस्था का विशद विवेचन किया गया है। इन छह द्रव्यों के सिवाय इस विश्व में अन्य कुछ नहीं है। विश्व में जो कुछ भी विभिन्नतायें हमारे देखने में आती हैं अथवा नहीं आती हैं, उन सबका मावेश इन छह द्रव्यों में हो जाता है।

द्रव्य का लक्षण है—सत्[1]। सत् उसे कहते हैं जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मकता हो।[2] इनके लक्षण[3] क्रमशः इस प्रकार हैं—

उत्पाद—नवीन पर्याय (अवस्था) का उत्पन्न होना।

व्यय—पूर्व पर्याय का नाश होना।

ध्रौव्य—उत्पाद और व्यय होते रहने पर भी द्रव्य का अपने मूल स्वभाव में स्थिर रहना।

उत्पाद आदि उक्त तीनों के लक्षणों का तात्पर्य यह है कि सत् प्रतिक्षण परिणमनशील है। वह पूर्व पर्याय का परित्याग करके उत्तर पर्याय धारण करता है। उसकी यह पूर्व-व्यय और उत्तर-उत्पाद की धारा अनादि-अनन्त है, कभी विच्छिन्न नहीं होती है। चाहे जड़ द्रव्य हो या चेतन। कोई भी द्रव्य इस उत्पाद-व्यय के चक्र से बाहर नहीं है। यह उसका स्वभाव है। उसका मौलिक धर्म है कि उसे प्रतिक्षण परिणमन करते रहना चाहिए और अपने मूल स्वभाव का परित्याग न करते हुए अपनी

---

१ सद् द्रव्यलक्षणम्। —तत्वार्थसूत्र ५।२९

२ उत्पाद व्ययध्रौव्ययुक्तम् सत्। —तत्वार्थसूत्र ५।३०

३ स्वजात्यपरित्यागेन भावान्तरावाप्तिरुत्पादः, पूर्वभावविगमो व्ययनं व्ययः, अनादि पारिणामिक स्वभावत्वेन व्ययोदयभावात् ध्रुवति स्थिरीभवति इति ध्रुवः, ध्रुवस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यम्। —तत्वार्थ राजवार्तिक ५।३०

अविच्छिन्न धारा में असंकरभाव से अनाद्यनन्त रूप में परिणत होते रहना चाहिए। ये परिणमन कभी सदृश भी होते हैं और कभी विसदृश भी। ये कभी एक-दूसरे के निमित्त से प्रभावित भी होते हैं और स्वतः भी होते रहते हैं। लेकिन यह निश्चित है कि यह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप परिणमन की धारा किसी भी समय दीप-निर्वाण की तरह बुझ नहीं सकती है, रुक नहीं सकती है एवं असत् का कभी उत्पाद नहीं होता।[1] परिवर्तन कितना भी क्यों न हो जाय, परिवर्तनों की संख्या अनन्त भी हो जाये, फिर भी वस्तु की सत्ता नष्ट नहीं होती है। अनन्त प्रयत्न करने पर भी जगत के रजकण से एक भी अणु को नष्ट नहीं किया जा सकता है। यह जैनदर्शन की लोक-व्यवस्था एवं द्रव्य-व्यवस्था का अखण्ड सिद्धान्त है।

जबकि अन्य तत्त्व चिन्तक द्रव्य की सत्ता, स्वरूप, स्थिति आदि का पूर्णरूपेण निरूपण नहीं कर पाये हैं, द्रव्य में न तो कूटस्थ नित्यता ही सिद्ध होती है और न क्षण विध्वंसता ही। चैतन्य गुण युक्त आत्म-तत्त्व भी है और चैतन्यविहीन मूर्त (दृश्यमान), अमूर्त (अदृश्यमान) तत्त्व का भी अस्तित्व है। ये सभी द्रव्य सदात्मक हैं अर्थात् गुण-पर्यायात्मक हैं। अपनी गुणात्मक स्थिति के कारण उनमें ध्रुवता है तथा पर्याय-रूपता के कारण उनमें उत्पत्ति-विनाश रूप अवस्थायें भी विद्यमान हैं। गुण त्रिकाल-वर्ती सहभावी हैं और अवस्थायें एक समयवर्ती क्रमवर्ती हैं।[2] द्रव्य के इसी गुण-पर्यायात्मक रूप में उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मकता स्थित है।[3]

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के इस सार्व द्रव्यिक नियम का कोई अपवाद नहीं है। प्रत्येक सत् (द्रव्य) प्रति समय अपनी पर्याय परिवर्तित करता ही रहता है, चाहे आगामी पर्याय सदृश, असदृश, अल्पसदृश, अर्धसदृश या विसदृश क्यों न हो, किन्तु परिणामित्व स्वभाव के कारण प्रत्येक द्रव्य अपनी उत्पादन योग्यता और सन्निहित निमित्त सामग्री के अनुसार प्रति समय परिवर्तित हो रही है।

द्रव्य में यदि उत्पाद शक्ति पहले क्षण में पर्याय उत्पन्न करती है तो विनाश शक्ति उस पर्याय का दूसरे क्षण में नाश कर देती है। यानी प्रति समय यदि उत्पाद-शक्ति किसी नूतन पर्याय को प्रगट करती है तो विनाश शक्ति उसी समय पूर्व पर्याय को नाश करके उसके लिये स्थान रिक्त कर देती है। इस प्रकार इस विरोधी समागम के द्वारा द्रव्य प्रतिक्षण उत्पाद, विनाश और इसकी कभी विच्छिन्न न होने वाली ध्रौव्य-परम्परा के कारण विलक्षण है। द्रव्य के इस स्वाभाविक परिणमन चक्र में जब जैसी

---

१ (क) भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स उप्पादो। —पंचास्तिकाय, गाथा १५

(ख) नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। — गीता २।१६

२ अन्वयिनो गुणाः व्यतिरेकिनः पर्यायाः। —सर्वार्थसिद्धि ५।३८ टीका

३ गुणपज्जएसु भाव उप्पायवयं पकुव्वति। —पंचास्तिकाय गाथा १५

कारणसामग्री का संयोग हो जाता है, उसके अनुसार वह परिणमन प्रभावित होता है और कारणसामग्री का आधार द्रव्य को भी प्रभावित करता है। द्रव्य मे अपने सभाव्य परिणमनों की असंख्य योग्यतायें प्रतिसमय विद्यमान हैं किन्तु प्रगट वही योग्यता होती है जिसकी सामग्री परिपूर्ण हो जाती है।

द्रव्य गुण-पर्यायात्मक है, इस पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाये तो ज्ञात होगा कि प्रत्येक द्रव्य सामान्यतया यद्यपि अखण्ड है, परन्तु वह अनेक सहभावी गुणों का अभिन्न आधार होता है, जिससे उसमे गुणकृत विभाग किया जा सकता है। एक पुद्गल परमाणु युगपत् रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि अनेक गुणों का आधार होता है और प्रत्येक गुण भी प्रतिसमय परिणमनशील है। द्रव्य और गुण का कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध है। द्रव्य से गुण को पृथक् नही किया जा सकता है। इसीलिये वह अभिन्न है। फिर भी संज्ञा, सख्या, प्रयोजन आदि के भेद से उसका विभिन्न रूप से निरूपण किया जाता है, अतएव वह भिन्न भी है। इस दृष्टि से द्रव्य में जितने गुण हैं उतने उत्पाद और व्यय प्रति समय होते रहते हैं। प्रत्येक गुण अपनी पूर्व पर्याय को छोड़कर उत्तर पर्याय को धारण करता है और वे सब हैं अपृथक् सत्ता वाले, उनकी द्रव्य सत्ता एक है। गुण और पर्याय को छोड़कर द्रव्य का कोई पृथक् अस्तित्व नही है। यानी गुण और पर्याय ही द्रव्य है। पर्यायो मे परिवर्तन होने पर भी जो एक अविच्छिन्नता का नियामक अंश है, वही गुण है। गुण अपनी सामान्य पर्यायो मे सामान्य एकरूपता के प्रयोजक होते हैं। जिस समय पुद्गलाणु मे रूप, रस, गन्ध स्पर्श मे से कोई भी अपनी नई पर्याय लेता है, उसी समय उसके रूप, रस आदि में भी परिवर्तन आ जाता है। इस तरह प्रत्येक द्रव्य मे प्रति समय गुणकृत अनेक उत्पाद-व्यय होते हैं और वे सब उस गुण के स्वरूप, पर्यायें हैं।

कार्योत्पत्ति सम्बन्धी जैनदर्शन का दृष्टिकोण

कार्योत्पत्ति के सम्बन्ध मे दर्शनकारों की मुख्यतया तीन विचारधारायें हैं। प्रथम सत्कार्यवाद, द्वितीय असत्कार्यवाद और तृतीय सत्-असत्कार्यवाद। इनमें से सांख्यदर्शन सत्कार्यवादी है। उसका कथन है कि प्रत्येक कारण मे उससे उत्पन्न होने वाले कार्य की सत्ता है, क्योंकि सर्वथा असत् कार्य की उत्पत्ति खरविषाणवत् नही हो सकती है। गेहूँ के अकुर के लिये गेहूँ का बीज आवश्यक है जौ आदि के बीज नहीं। इसीलिये उपादान मे कार्य का सद्भाव है, जगत् में सब कारणों से सभी कार्य पैदा नही होते हैं किन्तु प्रतिनियत कारणों से प्रतिनियत कार्य होते हैं। यानी जिन कारणों में कार्य का सद्भाव है, वे ही उससे उत्पन्न होते हैं, अन्य नही।[१] यदि कारणों मे कार्य का सद्भाव स्वीकार न किया जाये तो संसार में कोई किसी का कारण ही नही हो

---

१ असदकरणादुपादान ग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य॥ —सांख्यकारिका

सकता है। कार्य कारण भाव स्वयं ही कारण में किसी रूप से कार्य का सद्भाव सिद्ध कर देता है।

नैयायिक आदि असत्कार्यवादी हैं। उनका कथन यह है कि जो स्कन्ध परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होता है, वह एक नया ही अवयवी द्रव्य है। उन परमाणुओं के संयोग के बिखर जाने पर वह नष्ट हो जाता है। उत्पत्ति से पूर्व उस अवयवी द्रव्य की कोई सत्ता नहीं है। यदि कार्य की सत्ता कारण में स्वीकृत करली जाये तो कार्य को अपने आकार-प्रकार में उसी समय मिलना चाहिए था, किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है। अवयव द्रव्य और अवयवी द्रव्य यद्यपि भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं, किन्तु उनका क्षेत्र पृथक् नहीं है, वे अयुतसिद्ध हैं। अवयवी की उत्पत्ति यदि होती है तो वह केवल अवयवों से ही। अवयवों से भिन्न पृथक् अवयवी को निकालकर दिखाना सम्भव नहीं है और न ऐसा देखा जाता है।

बौद्ध भी असत्कार्यवाद को मानते हैं। प्रतिक्षण नवीन उत्पाद होना उनका सिद्धान्त है। उनकी दृष्टि में पूर्व और उत्तर के साथ वर्तमान का कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस समय में जहाँ जो है, वह वहीं और उसी समय नष्ट हो जाने वाला है। सन्तान ही कार्यकारणभाव आदि व्यवहारों की नियामक है। वस्तुतः दो क्षणों का परस्पर में कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है।

लेकिन जैनदर्शन उक्त दोनों ऐकान्तिक वादों सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद को कार्योत्पत्ति के लिये नियामक नहीं मानकर सदसत्कार्यवाद को मानता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक पदार्थ में मूलभूत द्रव्य योग्यताएँ होने पर भी कुछ तत्पर्याय योग्यतायें भी होती हैं। ये पर्याय योग्यतायें मूल द्रव्य योग्यताओं से बाहर की नहीं हैं किन्तु उन्हीं में से विशेष अवस्थाओं में साक्षात् विकास को प्राप्त होने वाली हैं। जैसे मिट्टी रूप पुद्गल के परमाणुओं में घट, पट आदि रूप से परिणमन करने की सभी द्रव्य योग्यतायें हैं, परन्तु मिट्टी की तत्पर्याय योग्यता ही घटको साक्षात् उत्पन्न कर सकती है, पट आदि को नहीं। अर्थात् कार्य अपने कारण द्रव्य रूप में द्रव्य योग्यता के साथ ही तत्पर्याय योग्यता या शक्ति के रूप में रहता ही है, उसका अस्तित्व योग्यता अर्थात् द्रव्य रूप से ही है, पर्याय रूप से नहीं है।

सांख्य प्रधान को कारणद्रव्य मानता है। उसमें जगत के समस्त कार्यों के उत्पादन की शक्ति है। ऐसी स्थिति में जबकि उसमें शक्ति रूप से सब कार्य विद्यमान हैं तब अमुक समय में अमुक कार्य ही उत्पन्न हो, यह व्यवस्था नहीं बन सकती है। कारण के एक होने पर परस्पर विरोधी अनेक कार्यों की युगपत् उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है। अतः सांख्य का यह मानना कुछ विशेष अर्थ नहीं रखता कि 'कारण में कार्य शक्ति रूप से है, व्यक्ति रूप से नहीं है।' क्योंकि शक्ति रूप से तो [illegible] विद्यमान है। दूसरी बात यह है कि प्रधान व्यापक एवं निरंश है, साथ विभिन्न देशों में परस्पर विरोधी अनेक कार्यों का आविर्भाव

चाहिए जो प्रत्यय विरुद्ध है। जब सर्वशक्ति सम्पन्न प्रधान नामक कारण सर्वत्र विद्यमान है तो मिट्टी के पिण्ड से घट की ही भांति कपडा और पुस्तक आदि उत्पन्न क्यों नही होते हैं ?

इस सम्बन्ध मे जैनदर्शन का तो स्पष्ट उत्तर है कि मिट्टी के परमाणुओ में यद्यपि पुस्तक और पट रूप से परिणमन करने की मूल द्रव्य योग्यता है किन्तु मिट्टी की पिण्ड रूप पर्याय मे साक्षात् कपडा और पुस्तक बनने की तत्पर्याय योग्यता नही है। इसीलिये मिट्टी का पिण्ड पुस्तक या कपडा नही बन पाता है। दूसरी बात यह है कि द्रव्य भी एक नही, अनेक हैं, अत. सामग्री के अनुसार परस्पर विरुद्ध अनेक कार्यों का युगपत् उत्पाद बन जाता है। महत्त्व तत्पर्याय योग्यता का है। जिस समय में कारण द्रव्यों मे जितनी तत्पर्याय योग्यतायें होंगी, उनमें से किसी एक का विकास, प्राप्त कारण सामग्री के अनुसार हो जाता है और पुरुष का प्रयत्न उसे इष्ट आकार और प्रकार मे परिणत कराने के लिये विशेष साधक होता है। उपादान व्यवस्था इसी तत्पर्याय योग्यता पर आधारित है, मात्र द्रव्य योग्यता पर ही नहीं। क्योंकि गेहूँ और जौ दोनों बीजों के परमाणुओं मे अकुरों को पैदा करने की द्रव्य योग्यता समान रूप से है परन्तु तत्पर्याय योग्यता जौ के बीज मे जौ के अकुर को ही उत्पन्न करने की है और गेहूँ के बीज में गेहूँ के अकुर को उत्पन्न करने की। अतएव विभिन्न कार्यों की उत्पत्ति के लिये भिन्न-भिन्न उपादानों का ग्रहण होता है।

द्रव्य पर्यायवाद मानने के सम्बन्ध मे बौद्ध एक दूषण देते हैं कि 'दही खाओ' कहने पर व्यक्ति ऊँट को खाने के लिये क्यो नहीं दौड़ता है, जबकि दही और ऊँट के पुद्गलो मे पुद्गल रूप से कोई भेद नही है।[1] यह दोष देना उचित नहीं है क्योंकि जगत का व्यवहार केवल द्रव्य योग्यता से नही चलता है वरन् तत्पर्याय योग्यता से चलता है। ऊँट के शरीर के पुद्गल और दही के पुद्गल द्रव्य रूप से समान होने पर भी एक नही हैं और वे स्थूल पर्याय रूप से भी परस्पर अपना भेद रखते हैं तथा तत्पर्याय योग्यतायें भी उन दोनो की भिन्न-भिन्न है, अत 'दही खाओ' कहने पर दही ही खाया जाता है, ऊँट का शरीर नही।

एक द्रव्य की अपनी क्रमिक अवस्थाओं मे अमुक उत्तर पर्याय का उत्पन्न होना केवल द्रव्य योग्यता पर ही निर्भर नही होता है किन्तु कारणभूत पर्याय की तत्पर्याय योग्यता पर भी निर्भर होता है। प्रत्येक द्रव्य के प्रति समय स्वभावत उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप से परिणामी होने के कारण सब व्यवस्थायें सदसत् कार्यवाद के आधार में व्यवस्थित हो जाती हैं। विवक्षित कार्य अपने कारण में कार्य-आकार से असत् होकर भी योग्यता या शक्ति रूप से सत् है। यदि कारण द्रव्य मे वह शक्ति न होती तो उसमे

---

१ सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥

—प्रमाणवार्तिक ३।१८१

वह कार्य उत्पन्न हो नहीं हो सकता था। एक अविच्छिन्न प्रवाह में चलने वाली धारा-बद्ध पर्यायों का परस्पर ऐसा कोई विशिष्ट सम्बन्ध तो होना ही चाहिए जिसके कारण पूर्व पर्याय अपनी ही उत्तर पर्याय में उपादान कारण हो सके, दूसरे की उत्तर पर्याय में नहीं।

यह अनुभव सिद्ध व्यवस्था न तो सांख्य दर्शन के सत्कार्यवाद में सम्भव है और न बौद्ध तथा नैयायिक दर्शन आदि के असत्कार्यवाद में ही। सांख्य के मत में कारण के एक होने से इतनी अभिन्नता है कि कार्य भेद को सिद्ध करना असम्भव है और बौद्धों के यहाँ इतनी भिन्नता है कि अमुक क्षण के साथ अमुक क्षण का उपादान-उपादेय-भाव बनना कठिन है। इसी तरह नैयायिकों के अवयवी द्रव्य को अमुक अवयवों के साथ समवाय सम्बन्ध सिद्ध करना इसलिये कठिन है कि उनमें परस्पर अत्यन्त भेद माना गया है।

जैनदर्शन में जो जीव आदि द्रव्य माने गये हैं, वे गुण पर्यायात्मक हैं। गुण और पर्याय द्रव्य से कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध रखने के कारण सत् तो हैं किन्तु द्रव्य के समान मौलिक नहीं, द्रव्यांश हैं। इनमें उत्पत्ति, विनाश रूप अवस्थायें होती रहती हैं और अनेकान्तात्मक होने से प्रमेय बनती हैं। जैनदर्शन की दृष्टि में द्रव्य ही एक मात्र मौलिक पदार्थ है और जो अन्य दार्शनिकों ने गुण, कर्म, सामान्य आदि माने हैं वे सब द्रव्य की पर्यायें हैं स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं। प्रमेयभूत पदार्थ के एक-एक अंश में नयों[1] की प्रवृत्ति होती है।

पदार्थ की यह स्थिति है। इसी पृष्ठभूमि के आधार पर जैनदर्शन ने अपने दृष्टिकोण और चिन्तन-मनन को स्पष्ट करने के लिए स्याद्वाद के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है।

स्याद्वाद की परिभाषा

विचार करने की क्षमता ही मनुष्य को समग्र प्राणधारियों में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कराती है। मनुष्य सोचता है और स्वतन्त्रतापूर्वक सोचता है। परिणामतः विचारों की विभिन्न दृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं। एक ही वस्तु के स्वरूप के बारे में विभिन्न व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिकोणों से सोचना प्रारम्भ करते हैं। यहाँ तक तो विचारों का क्रम ठीक रूप से चलता है किन्तु उसके आगे होता यह है कि विचार करने वाले विचारणीय वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखकर उसके समग्र स्वरूप को समझने की ओर उन्मुख नहीं होते, किन्तु जिसने वस्तु को जिस विशिष्ट दृष्टि से सोचा वह उसे ही वस्तु का समग्र स्वरूप घोषित कर अपने महत्त्व प्रदर्शन के लिए अग्रसर होने लगता है। इसके फलस्वरूप ऐकान्तिक दृष्टिकोण एवं हठवादिता का वातावरण बनने लगता है और जो विचार सत्य ज्ञान की ओर अग्रसर कर सकते थे,

---

१ जैनदर्शन की नय दृष्टि का यथास्थान आगे विवेचन किया जा रहा है।

वे ही पारस्परिक समन्वय के अभाव में विद्वेष पूर्ण संघर्ष के जटिल कारणों के रूप मे परिवर्तित हो जाते हैं। इस संघर्ष का परिहार स्याद्वाद सिद्धान्त द्वारा सम्भव है। इसीलिये महान् आचार्यों ने स्याद्वाद की संस्तुति करते हुए कहा है—

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा न निव्वडइ ।
तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥[1]

—जिसके बिना लोक-व्यवहार सफल नहीं हो सकता है, ऐसे लोक के एक-मात्र गुरु अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) को नमस्कार है। इतना ही नहीं, जिसके आलोक में समस्त पदार्थों का समूह अपनी अनन्त पर्यायों के साथ दर्पण में प्रतिभासित जैसा दृष्टिगोचर होता है तथा जो श्रेष्ठतम शास्त्रों का बीज है, मूल है, जो जन्मान्धों के हस्तिविषयक विविध अर्थों के स्पर्श से उत्पन्न विरोध की तरह समस्त ऐकान्तिक दृष्टिकोणों, विचारों के दुराग्रह का शमन करने की क्षमता रखता है एवं समस्त वचन व्यवहार जन्य विरोधाभासों को शमन करने वाला है ऐसा अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) सदैव जयवन्त रहे।[2]

स्याद्वाद का अर्थ है विभिन्न दृष्टिकोणों का पक्षपात रहित होकर तटस्थ बुद्धि और दृष्टि से समन्वय करना। स्याद्वाद एक न्यायाधीश जैसा है। जैसे न्याया-धीश वादी-प्रतिवादी दोनों पक्षों के बयानों को सुनकर और उन दोनों के बयानों की जाँच-पड़ताल करके निष्पक्ष फैसला देता है, वैसे ही स्याद्वाद भी परस्पर भिन्न विचारों को सुनकर उनमें समन्वय करता है।

जिन्हें सत्य ग्रहण करना है, उन्हें समन्वय का आधार सापेक्षता को अंगीकार करना होगा। सिर्फ अपने द्वारा निश्चित नियमों और सिद्धान्तों के द्वारा चिन्तन और चिन्त्य (जिसका चिन्तन विचार किया जा रहा है) का एक अंश ही प्राप्त किया जा सकता है। यदि हम इस बात पर गम्भीरता से विचार करें तो विभिन्न विचार-धाराओं द्वारा बताये गये सत्यांशों का एकीकरण करके समग्र सत्य के दर्शन कर सकते हैं। लेकिन जिन्होंने एक विशिष्ट प्रणाली को ग्रहण कर लिया है और निराकार अरूप सत्य तक नहीं पहुँच पाये हैं, वे प्रायः अपने मान्य सत्य तक भी नहीं पहुँच पाते हैं और शाश्वत सत्य को ऐतिहासिक तथ्यों से मिलाकर भ्रम उत्पन्न कर देते हैं।

दर्शनों में विभिन्नतायें क्यों है? वे महत्वपूर्ण क्यों दिखाई देती हैं? इसका

---

१ आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, —सन्मति तर्क ३।६८

२ तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥
परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यन्ध सिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥
—पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, अमृतचंद्रसूरि

स्याद्वाद की इस परिभाषा को और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृत चन्द्र सूरि कहते हैं—

'जिस प्रकार ग्वालिन दही-मथन करते समय मंथानी की रस्सी के दो छोरों में से एक हाथ की रस्सी को अपनी ओर खींचती है तब दूसरे हाथ की रस्सी को मथानी की ओर से जाती है और जब मथानी की ओर पहुँची हुई रस्सी को अपनी ओर खींचती है तो पहले हाथ की रस्सी को मंथानी की ओर जाने के लिए ढीली छोड़ देती है। इस प्रकार करने से वह मक्खन प्राप्त कर लेती है। वैसे ही अनेकान्त पद्धति भी कभी वस्तु के एक धर्म को मुख्यता देती है और कभी दूसरे धर्म को मुख्यता देकर वस्तु तत्त्व के यथार्थ का अवबोध कराती है और श्रोता आचार्य की इस भावमयी गम्भीर भाषा-शैली में अभिव्यक्त स्याद्वाद की परिभाषा को सुनकर उल्लासपूर्ण स्वर में उद्घोष करता है—जिन भगवान द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त नीति स्याद्वाद सिद्धान्त सदा जयवन्त रहे।[1]

स्याद्वाद की दार्शनिक परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—

प्रत्यक्षादिप्रमाणाविरुद्धानेकान्तात्मकवस्तुप्रतिपादकः श्रुतस्कन्धात्मकः स्याद्वादः।[2]

अनेकान्तात्मकार्थं कथनं स्याद्वादः[3]

स्याद्वाद में 'वाद' शब्द सीमित विचार का द्योतक नहीं है, जैसा कि वाद शब्द का अर्थ प्रायः समझा जाता है। स्याद्वाद तत्त्वज्ञान में विचारों, चिन्तन की सामग्री प्राप्त करता है। विभिन्न दृष्टिकोणों से अपेक्षाओं को खोजने की शिक्षा देता है और वस्तु तत्त्व के यथार्थ तक पहुँचने की अविराम साधना चलती रहती है। जहाँ वाद शब्द से सीमित विचारों का ग्रहण माना जाता है, वहाँ एकांगिता आ जाती है, स्वचिन्तन, मनन और कथन को मुख्य मानकर दूसरे के कथन को उपेक्षणीय समझ लिया जाता है। जहाँ आग्रह सत्य के लिये नहीं होता वहाँ आग्रह पद्धति के लिये होता है। जैसे कि प्राण निकल जाने के बाद भी शरीर को रखने का आग्रह किया जाय तो वह सड़ने लगता है। वैसे ही सत्य के निकल जाने के बाद भी यदि पद्धति को बनाये रखने का प्रयास होता है तो वह सड़ने लगती है, उसमें दुर्गन्ध पैदा होने लगती है।

स्याद्वाद को पद्धति का आग्रह नहीं किन्तु सत्य प्राप्ति का आग्रह है। जैसे जन्मान्ध व्यक्ति हाथी को अलग-अलग तरह से जानते हैं। सूंड पकड़ने वाले को हाथी झूलते हुए अजगर-सा लगता है, पैर पकड़ने वाले को वह पेड़ के तने जैसा प्रतीत

---

१ एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥

—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

२ अष्टसहस्री

३ लघीयस्त्रय ६२

होता है, पेट को टटोलने वाले को कोठी जैसा और कान पकड़ने वाले को सूप-सा मालूम होता है। अगर ये सभी अन्ध व्यक्ति यही आग्रह रखें कि जैसा मुझे लगता है या मैंने जाना है, वही हाथी का असली स्वरूप है तो उनमें ऐसी लड़ाई हो कि शायद एक-दूसरे की जान लेने-देने की नौबत आ जाये। क्योंकि उनकी हाथी को जानने की अपनी-अपनी पद्धति तो है, पर वही सत्य नहीं है। सत्य सबकी पद्धति से परे है। उन सबकी पद्धति का समन्वित रूप हाथी सत्य है।

स्याद्वाद का आग्रह, दुराग्रह या कदाग्रह नहीं है। जहाँ भी सत्य हो वह उसे ग्रहण करता है। जैसे मैं जो देखता हूँ, वह मेरे लिये सत्य ही है, किन्तु दूसरा जो देखता है, उसके लिये वही सत्य होगा। वैसे ही स्याद्वाद के लिये भी जानना चाहिये। वह अपने सत्य को समझता है, लेकिन दूसरे पर लादने का प्रयत्न नहीं करता है और न उसके नाश करने का उपाय सोचता है। दूसरे पर अपने सत्य को लादने से स्याद्वाद की विजय नहीं होती है। किन्तु वह अपने सत्य से दूसरे को परिचित कराता है और दूसरे के कथन में जो सत्य है, उसे ग्रहण करता है। स्याद्वाद की सत्य-शोधक वृत्ति का यह रूप होता है। इसीलिये स्याद्वाद ऐसी वचनप्रणाली को अपनाता है जो उस तथ्य का सही-सही प्रतिनिधित्व कर सके, उसके स्व-पर रूप की ओर संकेत कर सके और भ्रम को उत्पन्न न होने दे। कथन में कोई अंश छूट न जाये और जिस समय जो धर्म विवक्षित है, उसका कथन भी हो जाये।

प्रत्येक वस्तु में अनंत धर्मों की अपने स्वरूप से सत्ता है और यह सत्ता उस पदार्थ में विद्यमान अन्य धर्मों की प्रतिरोधक नहीं है। क्योंकि वस्तुस्थिति का रूप ही ऐसा है कि प्रत्येक वस्तु स्व-रूप से विद्यमान रहती है और पर-रूप से अविद्यमान। यदि वस्तु को पर-रूप से भी भाव रूप स्वीकार किया जाये तो एक वस्तु के सद्भाव में सम्पूर्ण वस्तुओं का सद्भाव माना जायेगा और यदि वस्तु का अपने स्वरूप से भी अभाव माना जाये तो वस्तु स्वभाव रहित हो जायेगी, जो कि वस्तु स्वरूप से सर्वथा विपरीत है।[१] स्याद्वाद उन अनंत धर्मों की विद्यमानता का निश्चय कराता है।[२] इसीलिये उनको बतलाने के लिये 'स्यात्' शब्द का समस्त वाक्यों के साथ प्रगट या अप्रगट रूप से प्रयोग करता है अथवा उन वाक्यों में 'स्यात्' शब्द सबद्ध रहता है।

वस्तु में अनन्त धर्मों की सत्ता अपनी सुविधा या अपने दृष्टिकोणों से ही नहीं मानी जाती है बल्कि जीवादि सभी पदार्थ भाव-अभाव, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि

---

१ सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च।
अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसंभवः॥
—प्रमाण मीमांसा

२ संपूर्णार्थविनिश्चायी स्याद्वाद श्रुतमुच्यते।
—न्यायावतार

रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। इसका कारण यह है कि वस्तु स्वपर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से भावाभावात्मक आदि रूप है।[1] अतएव वस्तु का स्वरूप ही वैसा मानने के लिये प्रेरित करता है क्योंकि एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी धर्म युगपत् रहते हैं।

इसको समझने के लिये निम्न उदाहरण उपयुक्त होगा। अग्नि में जीवनदायक धर्म भी विद्यमान है और प्राणघातक भी। यदि पाचन-क्रिया के लिये उसका उपयोग हो तो वह जीवनदायक है और उसी का उग्र रूप प्राणनाशक भी। यानी व्यक्ति के लिये संजीवनी भी है और डूबने वाले के लिये प्राण घातक भी। अन्न प्राण है, लेकिन एक प्रकार का भोजन एक व्यक्ति के लिये बलवर्द्धक है और वही भोजन दूसरे के लिये रोग उत्पन्न करने वाला भी हो सकता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मात्मक होने के साथ-साथ, स्थिति, व्यक्ति, कर्म आदि की दृष्टि से सापेक्षता रखता है।

वस्तु और उसके विविध आयामों (धर्मों) को जानना उतना कठिन नहीं है, जितना शब्दों के द्वारा उनका कथन करना। क्योंकि एक ज्ञान अनेक धर्मों को एक साथ जान सकता है किन्तु एक शब्द एक समय में उन सभी धर्मों का कथन नहीं कर सकता है। वह एक समय में वस्तु के किसी एक ही धर्म का आंशिक कथन करेगा। इसके साथ ही शब्द भी अपनी सीमित शक्ति के कारण वस्तु में विद्यमान अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म का ही मुख्यता से वर्णन कर सकता है। क्योंकि अनेक धर्मात्मक वस्तु में जिस धर्म की वचन प्रयोग के समय विवक्षा होती है, वह धर्म मुख्य और इतर (दूसरे) धर्म गौण कहलाते हैं। वक्ता के वचन व्यवहार के दृष्टिकोणों को समझने में श्रोता को कोई धोखा न हो, यह स्याद्वाद का हार्द (आशय) है। समस्त संसार परस्पर विरोधी बातों से भरा पड़ा है। ऐसी स्थिति में उनका परिहार किसी एक ही पक्ष को अंगीकार करने से नहीं किन्तु अभीप्सित अभिप्रेत को मुख्य और अनभीप्सित को गौण मानकर ही किया जा सकता है।[2]

स्यात् शब्द की महत्ता

ऊपर बताया गया है कि स्याद्वाद 'स्यात्' और 'वाद' इन दो पदों से निष्पन्न यौगिक शब्द है। जिसमें वाद का अर्थ है कथन या प्रतिपादन और स्यात्

---

१ स्यादस्ति च नास्तीति नित्यमनित्यं त्वनेकमेकं च।
तदतच्चेति चतुष्टय युग्मैरिव गुम्फितं वस्तु॥
—पंचाध्यायी, पूर्वार्ध, २६२

२ (क) अप्पितणप्पिते। —स्थानांग २
(ख) अर्पितानर्पितसिद्धेः —तत्त्वार्थसूत्र, ५।३२
(ग) विवक्षितो मुख्यं —स्वयंभूस्तोत्र, ५३

होता है, पेट को टटोलने वाले को कोठी जैसा और कान पकड़ने वाले को सूप-सा मालूम होता है। अगर ये सभी अन्ध व्यक्ति यही आग्रह रखें कि जैसा मुझे लगता है या मैंने जाना है, यही हाथी का असली स्वरूप है तो उनमें ऐसी लड़ाई हो कि शायद एक-दूसरे की जान लेने-देने की नौबत आ जाये। क्योंकि उनकी हाथी को जानने की अपनी-अपनी पद्धति तो है, पर वही सत्य नहीं है। सत्य सबकी पद्धति से परे है। उन सबकी पद्धति का समन्वित रूप हाथी सत्य है।

स्याद्वाद का आग्रह, दुराग्रह या कदाग्रह नहीं है। जहाँ भी सत्य हो वह उसे ग्रहण करता है। जैसे मैं जो देखता हूँ वह मेरे लिये सत्य ही है, किन्तु दूसरा जो देखता है, उसके लिये वही सत्य होगा। वैसे ही स्याद्वादी को यह भी जानना चाहिये। वह अपने सत्य को समझता है, लेकिन दूसरे पर लादने का प्रयत्न नहीं करता है और न उसके नाश करने का उपाय सोचता है। दूसरे पर अपने सत्य को लादने से स्याद्वाद की विजय नहीं होती है। किन्तु वह अपने सत्य से दूसरे को परिचित कराता है और दूसरे के कथन में जो सत्य है, उसे ग्रहण करता है। स्याद्वाद की सत्य-शोधक वृत्ति का यह रूप होता है। इसीलिये स्याद्वाद ऐसी वचनप्रणाली को अपनाता है जो उस तथ्य का सही-सही प्रतिनिधित्व कर सके, उसके स्व-पर रूप की ओर संकेत कर सके और भ्रम को उत्पन्न न होने दे। कथन में कोई अंश छूट न जाये और जिस समय जो धर्म विवक्षित है, उसका कथन भी हो जाये।

प्रत्येक वस्तु मे अनंत धर्मों की अपने स्वरूप से सत्ता है और यह सत्ता उस पदार्थ में विद्यमान अन्य धर्मों की प्रतिरोधक नहीं है। क्योंकि वस्तुस्थिति का रूप ही ऐसा है कि प्रत्येक वस्तु स्व-रूप से विद्यमान रहती है और पर-रूप से अविद्यमान। यदि वस्तु को पर-रूप से भी भाव रूप स्वीकार किया जाये तो एक वस्तु के सद्भाव में सम्पूर्ण वस्तुओं का सद्भाव माना जायेगा और यदि वस्तु का अपने स्वरूप से भी अभाव माना जाये तो वस्तु स्वभाव रहित हो जायेगी, जो कि वस्तु स्वरूप से सर्वथा विपरीत है।[1] स्याद्वाद उन अनंत धर्मों की विद्यमानता का निश्चय कराता है।[2] इसीलिये उनको बतलाने के लिये 'स्यात्' शब्द का समस्त वाक्यों के साथ प्रगट या अप्रगट रूप से प्रयोग करता है अथवा उन वाक्यों में 'स्यात्' शब्द संबद्ध रहता है।

वस्तु मे अनन्त धर्मों की सत्ता अपनी सुविधा या अपने दृष्टिकोणों से ही नहीं मानी जाती है बल्कि जीवादि सभी पदार्थ भाव-अभाव, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि

---

१ सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च।
अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसंभवः॥
—प्रमाण मीमांसा

२ संपूर्णार्थविनिश्चायी स्याद्वादं श्रुतमुच्यते।
—न्यायावतार

रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। इसका कारण यह है कि वस्तु स्वपर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से भावाभावात्मक आदि रूप है।[१] अतएव वस्तु का स्वरूप ही वैसा मानने के लिये प्रेरित करता है क्योंकि एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी धर्म युगपत् रहते हैं।

इसको समझने के लिये निम्न उदाहरण उपयुक्त होगा। अग्नि में जीवनदायक धर्म भी विद्यमान है और प्राणघातक भी। यदि पाचन-क्रिया के लिये उसका उपयोग हो तो वह जीवनदायक है और उसी का उग्र रूप प्राणनाशक भी। यानी व्यक्ति के लिये सञ्जीवनी भी है और डूबने वाले के लिये प्राण घातक भी। अन्न प्राण है, लेकिन एक प्रकार का भोजन एक व्यक्ति के लिये बलवर्द्धक है और वही भोजन दूसरे के लिये रोग उत्पन्न करने वाला भी हो सकता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मात्मक होने के साथ-साथ, स्थिति, व्यक्ति, कर्म आदि की दृष्टि से सापेक्षता रखता है।

वस्तु और उसके विविध आयामों (धर्मों) को जानना उतना कठिन नहीं है, जितना शब्दों के द्वारा उनका कथन करना। क्योंकि एक ज्ञान अनेक धर्मों को एक साथ जान सकता है किन्तु एक शब्द एक समय में उन सभी धर्मों का कथन नहीं कर सकता है। वह एक समय में वस्तु के किसी एक ही धर्म का आंशिक कथन करेगा। इसके साथ ही शब्द भी अपनी सीमित शक्ति के कारण वस्तु में विद्यमान अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म का ही मुख्यता से वर्णन कर सकता है। क्योंकि अनेक धर्मात्मक वस्तु में जिस धर्म की वचन प्रयोग के समय विवक्षा होती है, वह धर्म मुख्य और इतर (दूसरे) धर्म गौण कहलाते हैं। वक्ता के वचन व्यवहार के दृष्टिकोणों को समझने में श्रोता को कोई धोखा न हो, यह स्याद्वाद का हार्द (आशय) है। समस्त संसार परस्पर विरोधी बातों से भरा पड़ा है। ऐसी स्थिति में उनका परिहार किसी एक ही पक्ष को अंगीकार करने से नहीं किन्तु अभीप्सित अभिधेय को मुख्य और अनभीप्सित को गौण मानकर ही किया जा सकता है।[२]

स्यात् शब्द की महत्ता

ऊपर बताया गया है कि स्याद्वाद 'स्यात्' और 'वाद' इन दो पदों से निष्पन्न यौगिक शब्द है। जिसमें वाद का अर्थ है कथन या प्रतिपादन और स्यात्

---

१ स्यादस्ति च नास्तीति नित्यमनित्यं त्वनेकमेकं च।
तदतच्चेति चतुष्टय युग्मैरिव गुम्फितं वस्तु॥
—पंचाध्यायी, पूर्वार्ध, २६२

२ (क) अर्पितनर्पिते। —स्थानांग २
(ख) अर्पितानर्पितसिद्धेः —तत्वार्थसूत्र, ५।३२
(ग) विवक्षितो मुख्यं इतीष्यतेऽन्योगुणोऽविवक्षो। —स्वयंभूस्तोत्र, ५३

विधि लिंग में बना हुआ तिङन्त प्रतिरूपक निपात है। यह अपने-आप में एक महान् उद्देश्य और वाचक शक्ति को छिपाये हुए है। इसके प्रशंसा, अस्तित्व, विवाद, विचारणा, संशय, अनेकान्त, प्रश्न आदि अनेक अर्थ होते हैं। परन्तु हमें इन अनेक अर्थों में से 'स्यात्' शब्द की उस निर्दोष परम्परा का अनुगमन करना चाहिये, जिसके कारण यह शब्द सत्य का प्रतीक बना हुआ है। इसलिये 'स्यात्' शब्द कथंचित् अर्थ में विशेष रूप से उपयुक्त बैठता है। कथंचित्' अर्थात् अमुक निश्चित अपेक्षा से वस्तु अमुक धर्म वाली है।

शब्द का स्वभाव अवधारणात्मक होता है, इसीलिये वह अन्य का प्रतिषेध करने में निरंकुश रहता है। किन्तु अन्य के प्रतिषेध पर अंकुश लगाने का कार्य 'स्यात्' करता है। 'रूपवान् घट' वाक्य घड़े के रूप का प्रतिपादन भले ही करे परन्तु वह 'रूपवान् ही है' यह अवधारणा करके घड़े में रहने वाले अन्य रस, गन्ध आदि का प्रतिषेध नहीं कर सकता है। वह अपने अभिधेय को मुख्य रूप से कहे, यहां तक तो कोई हानि नहीं, लेकिन यदि वह इससे आगे बढ़कर अपने अभिधेय को ही सब कुछ मानकर शेष का निषेध करता है तो उसका ऐसा करना अनुचित है तथा वस्तुस्थिति का विपर्यास करना है। 'स्यात्' शब्द इसी अनौचित्य को रोकता है और न्याययुक्त उचित वचन पद्धति की सूचना देता है। वह प्रत्येक वाक्य के साथ अन्तर्गभित रहता है और गुप्त रहकर भी प्रत्येक वाक्य को मुख्य, गौण भाव से अनेकान्तात्मक अर्थ का प्रतिपादक बनाता है।

स्याद्वाद सुनय का निरूपण करने वाली विशिष्ट भाषा पद्धति है और उसमें स्यात् शब्द सुनिश्चित रूप से यह बताता है कि वस्तु केवल इसी धर्म वाली ही नहीं है, उसमें इसके अतिरिक्त भी अन्य अनेक धर्म विद्यमान हैं। वस्तु में विद्यमान अविवक्षित गुण, धर्मों के अस्तित्व की रक्षा 'स्यात्' शब्द करता है, 'स्यात् रूपवान् घट.' में स्यात् शब्द रूपवान के साथ नहीं जुड़ता है, क्योंकि रूप के अस्तित्व की सूचना तो 'रूपवान्' शब्द स्वय ही दे रहा है किन्तु अन्य विवक्षित शेष धर्मों के साथ उसका अन्वय है। जिससे वह 'रूपवान' शब्द को पूरे घड़े पर अधिकार जमाने से रोकता है और स्पष्ट करता है कि घड़ा सिर्फ रूपवान ही नहीं वरन् अन्य भी कई विभिन्न गुण-धर्मों का पिण्ड है, उसमें अनन्त धर्म है, जिनमे से रूप भी एक गुण, धर्म है। यह बात दूसरी है कि अभी तो रूप की विवक्षा होने से हमारी दृष्टि मे रूप मुख्य है और वही शब्द के द्वारा वाच्य बन रहा है लेकिन जब रस की विवक्षा करेंगे तब रस मुख्य बन जायेगा और रूप गौण। इस प्रकार समस्त शब्द गौण-मुख्य भाव से वस्तु के अनेक धर्मों के प्रतिपादक बनते हैं। स्यात् शब्द इसी सत्य को सदैव उद्घाटित करता रहता है।

'स्यात्' शब्द एक सजग प्रहरी है, जो उच्चरित धर्म को इधर-उधर नहीं जाने देता है। साथ ही अविवक्षित धर्मों के अधिकार का संरक्षक भी है। अतएव जो

लोग 'स्यात् रूपवान घटः' में 'स्यात्' का रूपवान के साथ अन्वय करके और उसका शायद, सम्भावना और कदाचित् अर्थ करके घट में रूप की स्थिति को संदिग्ध बनाने का प्रयास करते हैं, वे फलतः प्रगाढ़ अन्धकार में हैं।

इसी प्रकार 'स्यादस्ति घटः' वाक्य में स्यात् शब्द अस्तित्व की स्थिति को भी कमजोर नहीं बनाता है, किन्तु उसकी वास्तविक स्थिति को व्यक्त कर अन्य नास्ति आदि धर्मों के गौण सद्भाव का प्रतिनिधित्व करता है। वह सदैव यह ध्यान रखता है कि कहीं 'स्यादस्ति घटः' वाक्य में अस्ति नामक धर्म जिसे शब्द से उच्चरित होने के कारण प्रमुखता मिली है, समस्त वस्तु पर ही अधिकार न करले और अपने अन्य नास्ति आदि सहयोगियों के स्थान को समाप्त न कर दे। इस प्रकार का ध्यान रखने का कारण यह है कि प्राचीन काल से 'नित्य ही है', अनित्य ही है',[1] ऐसे अंश वाक्यों ने वस्तु पर पूर्ण अधिकार जमाकर अनधिकार चेष्टा की है और जगत में अनेक प्रकार के वितण्डा एवं संघर्ष उत्पन्न किये हैं। परिणामतः वस्तुस्वरूप के साथ तो अन्याय हुआ ही, साथ में इन वाद-प्रतिवाद ने अनेक कुमतवादों की सृष्टि करके असहिष्णुता, हिंसा आदि से विश्व को संघर्षपूर्ण अवस्था में डाल दिया है। 'स्यात्' शब्द ही इस स्थिति के निराकरण का अमोघ उपाय है, जिससे अहंकार, असहिष्णुता आदि का सर्वथा उन्मूलन हो जाता है।

स्यात् शब्द की स्थिति वाक्य में एक न्यायाधीश के समान है। जैसे 'स्यादस्ति घटः' वाक्य में जहाँ वह अस्तित्व धर्म की स्थिति को सुदृढ़ और सहेतुक बनाता है, वहाँ उसकी उस सर्वहरा प्रवृत्ति को नष्ट करने के लिए चेतावनी भी देता है कि तुम अपने अधिकार की सीमा को समझो। जिस प्रकार तुम स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव की अपेक्षा घट में विद्यमान हो, उसी प्रकार नास्ति धर्म भी पर-द्रव्य आदि की अपेक्षा घट में है। तुम पूरे पदार्थ पर ही आधिपत्य जमाने की चेष्टा मत करो। यह ठीक है कि अभी तुम्हारी अपेक्षा है, जिससे तुम्हारा कथन किया जा रहा है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि तुम अपने समानाधिकारी विभिन्न धर्मों को उपेक्षणीय बना दो या समाप्त करो। यदि घट में पट की अपेक्षा नास्तित्व न हो तो जिस घट में तुम रहे हुए हो वह घट, घट न रहकर वस्त्र आदि परपदार्थ रूप भी हो जायगा। अतएव अपनी स्थिति को समझने के लिए अन्य धर्मों की भी वास्तविक स्थिति को समझो। तुम दूसरे की उपेक्षा न कर सको, उसके अधिकार के स्वामी न बन जाओ, इसीलिए तुमसे पहले 'स्यात्' शब्द वाक्य में लगाया गया है।

---

१ सर्वं नित्यं सत्त्वात्। क्षणिके सदसत्कालयोरर्थक्रियाविरोधात् तल्लक्षणं सत्त्वं नावस्था बध्नातीत तो निवर्तमानमनन्यशरणतया नित्यत्वेऽवतिष्ठते। सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्। अक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधाद् अर्थक्रियाकारित्वस्य च भावलक्षणत्वात्, ततोऽर्थक्रिया व्यावर्तमाना स्वक्रोडीकृतां सत्तां व्यावर्तयेदिति क्षणिकसिद्धिः।
—स्याद्वाद मंजरी, श्लोक ६२

से नहीं हो सकता है। अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद उसका वाचक। स्याद्वाद भाषा की वह निर्दोष प्रणाली है, जिसके माध्यम से दूसरे के दृष्टिकोण का समादर किया जाता है, जो जीवन को सरस, सुन्दर और उदार बनाने का आधार है।

पदार्थ में अनेक धर्म होने से उसे अनेकान्तात्मक कहते हैं और प्रत्येक स्थिति मे पदार्थ अनेकान्त रूप ही सिद्ध होता है। इसलिए अनेकान्त भी प्रमाण और नय की दृष्टि से अनेकान्त अर्थात् कथंचित् अनेकान्त और कथंचित एकान्त रूप है। वह प्रमाण का विषय होने से अनेकान्त रूप है और नय का विषय होने से एकान्त रूप भी है।[1] यह अनेकान्त दो प्रकार का होता है—सम्यगनेकान्त और मिथ्यानेकान्त। परस्पर सापेक्ष अनेक धर्मों का सकल भाव से ग्रहण करना सम्यगनेकान्त है और परस्पर निरपेक्ष अनेक धर्मों का ग्रहण मिथ्या अनेकान्त है। अन्य सापेक्ष एक धर्म का ग्रहण सम्यगेकान्त है तथा अन्य धर्म का निषेध करके एक का अवधारण करना मिथ्या एकान्त है।

वस्तु मे सम्यग्एकान्त और सम्यग्-अनेकान्त ही मिल सकते हैं, मिथ्या अनेकात और मिथ्यैकान्त जो प्रमाणाभास और दुर्नय के विषय हैं वे केवल बुद्धिगत ही हैं, वैसी वस्तु बाह्य मे स्थित नही है। अतः एकान्त का, बुद्धिकल्पित एकान्त का ही निषेध किया जाता है। वस्तु मे जो एक धर्म है, वह स्वभावतः पर-सापेक्ष होने के कारण सम्यगेकान्त रूप होता है। तात्पर्य यह है कि अनेकान्त अर्थात् सकलादेश का विषय प्रमाणाधीन होता है और वह एकान्त की अर्थात् नयाधीन विकलादेश के विषय की अपेक्षा रखता है। अर्थात् प्रमाण और नय का विषय होने से अनेकान्त यानी अनेक धर्मवाला पदार्थ भी अनेकान्त रूप होता है। जब वह प्रमाण के द्वारा पूर्णरूपेण गृहीत होता है तब वह अनेकान्त-अनेक धर्मात्मक है और जब किसी विवक्षित नाम का विषय होता है तब एकान्त एक धर्म रूप है। उस समय शेष धर्म-पदार्थ मे विद्यमान रहकर भी दृष्टि के समक्ष नहीं होते हैं। दृष्टि के समक्ष न होने का अभिप्राय यह नही है कि पदार्थ में उन धर्मों का अस्तित्व-विद्यमानता नही है। इस प्रकार पदार्थ की स्थिति प्रत्येक प्रकार से अनेकान्त रूप ही सिद्ध होती है।

स्याद्वाद इसी अनेकान्तात्मक वस्तु का कथन करके उसके अस्तित्व एवं उन अनेक धर्मों की अभिव्यक्ति करता है।

स्याद्वाद का अपर नाम विभज्यवाद

स्याद्वाद के अनेकान्तवाद, सप्तभंगीवाद आदि नामों से तो प्रायः सभी परिचित हैं। लेकिन आगमों में 'विभज्यवाद' के नाम से स्याद्वाद का कथन देखने मे

---

१ अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्॥

—बृहत्स्वयंभूस्तोत्र

जाता है। सूत्रकृतांग में भिक्षु-साधु, मुनि के लिए विभज्यवादमयी भाषा के प्रयोग का निर्देश किया गया है। विभज्यवाद का अर्थ है सम्यक् प्रकार से अर्थों को विभक्त करके अपने विचार व्यक्त करना। विचार भाषा द्वारा व्यक्त किए जाते हैं अतः भाषा-समिति के सन्दर्भ में भिक्षु के लिये दिया गया निर्देश निम्न प्रकार है—

संकेज्ज याऽसंकितभाव भिक्खू,
विभज्जवायं च वियागरेज्जा।
भासादुयं धम्म समुट्ठितेहिं,
वियागरेज्जा समया सुपन्ने ॥

विभज्यवादं-पृथगर्थनिर्णयवादं व्यागृणीयात् यदि वा विभज्यवादः स्याद्वादस्तं सर्वत्रास्खलितलोकव्यवहारविसंवादितया सर्वव्यापिनं स्वानुभवसिद्धं वदेद् अथवा सम्यगर्थान् विभज्य-पृथक् कृत्वा तद्वादं वदेद्। तद्यथा—नित्यवाद द्रव्यार्थतया पर्यायार्थतया त्वनित्यवादं वदेद् तथा स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सर्वेऽपि पदार्थाः सन्ति पर-द्रव्यादिभिस्तु न सन्ति तथा चोक्तम्

सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादि चतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते।
इत्यादिकं विभज्यवादं वदेदिति।[1]

..........पदार्थों को अलग-अलग करके कथन करने अथवा स्याद्वाद को विभज्यवाद कहते हैं। यह स्याद्वाद कहीं भी धोखा नहीं खाता है तथा लोकव्यवहार से मिलता हुआ होने के कारण वह सर्वव्यापी है तथा वह स्वानुभव सिद्ध है। अतः उसका आश्रय लेकर बोले। अथवा पदार्थों को अच्छी रीति से पृथक् करके कहे। जैसे कि द्रव्यार्थिक नय से नित्यवाद कहे और पर्यायार्थिक नय से अनित्यवाद तथा स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से सभी पदार्थ अपना अस्तित्व रखते हैं और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अस्तित्व नहीं रखते हैं। इसीलिये कहा है—सभी पदार्थ स्व द्रव्य आदि चार की अपेक्षा से सत् ही हैं और पर द्रव्य आदि चार की अपेक्षा से असत् ही है। क्योंकि ऐसा नहीं मानने से पदार्थों की व्यवस्था नहीं बन सकती है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न दृष्टियों, अपेक्षाओं से पदार्थ की व्याख्या करें।

उक्त कथन का सारांश यह है कि तत्त्व चिन्तन और कथन के लिए वस्तु की यथार्थ स्थिति को ध्यान में रखना चाहिये। वस्तु सत् भी है और असत् भी है। इस कथन प्रक्रिया में वस्तु किस दृष्टि से कैसी है, विभाजन करके कथन करना चाहिये। स्याद्वाद भी तो इसी प्रकार का आपेक्षिक वर्गीकरण करके पदार्थ की यथार्थ स्थिति का दिग्दर्शन कराता है। जिससे वक्ता अपने आशय को स्पष्ट समझा सके और श्रोता भी उसके कथन का आशय सही रूप में समझ सके।

तथागत बुद्ध भी विभज्यवाद का आश्रय लेकर वस्तु कथन करने के पक्षपाती

---

1 सूत्रकृतांग १४।२२

थे। लेकिन उनका विभज्यवाद दो नकारों पर आधारित था और दोनों ही निरपेक्ष थे। क्योंकि उन्हें शाश्वतवाद से भी भय था और वे उच्छेदवाद से भी भयभीत थे। वह वस्तु को न तो शाश्वत कहते थे और न उच्छिन्न। सापेक्षवाद उन्हें स्वीकार नहीं था। यानी उनका विभज्यवाद विध्यात्मक न होकर निषेधात्मक था। बुद्ध प्रश्नों के उत्तर एकांश 'हां' 'ना' में न देकर अनेकांशिक रूप में देते थे और जिन प्रश्नों को उन्होंने अव्याकृत कहा है, उन्हें, अनेकांशिक भी कहा है।[1] जो प्रश्न व्याकरणीय हैं, उन्हें एकांशिक अर्थात् जिनका सुनिश्चित रूप में उत्तर हो सकता है—कहा है, जैसे कि 'दुःख आर्य सत्य है'। तथागत बुद्ध ने प्रश्न का व्याकरण विवेचन चार प्रकार का बताया है—एकांश व्याकरण, प्रति-पृच्छा व्याकरणीय प्रश्न, विभज्य व्याकरणीय प्रश्न और स्थापनीय प्रश्न।' इन चार व्याकरणों में विभज्य व्याकरणीय प्रश्न में एक ही वस्तु का विभाग करके उसका अनेक दृष्टियों से वर्णन किया जाता है। लेकिन यह विभज्यवाद भी अग्रिम स्पष्टीकरण किये बिना उसे सत्य नहीं मानता है। अर्थात् तथागत बुद्ध को स्वयं अपने कथन पर विश्वास नहीं है। वे वस्तु स्वरूप का कथन करते हैं, जैसा है वैसा बतलाते हैं, लेकिन निश्चय पर नहीं पहुँच पाते हैं और अपने कथन की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए अन्य के कथन की अपेक्षा रखते हैं। इस प्रकार उनका कथन सीमित है।

यद्यपि तथागत बुद्ध ने स्याद्वाद को शाश्वतवाद और उच्छेदवाद का संमिश्रण बनाकर परस्पर विरोध प्रदर्शित करने का प्रयास किया है लेकिन कतिपय अंशों में ही सही, उन्होंने स्याद्वाद की कथन प्रणाली को अपने वाग्व्यवहार का माध्यम बनाया है। जैन और बौद्ध दर्शन दोनों ने विभज्यवाद की दृष्टि अपनाई है, लेकिन बौद्ध दर्शन विभज्यवादी होकर भी एकांशिकवाद की ओर ही गया, जबकि जैनदर्शन का विभज्य-वाद सभी कथनों अथवा दृष्टिकोणों को कथंचित् रूप से सत्य मानकर उनका यथोचित स्थान निर्धारित करता है। अन्य दार्शनिकों ने भी तत्त्वदर्शन के लिये किसी-न-किसी रूप में स्याद्वाद शैली को अंगीकार किया है और उस रूप से विवेचन भी किया है, जिसका वर्णन यथास्थान आगे किया जा रहा है।

तथागत बुद्ध के विभज्यवाद का आधार लेकर उद्भट बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने माध्यमिक दर्शनवाद की स्थापना की है। उनके अनुसार 'विश्व की प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है। किसी भी वस्तु का अपना कोई नियत स्थान नहीं है। लेकिन मानवीय बुद्धि अपनी कल्पनाओं द्वारा विश्व, आत्मा, द्रव्य आदि के सम्बन्ध में विभिन्न वादों की रचना करती रहती है। वस्तु न तो स्वयं उत्पन्न होती है, न किन्हीं दूसरे हेतुओं से भी उत्पन्न होती है, और न दोनों से तथा न अहेतु से ही। जब वस्तु का उत्पाद ही

---

१ कतमे च पोट्ठपाद मया अनेकंसिका धम्मा देसिता पञ्ञत्ता ? सस्सतो लोको ति वा पोट्ठपाद मया अनेकंसिको धम्मो देसितो पञ्ञत्तो। असस्सतो लोको ति सो पोट्ठपाद मया अनेकंसिको·······।

—दीघनिकाय पोट्ठपाद सुत्त

नहीं तो उसका निज का कोई स्वरूप ही नहीं बन सकता है, इत्यादि।[1] इस प्रकार उन्होंने सर्ववादों का खंडन करके सर्वशून्यवाद की स्थापना की है।

एक ओर तो नागार्जुन उक्त दृष्टि प्रस्तुत करते हैं लेकिन दूसरी ओर स्वयं उन्होंने द्रव्य के बारे में निम्नलिखित चार कोटियों से विचार करने का भी पक्ष स्वीकार किया है—1. सद्वाद, 2. असद्वाद, 3. सदसद्वाद, 4. अनुभयवाद।[2] इन चारों का अभिप्राय यह है कि पदार्थ में अनेक धर्म हैं और उन धर्मों का स्पष्टकथन कम से कम सद्वाद आदि उक्त पक्षों द्वारा हो ही सकता है। जब पदार्थ चार कोटियों से युक्त है तब उसको शून्य कहना और उसके कथन का नाम शून्यवाद देना परस्पर विरुद्ध होता है। पदार्थ है और वह शून्य है अर्थात् नहीं है, यह दोनों बातें कैसे संभव हो सकती हैं?

इस प्रकार बौद्धदर्शन का विभज्यवाद और उसके आधार पर निसृत विचारधारायें अपने मूल उद्देश्य से विमुख होकर एकान्तवाद की ओर अग्रसर हो गईं।

स्याद्वाद और एकांतिक धारणायें

स्याद्वाद के लक्षण से यह भलीभांति स्पष्ट है कि उसके द्वारा एकांतवादों की मर्यादाओं का यथायोग्य मूल्यांकन करके समन्वय किया जाता है। यद्यपि एकांतिक दृष्टिकोण अनेक प्रकार के हैं। उन सबका वर्णन करना असम्भव है। फिर भी उनमें से कुछ एक के नाम इस प्रकार हैं—द्वैतैकान्त, अद्वैतैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, हेतुवाद, अहेतुवाद, अपेक्षावाद, अनपेक्षावाद, दैववाद, पुरुषार्थवाद आदि।

उक्त एकांतवादों या और दूसरे एकांतवादों की दृष्टि का उल्लेख करने के पूर्व उनकी उत्पत्ति के मूल कारण का विचार करना अपेक्षित है।

विश्व का विचार करने वाली परस्पर भिन्न मुख्य दो दृष्टियाँ हैं—एक सामान्यगामिनी और दूसरी विशेषगामिनी। पहली दृष्टि प्रारम्भ में तो सारे विश्व में समानता ही देखती है, परन्तु धीरे-धीरे अभेद की ओर झुकते-झुकते अन्त में निश्चय करती है कि जो कुछ प्रतीति का विषय है वह तत्त्व वास्तव में एक ही है। इस प्रकार समानता की भूमिका से प्रारम्भ हुई वह दृष्टि तात्विक एकता की भूमिका पर आकर ठहरती है। उस दृष्टि में जो विषय स्थिर होता है, वही सत् है। जिससे वह दृष्टि या तो भेदों को देख नहीं पाती या उन्हें देखकर भी वास्तविक न समझने के कारण व्यावहारिक या अपारमार्थिक अथवा बाधित कहकर छोड़ देती है। चाहे फिर वे प्रतीतिगोचर होने वाले भेद कालकृत हों या अन्य किसी देश भेदकृत हों।

---

1 दीघनिकाय 33 संगीति परियाय

2 नसद् नासद् न सदसत् न चानुभयात्मकम्।
चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥

—माध्यमिक कारिका 2।3

स्थिर वस्तुएँ क्यों दिखाई देती हैं ? सम्पूर्ण पदार्थ नित्य हैं—क्योंकि वे सत् हैं। जो नाश और उत्पन्न न होता हो और एक रूप से स्थिर रहे, उसे नित्य कहते हैं।[१] पदार्थ को क्षणिक मानने पर उनमें स्थिरता नहीं रह सकती है जिससे उनमें अर्थक्रिया नहीं हो सकती है। दूसरी बात यह है कि क्षणिक पदार्थ विद्यमान अवस्था में अर्थक्रिया करते हैं अथवा अविद्यमान अवस्था में ? क्षणिक पदार्थों में क्रम से अर्थक्रिया नहीं हो सकती है, क्योंकि क्षणिक पदार्थ अपने समकालवर्ती क्षणों को उत्पन्न नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि समकालीन पदार्थों में कार्य-कारणसम्बन्ध नहीं बनता है। कार्य-कारण भाव के लिये पूर्व और उत्तर क्षणों की आवश्यकता है। क्षणिक पदार्थ के अविद्यमान होने पर भी उसमें अर्थक्रिया नहीं हो सकती है, क्योंकि असत् पदार्थों में कार्यकारण सम्बन्ध नहीं बनता है, अन्यथा खरगोश के सींग आदि असत् पदार्थों से भी कार्य की उत्पत्ति होनी चाहिए। इसलिये पदार्थों को क्षणिक न मानकर नित्य ही स्वीकार करना चाहिए।

इस कथन के विपरीत अनित्यवादी कहता है कि वस्तु प्रति समय नष्ट होती है, वह कभी स्थिर नहीं रहती है। यदि नित्य हो तो जन्म, मरण, विनाश, अभाव, परिवर्तन आदि नहीं होना चाहिए, पदार्थों को नित्य मानने में क्रम से अथवा एक साथ अर्थक्रिया नहीं हो सकती है। अतएव नित्य पदार्थों में अर्थ-क्रिया न होने से वे सत् भी नहीं माने जा सकते हैं। दूसरी बात यह है कि नित्य पदार्थ में क्रम से अर्थक्रिया (प्रयोजन-भूतता) नहीं हो सकती है। क्योंकि एक स्वभाव को छोड़कर दूसरे स्वभाव को प्राप्त करनेवाले पदार्थों में ही कोई क्रिया होती है किन्तु नित्य पदार्थ अपना स्वभाव नहीं छोड़ सकते हैं और स्वभाव को छोड़ना नित्य पदार्थ के लिये सम्भव भी नहीं है। यदि नित्य पदार्थ में स्वभाव का छोड़ना सम्भव माना जाता है तो नित्य का लक्षण—जिसका नाश न होता हो, उत्पाद न होता हो और सदैव एकरूप रहता हो—नहीं बन सकता है। यदि सहकारी कारण मिलने से नित्य पदार्थ में अर्थक्रिया होना माना जाता है तो भी नित्य पदार्थ में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता है। यदि एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा सहकारी कारण मिलते रहने से नित्य पदार्थ अर्थक्रिया करता है तो यह क्रमिक सहकारी कारणों की परम्परा मानने से अनवस्था दोष का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। युगपत् भी नित्य पदार्थ अर्थक्रिया नहीं कर सकते हैं। क्योंकि अर्थक्रिया सदैव क्रम से होती है। यदि एक ही क्षण में अर्थक्रिया सम्पन्न होने की कल्पना की जाती है तो प्रथम क्षण में ही अर्थक्रिया सम्पन्न हो जाने पर दूसरे क्षण में कुछ भी करने के लिए शेष नहीं रहेगा और तब पदार्थ के निष्क्रिय हो जाने से अनित्यता ही माननी पड़ेगी। इसका कारण यह है कि एक पदार्थ में क्रिया और अक्रिया दोनों नहीं रह सकती हैं। इसलिए पदार्थों को क्षणिक अनित्य ही मानना चाहिये।

---

१ अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम्। —स्याद्वाद मंजरी, श्लोक ५ की व्याख्या

चौथा दृष्टिकोण है, सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद को स्वीकार करने का। सर्वथा भेदवादी अपना मन्तव्य प्रस्तुत करते हुए कहता है कि कार्य-कारण, गुण-गुणी, सामान्य और सामान्यवान आदि सर्वथा पृथक् पृथक् हैं, अपृथक् नहीं हैं। यदि अपृथक् हों तो एक दूसरे में अनुप्रवेश हो जाने से दूसरे का अस्तित्व टिक नहीं सकता है। इसके विपरीत सर्वथा अभेदवादी कहता है कि कार्य-कारण आदि सर्वथा अपृथक् हैं। क्योंकि यदि ये पृथक्-पृथक् हों तो जिसप्रकार पृथक् सिद्ध घट और पट में कार्य-कारण-भाव या गुण-गुणी भाव नहीं है, उसी प्रकार कार्यकारणरूप से अभिमतों अथवा गुणगुणीरूप से अभिमतों में कार्यकारणभाव और गुणगुणीभाव कदापि नहीं बन सकता है।

तीसरा अपेक्षैकान्त और अनपेक्षैकान्त का संघर्ष है। अपेक्षैकान्तवादी का मन्तव्य है कि वस्तु की सिद्धि अपेक्षा से होती है। यह तो सभी जानते हैं कि प्रमाण से ही प्रमेय की सिद्धि होती है, इसीलिये प्रमेय प्रमाणसापेक्ष है। यदि यह उसकी अपेक्षा न करे तो सिद्ध नहीं हो सकता है। इसके विरुद्ध अनपेक्षवादी का तर्क है कि सभी पदार्थ निरपेक्ष हैं। कोई भी किसी की अपेक्षा नहीं रखता है। सब पदार्थों का अस्तित्व अपनी स्थिति से है। यदि वे अपेक्षा रखें तो परस्पराश्रित होने से एक भी पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकेगा।

छठवां विरोध हेतुवाद और अहेतुवाद का है। हेतुवादी का कथन है कि हेतु-युक्ति से सब सिद्ध होता है, प्रत्यक्ष आदि से नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष से देख लेने पर भी यदि वह हेतु की कसौटी पर सही नहीं उतरता है तो कदापि ग्राह्य नहीं माना जा सकता है—युक्त्यायन्न घटमुपैति तदहं दृष्ट्वापि न श्रद्धे। हेतुवादी के उक्त दृष्टि-कोण के विपरीत अहेतु—आगमवादी कहता है कि आगम से प्रत्येक वस्तु का निर्णय होता है। यदि आगम से वस्तु का निर्णय न माना जाये तो हमें ग्रहोपरागादि का कभी ज्ञान नहीं हो सकता है। क्योंकि उसमें हेतु का प्रवेश नहीं है।

सातवाँ संघर्ष दैव और पुरुषार्थ का है। दैववादी का मत है कि सब कुछ दैव (भाग्य) से होता है। भाग्य द्वारा लिखे गये लेखों को कोई नहीं मिटा सकता है। जैसा कि एक कवि ने कहा है—

> भाग्यं फलति सर्वत्र, न विद्या न च पौरुषम् ।
> समुद्रमथनाल्लेभे हरिर्लक्ष्मीं हरो विषम् ॥

—सब जगह भाग्य ही फलता है, विद्या और पुरुषार्थ नहीं, जैसे कि समुद्र का मंथन करने से भाग्यानुसार हरि (विष्णु) को लक्ष्मी और हर (महादेव) को विष प्राप्त हुआ है।

इसीलिए कहा गया है कि जिस निमित्त से जिसके द्वारा, जिस प्रकार, जिस समय, जो जितना एवं जहाँ अपने शुभाशुभ कर्म का फल मिलना होता है, उसी निमित्त से, उसी के द्वारा, उसी प्रकार उसी, समय उतना ही एवं वहीं भाग्यवश

मिल जाता है। इसके विपरीत पुरुषार्थवादी का कथन है कि पुरुषार्थ से ही सब कुछ प्राप्त होता है। जिस प्रकार भाग्यवश प्राप्त हुआ भोजन भी भाग्य के भरोसे रहने वाले व्यक्ति के मुख में प्रविष्ट नहीं होता है, किन्तु हस्तसंचालन आदि पुरुषार्थ द्वारा ही प्रविष्ट होता है। इसीलिए कहा गया है-

दैवपुरुषायत्तम्।

भाग्य उद्यम (पुरुषार्थ) के अधीन है। उद्यम से ही कार्य सिद्ध होते हैं, मनोरथ मात्र से नहीं। जो होनहार है, वही होगा — यह कायर व्यक्तियों का कायरों के लिए कथन है।

इसीप्रकार के अन्यान्य एकान्तिक विचार और उनके लिए कुछ कदाग्रह, दुराग्रह आदि विभिन्न दार्शनिकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत किये हैं। वे अपने दृष्टिकोणों को अपनी-अपनी समर्थक युक्तियों प्रमाणों द्वारा स्पष्ट भी करते हैं, किन्तु दूसरे के दृष्टिकोण को समझने और उनका समन्वय करने का प्रयास नहीं कर पाते हैं। लेकिन स्याद्वाद इन तथा इन जैसे अन्य एकान्तिक दृष्टिकोणों को समझने का प्रयत्न करने के साथ-साथ समन्वय का मार्ग भी सुझाता है। स्याद्वाद ने अपनी 'सप्तभंगात्मक कथन प्रणाली' के माध्यम से एक ऐसी अभिनव विचार एवं वाग् व्यवहार की शैली व्यक्त की है कि जिसके द्वारा सभी एकान्तवादियों का उपसंहारपूर्वक समन्वय करते हुए उनके कथन की प्रामाणिकता का स्तर भी निर्धारित हो जाता है।

सर्वथा भावात्मक और सर्वथा अभावात्मक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में स्याद्वाद अपने मंतव्य को प्रस्तुत करते हुए बतलाता है कि वस्तु को कथंचित् (अपेक्षा दृष्टि से) भावरूप और कथंचित् अभावरूप मानना चाहिए। सर्वथा, सब प्रकार से केवल भावरूप मानने पर प्रागभाव प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव इन अभावों का लोप हो जायेगा और इनके लोप होने पर वस्तु क्रमशः अनादि, अनन्त, सर्वात्मक और स्वरूपहीन हो जायगी। अर्थात् प्रागभाव न मानने से वस्तु अनादि, प्रध्वंसाभाव न मानने पर अनन्त, अन्योन्याभाव न मानने से सर्वात्मक और अत्यन्ताभाव को स्वीकार न करने पर स्वरूपहीन हो जायगी। अतः ये अभाव सर्वथा भावात्मक वस्तु में न होकर वस्तु को कथंचित् भाव भावात्मक मानने पर ही सिद्ध हो सकते हैं। वस्तु में उनकी सिद्धि इसी प्रकार से होती है।

प्रागभाव—कोई भी कार्य अपनी उत्पत्ति से पहले 'असत्' होता है। वह अपने योग्य कारणों से उत्पन्न होता है। कार्य का उत्पत्ति के पहले न होना ही प्रागभाव कहलाता है और यह अभाव भावान्तर रूप—पर्याय से पर्यायान्तर रूप होता है। यह तो निश्चित ही है कि किसी द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती है। द्रव्य तो अनादि अनन्त हैं। उनकी संख्या न तो कम होती है और न अधिक उत्पाद द्रव्य का न होकर पर्याय का होता है। द्रव्य अपने द्रव्य रूप से कारण होता है और पर्याय रूप से कार्य। जो पर्याय उत्पन्न होने जा रही है। वह उत्पत्ति के पहले पर्याय रूप में

तो नहीं है अतः उसका जो यह अभाव है वही प्रागभाव है। यह प्रागभाव पूर्व पर्याय रूप से होता है, अतः घड़ा पर्याय जब तक उत्पन्न नहीं हुई, तब तक वह असत् है और जिस मिट्टी द्रव्य से वह उत्पन्न होने वाली है, उस द्रव्य की घट से पहले की पर्याय घट का प्रागभाव कही जाती है। यानी वही पर्याय नष्ट होकर घट बनती है। अतः वह पर्याय घट का प्रागभाव है। इस प्रकार पूर्व पर्याय ही उत्तर पर्याय की प्रागभाव है। सन्तान-परम्परा से यह प्रागभाव अनादि भी कहा जा सकता है। जैसे पूर्व पर्याय का प्रागभाव तत्पूर्व पर्याय है तथा तत्पूर्व पर्याय का प्रागभाव उससे भी पूर्व की पर्याय होगा। इस प्रकार सन्तुतिक्रम की दृष्टि से यह अनादि होता है।

प्रागभाव कार्य-पर्याय का माना जाता है। यदि कार्य पर्याय का प्रागभाव न माना जावे तो कार्यपर्याय (वर्तमान पर्याय) अनादि हो जायगी और द्रव्य में त्रिकाल-वर्ती सभी पर्यायों का एक काल में प्रकट सद्भाव मानना होगा जोकि सर्वथा प्रतीति विरुद्ध है।

प्रध्वंसाभाव—द्रव्य का विनाश नहीं होता है, वरन् पर्याय का होता है। अतः कारणपर्याय का नाश कार्यपर्याय रूप होता है। कारण नष्ट होकर कार्य बनता है। कोई भी विनाश सर्वथा अभाव रूप न होकर उत्तर पर्याय रूप होता है। जैसे घट पर्याय नष्ट होकर कपालपर्याय बनती है, अतः घट का विनाश कपाल रूप ही फलित होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि पूर्व पर्याय का विनाश उत्तर पर्याय की उत्पत्ति रूप होता है। यदि प्रध्वंसाभाव न माना जाये तो सभी पर्यायें अनन्त हो जायेंगी, यानी वर्तमान क्षण में अनादि काल से अब तक हुई सभी पर्यायों का सद्भाव अनुभव में आना चाहिए, जो कि असम्भव है। वर्तमान में तो एक ही पर्याय अनुभव में आती है।

यह शंका भी गलत है कि 'घट का विनाश यदि कपालरूप है तो कपाल का विनाश होने पर यानी घट के विनाश का नाश होने पर फिर से घड़े की उत्पत्ति हो जानी चाहिए। क्योंकि विनाश का विनाश तो सद्भाव रूप होता है।' इसका हेतु यह है कि कारण का उपमर्दन करके तो कार्य उत्पन्न होता है, परन्तु कार्य का उपमर्दन करके कारण नहीं, उपादान का उपमर्दन होने पर उपादेय की उत्पत्ति ही सर्वजन-सिद्ध है।

प्रागभाव व प्रध्वंसाभाव में अन्तर—प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव में उपादान-उपादेयभाव है। यानी प्रागभाव पूर्वपर्याय है और प्रध्वंसाभाव उत्तरपर्याय। प्रागभाव का नाश होकर प्रध्वंस उत्पन्न होता है किन्तु प्रध्वंस का नाश करके प्रागभाव पुनरुज्जीवित नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि जिस पर्याय का नाश हो गया, वह नष्ट ही हो गई। नाश अनन्त है। जो पर्याय गई सो गई, अनन्तकाल के लिए गई, पुनः प्रत्यावर्तित नहीं होती है, यह एक ध्रुव नियम है। यदि प्रध्वंसाभाव नहीं माना जाये तो कोई भी पर्याय नष्ट नहीं होगी, सभी पर्यायें अनन्त हो जायेंगी।

को सर्वथा भावात्मक मानने पर प्रागभाव आदि नहीं बन सकते हैं, किंतु वस्तु को भावाभावात्मक मानने पर इन अभावों का यथार्थ आशय फलित हो जाता है।

यदि वस्तु सर्वथा अभावात्मक ही मानी जायेगी यानी सर्वथा शून्य हो, तो अभाव के साधक ज्ञान और वचन रूप प्रमाण का भी अभाव हो जायेगा। तब अभावात्मक तत्त्व की प्रतीति कैसे होगी ? दूसरे को कैसे समझाया जायेगा ? स्व-प्रतिपत्तिका साधन है ज्ञान और पर-प्रतिपत्ति का उपाय है वचन। इन दोनों के अभाव में स्व-पक्ष का साधन और पर-पक्ष का दूषण कैसे हो सकेगा ? अतएव सर्वथा अभावैकान्त मानना एकान्तवादियों के लिए भी सम्भव नहीं है और अवाच्यैकांत तो अवाच्य होने से ही अयुक्त है।

इस प्रकार विचार करने पर लोक का प्रत्येक पदार्थ भावाभावात्मक प्रतीत होता है। प्रत्येक वस्तु कथंचित् स्व-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अस्तित्व—भाव रूप है और कथंचित् पर-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से नास्तित्व-अभाव रूप है। इस तरह उसमें अपेक्षा भेद से दोनों विधि-निषेध धर्म विद्यमान है। समस्त पदार्थों की स्थिति इसी प्रकार की है। अतः स्वरूप की अपेक्षा से भाववादी का कथन है कि वस्तु भावात्मक है—सत्य है और पर-रूप की अपेक्षा से अभाववादी का कथन कि वस्तु अभावात्मक है—सत्य माना जायेगा। लेकिन इन दोनों के लिए यह आवश्यक है कि दोनों अपने-अपने एकाताग्रह को छोड़कर परस्पर एक-दूसरे का दृष्टिकोण समझें और उसका आदर करें।

वस्तु के एक और अनेक विषयक संघर्ष का समाधान करते हुए स्याद्वाद अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है कि वस्तु (सर्व पदार्थ-समूह) सत् सामान्य (सत् रूप) से तो एक है और द्रव्यों के पृथक्-पृथक् नामकरण के भेद से अनेक रूप है। यदि उन सबको एक (अद्वैत) मान लिया जाये तो प्रत्यक्षदृष्ट कार्यकारण का भेद लुप्त हो जायेगा। क्योंकि एक ही स्वयं उत्पाद्य और उत्पादक दोनों नहीं बन सकता है। उत्पाद्य और उत्पादक दोनों अलग-अलग होते हैं। इसी प्रकार यदि वस्तु सर्वथा एक ही हो तो सन्तान-(पर्यायों और गुणों में अनुस्यूत रहने वाला एक द्रव्य समुदाय) साधर्म्य और प्रेत्य भाव आदि कुछ नहीं बन सकेंगे। अतएव दोनों एकातों का समुच्चय ही वस्तु है।

दूसरी बात यह है कि वस्तु को सर्वथा एक या अनेक मानना सम्भव नहीं है। दो द्रव्य व्यवहार के लिए ही एक कहे जा सकते हैं किंतु वस्तुतः दो पृथक् स्वतन्त्र सिद्ध द्रव्य एक सत्ता वाले नहीं कहे जा सकते हैं। जैसे पुद्गल द्रव्य में अनेक परमाणु जब स्कन्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं तब उनमें ऐसा मिश्रण होता है जिससे वे अमुक काल तक एकसत्ताक जैसे प्रतीत होते हैं, वास्तव में तो वे अनेक हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक द्रव्य का विचार करते समय द्रव्य दृष्टि से उसे एक मानना पड़ेगा और गुण, पर्यायों की दृष्टि से अनेक। हम अपनी मनुष्य अवस्था को लें। इस एक मनुष्य-अवस्था

कृतप्रणाशाकृतकर्मभोग भव-प्रमोक्षस्मृतिभंगदोषान् ।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभंगमिच्छन्नहो महासाहसिकः परस्ते ।[१]

—आपके प्रतिपक्षी क्षणिकवादी क्षणिकवाद को स्वीकार करके किए हुए कर्मों के फल को न भोगना, अकृत कर्मों के फल को भोगने के लिए बाध्य होना, परलोक का नाश, मुक्ति का नाश तथा स्मरण-शक्ति का अभाव, इन दोषों की उपेक्षा करके अपने सिद्धान्त—क्षणिकवाद को स्थापित करने का महान साहस करते हैं। यह बहुत बड़े आश्चर्य की बात है।

इसलिये यदि हिंसा का अभिप्रायवाला ही हिंसा करता है और वही हिंसक, हिंसा के फल को भोगता एवं उससे मुक्त होता है आदि की सुसंगति बैठाने के लिए वस्तु को द्रव्य-पर्याय रूप-नित्यानित्य रूप स्वीकार करना चाहिये। पदार्थों में परिवर्तन के साथ ही साथ उसकी मौलिकता तथा अनादि-अनन्त रूप द्रव्यत्व का आधारभूत ध्रुवत्व भी स्वीकार करना चाहिए।

ध्रुवत्व को स्वीकार किये बिना द्रव्य की मौलिकता सुरक्षित नहीं रह सकती है। अतः प्रत्येक द्रव्य अपनी अनादि-अनन्त धारा में प्रतिक्षण सदृश-विसदृश आदि-आदि अनेक रूप परिणमन करता हुआ भी कभी समाप्त नहीं होता है। उसका समूलोच्छेद या विनाश नहीं होता। जैसे आत्मा को मोक्ष हो जाने पर भी उसकी समाप्ति नहीं हो जाती, किन्तु वह अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिर हो जाती। तब उस समय उसमें वैभाविक—राग-द्वेष आदि रूप परिणमन न होकर द्रव्यगत उत्पाद-व्यय स्वरूप के कारण स्वभाव-सदृश परिणमन सदा होते रहते हैं। उसका यह परिणमन चक्र कभी रुकता नहीं है और न वह आत्म-द्रव्य कभी समाप्त होता है। यही बात पुद्‌गल आदि द्रव्यों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए कि वे प्रतिक्षण परिणमनशील होने से अनित्य होकर भी द्रव्यत्व के कारण नित्य हैं। अतः प्रत्येक द्रव्य नित्यानित्यात्मक है।

हम अपने को ही देखें। हम स्वयं अपनी बाल, युवा, वृद्ध आदि अवस्थाओं में परिवर्तित हो रहे हैं। फिर भी हमारा एक ऐसा अस्तित्व तो है ही जो इन सब परिवर्तनों में हमारी एकरूपता रखता है। जब वस्तुस्थिति इस तरह परिणामी नित्य की है तब यह शंका निर्मूल है कि जो नित्य है वह अनित्य कैसे ? क्योंकि परिवर्तनों के आधारभूत पदार्थ को सन्तान-परम्परा उसके अनाद्यनन्त सत्व के बिना नहीं बन सकती है। यह सत्व की स्थिति उसकी नित्यता है जो अनन्त परिवर्तनों के होते रहने पर भी वस्तु को समाप्त नहीं होने देती है और वह वस्तु अपने अतीत के संस्कारों को लेती हुई वर्तमान में आती है तथा भविष्य के प्रत्येक क्षण को वर्तमान बनाती हुई अतीत की ओर गतिमान रहती है। किन्तु इस प्रकार से करती हुई भी वह कभी रुकती नहीं है उसका नाश नहीं होता है।

---

१ स्याद्‌वाद मंजरी श्लोक १८

किसी ऐसे काल की भी कल्पना नहीं की जा सकती है जो स्वयं अन्तिम हो और उसके पश्चात् दूसरा काल आने वाला न हो। काल के समान ही अन्य सभी जड़-चेतन पदार्थों में से कोई एक या सभी कभी निर्मूल हो जायेंगे, ऐसी भी कल्पना नहीं हो सकती है। अमुक क्षण में अमुक पदार्थ की अमुक अवस्था होगी, इस प्रकार के परिवर्तन को भले ही निश्चित रूप से बुद्धि न जान पाये, लेकिन उसे इतना तो स्पष्ट भान होता है कि भविष्य के प्रत्येक क्षण में पदार्थ का कोई न कोई परिवर्तन अवश्य होगा। जब प्रत्येक पदार्थ अपने सत्व से मौलिक रूप में है तब उसकी समाप्ति हो ही नहीं सकती है। अतएव प्रत्येक सचेतन, अचेतन पदार्थ परिणामीनित्य है, प्रतिक्षण नित्यानित्यात्मक है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। पर्याय का प्रतिक्षण परिवर्तनशील स्वभाव होने से उत्पाद-व्यय रूप स्थिति के कारण अनित्य है। वर्तमान में जो पर्याय है, वह अतीत की पर्याय का विनाश करके अस्तित्व में आई है और उत्तर पर्याय को उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जायेगी। लेकिन अतीत के व्यय और वर्तमान के उत्पाद इन दोनों में द्रव्य रूप से ध्रुवता है, नित्यता है। इस बात को जैनदर्शन ने तो स्वीकार किया ही है, अन्य दार्शनिकों ने भी इसका समर्थन किया है।

भेदैकान्त और अभेदैकान्त को न मानकर वस्तु को भेदाभेदात्मक मानने के सम्बन्ध में स्याद्वाद का मन्तव्य है कि गुण और गुणी में, सामान्य और सामान्यवान में, अवयव और अवयवी में, कारण और कार्य में सर्वथा भेद मानने से गुण-गुणीभाव आदि नहीं बन सकते हैं तथा सर्वथा अभेद मानने पर भी यह गुण है और यह गुणी है आदि व्यवहार नहीं हो सकता है। गुण यदि गुणी से सर्वथा भिन्न है तो अमुक गुणी से ही नियत सम्बन्ध कैसे निश्चित किया जा सकता है ? यदि अवयवी अवयवों से सर्वथा भिन्न है तो वह अवयवी अपने अवयवों में सर्वात्मना रहता है या एकदेश से ? यदि सर्वात्मना रहता है तो जितने अवयव हैं उतने अवयवी मानने होंगे। यदि एकदेश से तो जितने अवयव है उतने प्रदेश उस अवयवी को स्वीकार करने होंगे। इस प्रकार सर्वथा भेद-पक्ष में अनेक दूषण आते हैं। अत. तत्त्व को कथंचित् भेदाभेदात्मक मानना चाहिए। जो द्रव्य है, वही अभेद है और जो गुण-पर्याय हैं वही भेद है। जिस प्रकार दो पृथक् सिद्ध द्रव्यों में अभेद काल्पनिक है, उसी प्रकार एक द्रव्य का अपने गुण और पर्यायों में भेद मानना भी समझने और समझाने के लिए है। गुण और पर्यायों के अभाव में द्रव्य का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं बन सकता है।

इसी प्रकार सदेकान्त और असदेकान्त के बारे में स्याद्वाद का दृष्टिकोण है कि प्रत्येक द्रव्य का अपना असाधारण स्वरूप होता है। उसका निजी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव होता है, जिसमें उसकी सत्ता सीमित रहती है। विचार करने पर क्षेत्र, काल और भाव अन्ततः द्रव्य की असाधारण स्थिति रूप ही हैं। यह द्रव्य आदि भाव पर्यन्त चतुष्टयस्वरूप चतुष्टय कहलाता है। प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूपचतुष्टय से सत् होता है और पर-रूप चतुष्टय से असत्। यदि स्वरूपचतुष्टय की तरह पर-रूप

चतुष्टय से वस्तु को सत् मान लिया जाये तो स्व और पर में कोई भेद ही नहीं रहेगा और सबको सर्वात्मकता का प्रसंग प्राप्त होगा। यदि पर-रूप की तरह स्वरूप से भी असत् हो जाये तो स्वरूपहीनता से अभावात्मकता को स्वीकार करना होगा। अतः लोक की प्रतीतिसिद्ध व्यवस्था के लिए प्रत्येक पदार्थ को स्वरूप से सत् और पर-रूप से असत् मानना ही चाहिए। यह सदसदात्मकता की व्यवस्था द्रव्य की तरह पर्याय में भी होती है। क्योंकि वे पर्यायें भी अपने द्रव्य, अपने क्षेत्र, अपने काल और अपने भाव तथा अपने असाधारण निज धर्म की अपेक्षा से सत् है और पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल एवं पर-भाव की अपेक्षा से असत् है। कोई भी वस्तु इस सदसदात्मकता की अपवाद नहीं हो सकती है।

अन्यान्य ऐकान्तिक दृष्टिकोणों के लिए भी इसी तरह समझ लेना चाहिए और उन एकान्तवादियों को अपने एकान्तिक आग्रहों को छोड़कर दूसरे की दृष्टि को भी समझना एवं अपनाना चाहिए। स्याद्वाद ने अपनी स्यात् मूलक कथन प्रणाली के द्वारा उन सभी उपस्थित संघर्षों का शमन किया है जो समन्वय के अभाव में परस्पर विरोधी बनकर विषाक्त चिन्तन का वातावरण निर्मित कर रहे थे। एकान्तिक धारणाओं के बारे में स्याद्वाद का स्पष्ट कथन है कि भाव-अभाव, एक-अनेक नित्य-अनित्य, सत्-असत् आदि जो भी दृष्टिभेद अथवा वैचारिक संघर्ष हैं वे सर्वथा मानने से दुष्ट (विरोध आदि दोष युक्त) होते हैं और स्यात्, कथंचित्, अपेक्षा विशेष से मानने पर पुष्ट होते हैं—वस्तु स्वरूप एवं सद्विचारों का पोषण करते हैं। अतएव जैनदर्शन में इन एकान्तिक दृष्टियों का तिरस्कार नहीं किया गया है, लेकिन उन-उनका स्थान नियत करने के लिए सर्वथा नियम के त्याग हेतु अन्य दृष्टि की अपेक्षा रखने वाले स्यात् शब्द के प्रयोग अथवा स्यात् की मान्यता को स्थान दिया है। इन एकान्तदृष्टियों को नय के रूप में माना है, जो अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए भी दूसरे की दृष्टि की उपेक्षा नहीं करती हैं। इसीलिए निरपेक्ष नयों (वचन-प्रणाली) को मिथ्या और सापेक्ष नयों को सम्यक् बताया गया है।

स्याद्वाद और नयों का पारस्परिक क्या सम्बन्ध है और नयों का वाच्य आदि क्या है इसके बारे में यथास्थान आगे विचार किया जायगा।

स्याद्वाद की आचार-दृष्टि

तात्विक चिन्तन कथन की तरह व्यावहारिक क्षेत्र में भी स्याद्वाद अनेकान्त-वाद का आश्रय ग्रहण करना ही कल्याणकर है। क्योंकि एकान्त आग्रह संक्लिष्ट मनोदशा का परिणाम है, उससे कर्मबन्ध होता है जबकि अनेकान्त दृष्टि में आग्रह या संक्लेश नहीं है। इसलिए यह अहिंसा है। अहिंसा से कर्मबन्ध नहीं होता है। साधक को उसी का प्रयोग करना चाहिये। एकान्त-दृष्टि से व्यवहार भी नहीं चलता है, इसलिए उसको स्वीकार करना अनाचार है। लेकिन अनेकान्तदृष्टि से व्यवहार का लोप नहीं होता है, इस कारण उसको स्वीकार करना आचार है। इन

आचार और अनाचार विषयक अनेक बातों का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने बताया है —

"विवेकी पुरुष इस जगत को शाश्वत और अशाश्वत जानकर इसे एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य न माने। क्योंकि एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य इन दोनों पक्षों से जगत का व्यवहार नहीं चल सकता है। इसलिए इन दोनों एकान्त पक्षों के आश्रय को अनाचार जानना चाहिए।

सर्वज्ञ भगवान के शासन को मानने वाले भव्य जीव जब सिद्ध हो जायेंगे तब यह जगत भव्य जीवों से रहित हो जायगा। सभी प्राणी परस्पर [illegible] हैं? तथा सभी प्राणी कर्मबन्ध से युक्त ही रहेंगे आदि कथन अनाचार है।

इस जगत में क्षुद्र-जन्तु आदि छोटे प्राणी हैं और हाथी, घोड़े आदि महाकाय वाले प्राणी हैं। इन दोनों की हिंसा से समान पाप है अथवा समान पाप नहीं है, यह अनाचार है। किन्तु हिंसा से बंध की दृष्टि से सादृश्य भी है और बंध कारणों की तीव्रता, मन्दता, ज्ञानभाव, अज्ञान भाव आदि की दृष्टि से असमानता भी है, यह मानना आचार है।

आधाकर्मी आहार आदि लेने से साधु कर्म से लिप्त होते ही हैं या नहीं ही होते हैं—यह मानना अनाचार है। लेकिन शास्त्र सम्मत आधाकर्मी आहार आदि के ग्रहण से लिप्त होते हैं और शुद्ध नीति व्यवहार से शुद्ध जानकर ग्रहण किये हुए आहार आदि से लिप्त नहीं होते हैं— यह मानना आचार है।

औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण ये पाँचों शरीर भिन्न ही हैं अथवा अभिन्न ही हैं—यह मानना अनाचार है। किन्तु इन शरीरों की वर्गणायें अलग-अलग हैं, इस दृष्टि से भिन्न भी हैं और एक देश-काल में उपलब्ध होते हैं अतः अभिन्न भी है—यह मानना आचार है।

सर्वत्र वीर्य है, सब-सब जगह है, सर्व सर्वात्मक है, कारण में कार्य का सद्भाव है या सब में सबकी शक्ति नहीं है, कारण में कार्य का सर्वथा अभाव है—यह मानना अनाचार है किन्तु अस्तित्व आदि सामान्य धर्मों की अपेक्षा पदार्थ एक सर्वात्मक भी है और कार्य, विशेष, गुण आदि की अपेक्षा असर्वात्मक, भिन्न भी है। कारण में कार्य का सद्भाव भी है और असद्भाव भी है—यह मानना आचार है।

कोई पुरुष कल्याणवान ही है या पापी ही है, जगत दुःखरूप ही है या सुखरूप है—यह नहीं कहना चाहिये। क्योंकि एकान्ततः कोई भी व्यक्ति कल्याणवान या पापी नहीं हो सकता है तथा मध्यस्थ दृष्टि वाले इस जगत में सुखी भी होते हैं।

इसी प्रकार लोक-अलोक, जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर,

नो छायए नो वि य लूसएज्जा माणं न सेवेज्ज पगासणं च ।
न यावि पन्ने परिहास कुज्जा न या सियावाय वियागरेज्जा ॥

उक्त गाथा मे आगत 'न या सियावाय' अंश का टीकाकारों ने 'न चाशीर्वाद' ऐसा संस्कृत प्रतिरूप दिया है। किन्तु प्रा. उपाध्ये के मत से वह 'न चास्याद्वाद' यह रूप होना चाहिए। इस रूप के बनने के बारे में उनका कथन है कि आचार्य हेमचन्द्र के नियमों के अनुसार 'आशिषु' शब्द का प्राकृत रूप 'आसी' होना चाहिए। स्वयं हेमचन्द्राचार्य ने 'आसिया'[1] ऐसा एक दूसरा रूप दिया है और स्याद्वाद के लिये प्राकृत रूप 'सियावाओ'[2] दिया है। यदि इस 'सियावाओ' शब्द पर ध्यान दिया जाये तो गाथागत 'न यासियावाय' पद से अस्याद्वाद वचन के प्रयोग का ही निषेध मानना ठीक होगा। क्योंकि यदि टीकाकार के अनुसार आशीर्वाद वचन के प्रयोग का निषेध माना जाये तो कथानकों मे 'धर्म-लाभ' रूप जो आशीर्वाद वचन का प्रयोग मिलता है, वह असंगत माना जायेगा। प्रा० उपाध्ये के उक्त तर्क के प्रति आगमज्ञ विद्वानों को विचार करना चाहिए, जिससे सूत्रगत गाथा के पद और टीकाकार के दृष्टिकोण का आशय स्पष्ट किया जा सके।

इस प्रकार आगमो मे 'स्याद्वाद' इस पूरे शब्द के अस्तित्व के विषय में टीकाकार और प्रा० उपाध्ये के बीच दृष्टिकोण भेद हो सकता है, लेकिन 'स्यात्' शब्द के अस्तित्व के बारे मे तो विवाद को कोई स्थान ही नही है। भगवती सूत्र में 'स्यात्' शब्दांकित वाक्यों द्वारा वस्तु और उसके नाना धर्मों का समन्वय किया गया है। इस लिये स्यात् शब्द के प्रयोग के कारण जैन आगमो मे स्याद्वाद का अस्तित्व सिद्ध ही मानना चाहिए। (आगमिक स्याद्वाद के रूप का अन्यत्र कथन किया गया है।)

स्याद्वाद : संशयादि दोषों का परिहार

स्याद्वाद का क्या अर्थ है और उसका दार्शनिक क्षेत्र में कितना महत्त्व है? यह दिखाने का यथासम्भव प्रयत्न किया है। लेकिन स्याद्वाद के वास्तविक अर्थ से अपरिचित बड़े-बड़े दार्शनिक भी अज्ञानवश या जानकर उस पर मिथ्या आरोप लगाने से नही चूके हैं। उदाहरणार्थ, धर्मकीर्ति ने स्याद्वाद को पागलों का प्रलाप कहा है।[3] शान्तरक्षित ने भी इसी बात को दुहराया है। स्याद्वाद जोकि सत् और असत् एक और अनेक, भेद और अभेद, सामान्य और विशेष जैसे परस्पर विरोधी तत्वों को मिलाना है, वह पागल व्यक्ति की बौखलाहट है।[4] शंकराचार्य का तो स्याद्वाद के प्रति दोषारोपण करना सुविदित ही है। उन्होंने अपने भाष्य में कहा है कि एक ही

---

१ प्राकृत व्याकरण ८।२।१७४
२ वही २।२।१०७
३ प्रमाणवार्तिक १।१८२-१८५
४ तत्व संग्रह ३११-३२७

श्वास उष्ण और शीत नहीं हो सकता है। भेद और अभेद, नित्यता और अनित्यता, यथार्थता और अयथार्थता, सत् और असत्, अन्धकार और प्रकाश की तरह एक ही काल में एक ही वस्तु में नहीं रह सकते हैं।[१] इस प्रकार के अनेक आरोप स्याद्वाद पर लगाये जाते हैं, जिनका यहाँ निराकरण किया जा रहा है।

स्याद्वाद द्वारा प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य रूप परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मों को किसी अपेक्षा से ही वस्तु में प्रतिपादित किया जाता है। जिस प्रकार सचेतन और अचेतन पदार्थों के अस्तित्व और नास्तित्व में परस्पर कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार विधि और निषेध रूप अवक्तव्य का भी अस्तित्व और नास्तित्व से विरोध नहीं है। अथवा अवक्तव्य का वक्तव्य के साथ कोई विरोध नहीं है। जब स्याद्वाद के अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य इन तीन मूल भंगों में परस्पर कोई विरोध नहीं आता है तो शेष भंगों में भी कैसे विरोध आ सकता है।

इतना स्पष्ट होने पर भी स्याद्वाद को सत्य के पहचानने की समग्र दृष्टि के रूप में न लेकर अर्ध सत्य या अपूर्ण सत्य की प्राप्ति का साधन आदि मानने का निर्णय घोषित करते हुए कुछ विद्वान स्यादस्ति, स्यान्नास्ति आदि कथन प्रणाली में विरोध, वैयधिकरण, अनवस्था, संकर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति और विषय-व्यवस्थाहानि, इन दोषों का आरोपण करके छल मात्र कह देते हैं।

उनकी दोषारोपण करने की प्रक्रिया का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है—

(१) जिस प्रकार शीत और उष्ण में विरोध है, उसी प्रकार अस्तित्व और नास्तित्व में भी परस्पर विरोध है। इसलिये जहाँ पदार्थ का अस्तित्व गुण है, वहाँ उस पदार्थ का नास्तित्व गुण नहीं रह सकता है और जहाँ पदार्थ का नास्तित्व गुण है वहाँ उसका अस्तित्व नहीं रहेगा। अतएव अस्तित्व और नास्तित्व को एक ही पदार्थ में स्वीकार करने से स्याद्वाद में विरोध[२] आता है।

(२) अस्तित्व का आधार (अधिकरण) अस्तित्व और नास्तित्व का अधिकरण नास्तित्व होगा। क्योंकि अस्तित्व और नास्तित्व के परस्पर विरुद्ध होने से अस्तित्व के अधिकरण को नास्तित्व का और नास्तित्व के अधिकरण को अस्तित्व का अधिकरण नहीं माना जा सकता है। अतएव अस्तित्व और नास्तित्व का अलग-अलग अधिकरण होने से वैयधिकरण[३] दोष लगता है।

(३) जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व धर्म रहते हैं, उसी प्रकार अस्तित्व और नास्तित्व में भी अस्तित्व और नास्तित्व मानना चाहिए। अतः

---

१ शंकरभाष्य २।२।३३

२ अनुपलम्भ साध्यो हि विरोधः। —सप्तभंगी तरंगिणी ८३।२

३ विभिन्नाधिकरणवृत्तित्वम् वैयधिकरण्यम्। —वही ८३।१

अस्तित्व और नास्तित्व में अनेक अस्तित्व और नास्तित्व मानने से अनवस्था दोष[1] का प्रसंग उपस्थित हो जाता है।

(४) स्याद्वाद के मतानुसार अस्तित्व और नास्तित्व एक स्थान पर रहते हैं। अतएव अस्तित्व के अधिकरण में अस्तित्व और नास्तित्व के तथा नास्तित्व के अधिकरण में नास्तित्व और अस्तित्व के रहने से संकरदोष[2] आता है।

(५) अस्तित्व और नास्तित्व के एक साथ रहने से अस्तित्व रूप से नास्तित्व और नास्तित्व रूप से अस्तित्व मानने पर स्याद्वाद में व्यतिकरदोष[3] मानना पड़ेगा।

(६) वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व धर्मों में से किसी भी धर्म का ठीक तरह से निश्चय न होने से स्याद्वाद में संशय का दोष[4] भी आता है। जिस प्रकार एक वस्तु में सीप और चांदी का निश्चित रूप से ज्ञान न होने से संशय उत्पन्न होता है उसी प्रकार स्याद्वाद में अस्तित्व, नास्तित्व आदि विरोधी धर्मों का निश्चय न होने से संशय दोषापत्ति होती है।

(७) संशय उत्पन्न होने से वस्तु का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः स्याद्वाद में अप्रतिपत्ति दोष[5] आता है।

(८) जब वस्तु का यथार्थ ज्ञान न होने से वस्तु की व्यवस्था नहीं बनती है तब स्याद्वाद में विषय-व्यवस्था हानि (अभाव) दोष[6] स्वयमेव उपस्थित हो जाता है।

लेकिन स्याद्वाद पर उक्त दोषों का आरोपण करना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि स्याद्वाद में विभिन्न विरोधी धर्मयुगलों का कथन अपेक्षादृष्टि का आधार लेकर किया जाता है और अनुभव के आधार पर प्रत्येक पदार्थ इसी प्रकार का सिद्ध होता है।

स्याद्वाद पर विरोध का दोषारोपण करना मिथ्या है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु एक दृष्टि से नित्य होती है और दूसरी दृष्टि से अनित्य। एक दृष्टि से वह एक मालूम होती है और दूसरी दृष्टि से अनेक। लेकिन स्याद्वाद यह नहीं कहता है कि जो नित्यता है वही अनित्यता है या जो एकता है, वही अनेकता है। यह सत्य है कि

१ अप्रामाणिक पदार्थ परम्परा परिकल्पनयाविश्रान्त्यभावोऽनवस्था। —प्रमेय रत्नमाला

२ सर्वेषां युगपत्प्राप्तिस्संकरः —सप्तभंगी ८३।६

३ परस्परविषयगमनं व्यतिकरः। —वही ८३।८

४ विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः। —न्यायदीपिका

५ अनुपलम्भात्प्रतिपत्तिः। —श्लोकवार्तिक ४

६ वस्तु का अस्तित्व ही नहीं रहना।

नित्यता और अनित्यता, एकता और अनेकता आदि धर्म परस्पर विरोधी हैं किन्तु उनका विरोध अपनी दृष्टि से है, वस्तु की दृष्टि से नहीं। वस्तु दोनों को आश्रय देती है। वस्तुस्वरूप की पूर्णता दोनों की सत्ता से ही है। एक के भी अभाव मे वह अधूरी है। जब एक वस्तु द्रव्यदृष्टि से नित्य और पर्यायदृष्टि से अनित्य मालूम होती है तब उसमें विरोध कैसे माना जा सकता है? विरोध की प्रतीति के अभाव में भी विरोध की कल्पना करना भ्रममात्र है। बौद्ध दार्शनिक भी चित्रज्ञान मे विरोध नही मानते ■ और एक ही ज्ञान मे चित्रवर्ण का प्रतिभास हो सकता है और उस ज्ञान मे विरोध नहीं आता है तब एक ही वस्तु मे दो विरोधी धर्मों की सत्ता मानने में क्या हानि है?

जैनदर्शन में प्रत्येक द्रव्य मे स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अस्तित्व और पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा नास्तित्व माना गया है। इसलिये अस्तित्व और नास्तित्व दोनों को एक ही अपेक्षा से नहीं मानने के कारण स्याद्वाद मे विरोध-दोष की आशंका करना व्यर्थ है।

विरोध के तीन प्रकार हैं—(१) वध्यघातक, (२) सहानवस्थान और (३) *प्रतिबध्य-प्रतिबंधक। सर्प और नकुल, जल और अग्नि में वध्यघातक* विरोध है, क्योंकि यह विरोध एक काल मे वध्य और घातक दो पदार्थों के संयोग से होता है।

सहानवस्थान विरोध भिन्न-भिन्न समय मे होने वाले दो पदार्थों मे होता है। जैसे कि आम के हरेपन और पीलेपन मे सहानवस्थान विरोध है। क्योंकि आम का हरापन और पीलापन भिन्न-भिन्न समय में होता है। जिस समय आम में हरापन होता है उस समय पीलापन नही होता, और जब पीलापन रहता है उस समय हरापन नहीं रहता है।

चन्द्रकान्त मणि और दाह मे परस्पर प्रतिबध्य-प्रतिबंधक विरोध है, क्योंकि दाह का प्रतिबंध करने वाले चन्द्रकान्त मणि के रहते अग्नि से दाह उत्पन्न नही होता है।

स्याद्वाद-कथन में उक्त तीनों प्रकार के विरोध की सम्भावना नहीं है। क्योंकि अस्तित्व और नास्तित्व आदि की एक अपेक्षा से ही वह एक पदार्थ में स्थिति स्वीकार नहीं करता है। इसलिये स्याद्वाद मे शीत और उष्ण की तरह वध्यघातक विरोध नहीं कहा जा सकता है। आम के हरेपन और पीलेपन की तरह अस्तित्व और नास्तित्व, नित्यत्व और अनित्यत्व, पूर्व एवं उत्तर काल मे नही रहते हैं, जिससे सहानवस्थान विरोध भी स्याद्वाद मे नहीं आता है तथा दाह और चन्द्रकान्त मणि की तरह अस्तित्व एवं नास्तित्व आदि में प्रतिबंध-प्रतिबंधक विरोध भी नहीं हैं। क्योंकि जिस समय द्रव्य मे स्वरूप से अस्तित्व धर्म है, उसी समय उसमें पर-द्रव्यादि की अपेक्षा

नास्तित्व धर्म भी विद्यमान है, तथा जिस समय द्रव्य में पर-द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा नास्तित्व धर्म है, उसी समय स्व-द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्व धर्म भी विद्यमान है।

इस प्रकार की स्पष्ट स्थिति होने से स्याद्वाद में विरोध दोष की कल्पना करना युक्तिसंगत नहीं है।

स्याद्वाद में वैयधिकरण की दोषापत्ति करना भी निराधार है। क्योंकि वस्तु भेद और अभेद उभयात्मक है। अतः भेद और अभेद का भिन्न-भिन्न आश्रय मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। जो वस्तु भेदात्मक है, वही अभेदात्मक भी है। भेद की प्रतीति का कारण उसका परिवर्तन धर्म है और अभेद की प्रतीति का कारण ध्रौव्य धर्म है। ये दोनों अखण्ड वस्तु के धर्म हैं। ऐसा नहीं है कि वस्तु का एक भाग भेदात्मक है और दूसरा भाग अभेदात्मक। वस्तु के दो अलग-अलग विभाग करके भेद और अभेद इन दो धर्मों के लिये भिन्न-भिन्न आश्रयों की कल्पना करना स्याद्वाद सिद्धान्त के विपरीत है। यह तो एक ही वस्तु को अनेक धर्मयुक्त मानता है।

जब एक ही वृक्ष में चचलता और स्थिरता, एक घट में लाल और कालापन आदि विरोधी धर्मों के रहते हुए भी विरोध की कल्पना नहीं की जाती है तब एक ही वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व आदि के रहने में भी विरोध नहीं कह सकते हैं। अस्तित्व और नास्तित्व में विरोध न रहने से अस्तित्व और नास्तित्व का अधिकरण भी भिन्न-भिन्न नहीं रहता है। अतएव स्याद्वाद में वैयधिकरण दोष भी नहीं आ सकता है।

जैनदर्शन यह नहीं मानता है कि भेद और अभेद अलग-अलग हैं और वह भेद या अभेद जिसमें रहता है वह उससे पृथक है। भेद नामक कोई भिन्न पदार्थ आकर वस्तु में सम्बन्धित होता है और उस सम्बन्ध से वस्तु में भेद की उत्पत्ति होती है, यह बात नहीं है। इसी प्रकार अभेद भी कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है जो किसी सम्बन्ध से वस्तु में रहता हो। वस्तु स्वयं भेदाभेदात्मक है। वस्तु के परिवर्तनशील स्वभाव को भेद कहते हैं और अपरिवर्तनशील स्वभाव का नाम अभेद है। प्रत्येक वस्तु में अनेक धर्म प्रमाण से सिद्ध होते हैं। जैसे माता-पिता की परम्परा प्रमाणसिद्ध है उसी तरह वस्तु में अस्तित्व, नास्तित्व आदि भी प्रमाण से सिद्ध हैं। अतएव केवल कल्पना के अनन्त होने से स्याद्वाद में अनवस्था दोष नहीं आ सकता है तथा जिस प्रकार घट धर्म में अन्य घटत्व धर्म की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार अस्तित्व आदि में भी अन्य दूसरे अस्तित्व आदि धर्मों की कल्पना नहीं कर सकते हैं।

स्याद्वाद में सांकर्य दोष की आपत्ति करना व्यर्थ है। क्योंकि संकर दोष की उत्पत्ति तभी होती है जब भेद अभेद हो जाता है या अभेद भेद। आश्रय एक होने का अर्थ यह नहीं कि आश्रित भी एक हो जायें। एक ही आश्रय में अनेक आश्रित रह

सकते हैं। जैसे एक ही ज्ञान में चित्रवर्ण का प्रतिभास होता है, फिर भी सभी वर्ण एक नहीं हो जाते हैं। वैसे ही एक वस्तु में सामान्य-विशेष, भेद-अभेद, नित्य-अनित्य आदि एक साथ रहने पर भी एक नहीं हो जाते हैं। यदि वे एक होते तो एक ही की प्रतीति होती, दोनों की नहीं। जब दोनों की भिन्न-भिन्न रूप से प्रतीति होती है तब उन्हें एकरूप कैसे कहा जा सकता है?

जिस प्रकार संकर दोष स्याद्वाद पर नहीं लगाया जा सकता है, उसी प्रकार व्यतिकर दोष भी लगाना अनुचित है। क्योंकि स्याद्वाद-वचन में अस्ति को नास्ति और नास्ति को अस्ति नहीं किन्तु अस्ति को अस्ति तथा नास्ति को नास्ति कहते हैं। वस्तु स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तिरूप है और पर-द्रव्यादि चतुष्टय से नास्ति-रूप है।

स्याद्वाद को संशय बताना भी अनुचित है। क्योंकि किसी वस्तु अथवा अनेक धर्मों के अनिश्चित ज्ञान को संशय कहते हैं। संशय में परस्पर विरोधी अनेक वस्तुओं का संशयात्मक भान होता है। जैसे यह अस्ति है या नास्ति है, यह चाँदी है या सीप है। संशय साधक और बाधक प्रमाणों का अभाव होने से अनेक अनिश्चित अंशों को स्पर्श करता है तथा अनिर्णयात्मक स्थिति में रहता है। लेकिन स्याद्वाद परस्पर विरुद्ध सापेक्ष पदार्थों का निश्चित ज्ञान कराता है। वह उन अपेक्षाओं के मध्य अस्थिर न रहकर निश्चित प्रणाली के अनुसार वस्तु का बोध कराता है। इस प्रणाली में किसी प्रकार की अस्थिरता नहीं है और न कोई ऐसा संकेत रहता है कि पदार्थ में उक्त धर्म की विद्यमानता की सम्भावना ही न हो। वस्तु में अपेक्षाभेद से अस्ति धर्म भी है और नास्ति धर्म भी है और उन दोनों धर्मों का निश्चय होता है। अतः स्याद्वाद में किसी प्रकार की अनिर्णयात्मक स्थिति भी नहीं है। अतः उसे संशय नहीं माना जा सकता है।

संशय की तरह स्याद्वाद को अप्रतिपत्ति दूषण देना भी अनुचित है। क्योंकि स्याद्वाद, जो वस्तु जैसी है उसे वैसा ही देखने-जानने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। सब पदार्थों में या धर्मों में एकता तथा अनेकता—यह दोनों बातें स्याद्वाद को अभीष्ट हैं। वह यह नहीं कहता है कि अनेक धर्मों में कोई एकता नहीं है और अनेकता भी नहीं है। विभिन्न वस्तुओं को एक सूत्र में बाँधने वाला अभेद तत्त्व भी है और अनेकता का तत्त्व भी उसमें विद्यमान है। लेकिन ऐसा मानने का अर्थ यह नहीं है कि स्याद्वाद एकान्तवाद हो गया। स्याद्वाद एकान्तवाद तब हो जब वह भेद और अभेद में से किसी एक का खण्डन करके दूसरे को ही स्वीकार करता हो। एकान्तवाद तो एकता अथवा अनेकता का सर्वथा निषेध करता है, उन्हें असत्य मानता है, मिथ्या कहता है। लेकिन स्याद्वाद तो एकता के साथ-साथ अनेकता को और अनेकता के साथ-साथ एकता को भी यथार्थ मानता है। एकतामूलक तत्त्व अथवा अनेकतामूलक तत्त्व निरपेक्ष है, यह नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि एकता अनेकता के बिना नहीं रह

सकती और अनेकता एकता के अभाव में नहीं टिक सकती। एकता और अनेकता इस प्रकार मिली हुई है कि एक को दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता है। पदार्थ एकता और अनेकता दोनों का मिला हुआ रूप है। वह एक भी है और अनेक भी है। स्याद्वाद वस्तु के इसी स्वरूप का कथन करता है और उसकी प्रतीति भी यथार्थ है। अतः स्याद्वाद तो अविरोध रूप वस्तु तत्त्व का प्रतिपादन करता है। जब वस्तु का निश्चित ज्ञान हो रहा है तब इस सम्बन्ध में वस्तु व्यवस्था का अभाव दोष भी स्याद्वाद पर नहीं लगाया जा सकता है।

इसी प्रकार स्याद्वाद में विपरीत समारोप की भी सम्भावना नहीं है। विपरीत समारोप में तो विपरीत अर्थ का निश्चित रूप से निर्णय कर लिया जाता है, जैसे— रस्सी में साँप का निर्णय करना। इस ज्ञान के द्वारा वस्तु के विपरीत एक ही धर्म का बोध होता है और वह भी उलटा। यह ज्ञान दूसरी वस्तु में विद्यमान गुण धर्मों को अपने द्वारा देखी गई वस्तु में आरोपित कर निर्णय करता है और उसी पर दृढ़तापूर्वक टिका रहता है। लेकिन स्याद्वाद न तो वस्तु में अविद्यमान धर्मों का समारोप करता है और न उन्हें ही वस्तु का स्वरूप बताता है। वह वस्तु में विद्यमान धर्मों का अपेक्षाओं के माध्यम से विवेचन करते हुए यथार्थस्थिति का प्रकाशन करता है।

स्याद्वाद में अनध्यवसाय दोष की भी कल्पना नहीं की जा सकती है। यह इस दोष से रहित है। क्योंकि अनध्यवसाय तो एक अनिश्चित अनुभव मात्र है। इस अनुभव में किसी प्रकार की निर्णयात्मक स्थिति नहीं होती है और प्रथम समय में उत्पन्न ज्ञान दूसरे ही क्षण में नष्ट हो जाता है। जबकि स्याद्वाद द्वारा गृहीत ज्ञान निश्चयात्मक दृष्टिकोण उपस्थित करता है। यह दृष्टिकोण ऐसा नहीं होता है कि पूर्वकाल में हुआ हो और उसके अनन्तर काल में नष्ट हो जाने वाला हो। स्व-रूप और पर-रूप की दृष्टि से पदार्थ की जो स्थिति है, स्याद्वाद उसी का दिग्दर्शन कराता है।

स्याद्वाद छल आदि दोषों से भी अतिक्रान्त है। छल में तो कहे हुए शब्दों का सही अभिप्राय के विरुद्ध अर्थ निकालकर खण्डन किया जाता है। छल का उपयोग वहीं किया जाता है जहाँ यथार्थ को जानते हुए भी कपटवश या प्रतिष्ठा के व्यामोह के कारण स्वपक्ष सिद्धि की जाती हो, लेकिन स्याद्वाद में यह बात नहीं है। उसे न तो स्वपक्षमण्डन और न परपक्ष के खण्डन की आकांक्षा है और न पदार्थ के स्वकल्पित अर्थ के अनुरूप कथन की ही अभिलाषा। किन्तु इसमें तो प्रत्येक अभिप्राय को यथार्थ दृष्टिकोण द्वारा ठीक अर्थ में समझाने का उपक्रम किया जाता है। स्याद्वाद द्वारा जो भी कथन होता है वह उसी रूप में होता है, जैसी कि वस्तु है। स्याद्वाद किसी के वचन का अपलाप नहीं करता और न विद्यमान अभिप्राय के विपरीत नये अथवा कल्पित अभिप्राय को ही प्रस्तुत करता है। यह आकांक्षा तो एकांगी दृष्टि तथा अपने ही मंतव्य को सबल बनाने वालों में देखी जाती है।

है। वस्तु की अवस्था के परिवर्तन के साथ-साथ ज्ञान की अवस्था मे भी परिवर्तन आता रहता है। इसलिये केवलज्ञान भी कथंचित् अनित्य और कथंचित् नित्य है। उसकी यह नित्यानित्यता प्रमेय सापेक्ष है। इसलिये स्याद्वाद और केवलज्ञान मे विरोध की सभावना नही है।

इस प्रकार स्याद्वाद द्वारा वस्तु की अनेकातात्मकता अभिव्यक्त होती है। दार्शनिक क्षेत्र मे भेदाभेद, सदसद्, नित्यानित्य, एकानेक, निर्वचनीयानिर्वचनीय आदि जितने भी एकातिक वाद हैं, उनके समन्वय एव उनकी यथार्थस्थिति का निश्चित करने का आधार स्याद्वाद है। इसीलिये जैनदर्शन मे स्याद्वाद को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि वह जैनदर्शन का अपरनाम ही बन गया है। जैनदर्शन का नाम लेते ही स्याद्वाद का स्मरण हो आता है।

☐

द्वितीय अध्याय

2

स्याद्वाद के अंग : प्रत्यंग : नय

'वस्तु अनन्त धर्मात्मक है,' यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। वस्तु के उन समस्त धर्मों का यथार्थ और प्रत्यक्ष ज्ञान केवल उसी व्यक्ति विशेष को ही सकता है, जिसने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो सर्वज्ञ सर्वदर्शी है। लेकिन सीमित ज्ञान वाले व्यक्ति मे इतनी सामर्थ्य कहाँ है कि वह प्रत्येक वस्तु के समस्त धर्मों का युगपत् यथार्थ प्रत्यक्ष कर सके। सामान्य व्यक्ति के ज्ञान की इस सीमितता के कारण ही मनुष्य एक समय मे वस्तु के एक या कुछ धर्मों का ज्ञान कर पाता है। इस कारण उसका ज्ञान आशिक होता है। वस्तु के इस आशिक ज्ञान को 'नय' नाम से अभिहित किया गया है।

'नय' स्याद्वाद के अग-प्रत्यंग हैं, आधारशिला हैं। स्थूल रूप से ज्ञान के तीन भेद किये जा सकते हैं—१ प्रमाण, २ नय, ३ दुर्नय। प्रमाण के द्वारा अनन्त धर्मात्मक पूर्ण वस्तु का ज्ञान होता है, नय वस्तु के सापेक्ष एकदेश को अपने ज्ञान का विषय बनाता है और दुर्नय वस्तु के निरपेक्ष एकदेश को। नय के बारे मे यह समझना अनुचित होगा कि वह एकातवाद का प्रतिपादक है। क्योकि एकातवाद और अनेकात-वाद मे परस्पर विरोध है। वस्तुस्थिति पर विचार करने से व्यक्ति के ज्ञान का आशिक या सापेक्ष होना ही न्यायसगत प्रतीत होता है, परन्तु वास्तविक ज्ञान इससे भिन्न है। इसी कारण वस्तु के परिज्ञान के इच्छुक जन को प्रथम आशिक ज्ञान और उसके बाद पूर्ण ज्ञान होता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति गंतव्यस्थल पर पहुँचने के लिए सोपान (सीढियो) का आश्रय लेकर ही लक्ष्य की ओर अभिमुख होता है तथा अन्त मे अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है, उसी प्रकार आशिक ज्ञान का आश्रय लेकर ही व्यक्ति वस्तु का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने मे सफल हो सकता है। इस प्रकार आशिक ज्ञान—एकात तथा पूर्ण ज्ञान—अनेकात मे किसी भी प्रकार का विरोध परि-लक्षित नही होता है।

उक्त कथन का फलितार्थ यह हुआ कि अनन्तधर्मी [illegible] वस्तु प्रमाण के द्वारा ज्ञात होने पर भी नय अपने-अपने [illegible] एक अश विशेष को ग्रहण करता है। नय में यद्यपि एक धर्म के [illegible] धर्मों की विवक्षा नही होती है, परन्तु वह अपने [illegible] के [illegible]

भी धर्म हैं, उनका प्रतिषेध भी नहीं करता है, अपितु उनके प्रति उसकी उदासीनता होती है। शेष धर्मों से उसका वर्तमान में प्रयोजन न होने से वह उन धर्मों का न तो निषेध करता है और न विधान ही। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि नय वस्तु को अनन्तधर्मात्मक स्वीकार नहीं करता है। वह प्रमाण की तरह वस्तु को अनन्त धर्मात्मक मानता है लेकिन प्रमाण और नय के कथन की मर्यादा भिन्न-भिन्न होने से प्रमाण तो वस्तु के सभी धर्मों को ग्रहण करता है और नय का कथन वस्तु के एक धर्म तक सीमित है।[1] जबकि दुर्नय किसी भी वस्तु के अन्य धर्मों का निषेध करके अपने अभीष्ट एकांत अस्तित्व को ही सिद्ध करता है। जैसे यह घट ही है। वस्तु में अभीष्ट धर्म की प्रधानता से अन्य धर्मों का निषेध करने के कारण दुर्नय को मिथ्या-नय भी कहा गया है। अतः दुर्नय को वस्तु ज्ञान कथन में ग्राह्य नहीं माना जाता है। नय और प्रमाण के द्वारा दुर्नयवाद का निराकरण होता है।

नय और प्रमाण भिन्न या अभिन्न ?

प्रमाण द्वारा वस्तु का ज्ञान होता है और नय भी उसको जानता है[2], तो प्रश्न होता है कि क्या प्रमाण और नय परस्पर सर्वथा भिन्न है अथवा सर्वथा अभिन्न हैं ? अथवा नय से भी पदार्थों का निश्चय होता है इसलिए नय को प्रमाण ही कहना चाहिए, नय और प्रमाण को अलग-अलग कहने की आवश्यकता नहीं है। इन प्रश्नों का उत्तर भी स्याद्वाद द्वारा प्राप्त है कि प्रमाण और नय कथंचित् अभिन्न भी हैं और कथंचित् भिन्न भी जैसे कि शाखा-प्रशाखायें वृक्ष से अभिन्न भी हैं और भिन्न भी हैं अर्थात् शाखाओं को वृक्ष भी नहीं कह सकते हैं और वृक्ष से भिन्न भी नहीं कह सकते हैं। इसी प्रकार से प्रमाण और नय का सम्बन्ध है। प्रमाण यदि अंग है तो नय उपांग, प्रमाण यदि समुद्र है तो नय तरंग समूह, प्रमाण व्यापक है तो नय व्याप्य। प्रमाण का सम्बन्ध मतिज्ञान आदि पाँच प्रकार के ज्ञान से है जब कि नय का सम्बन्ध केवल श्रुतज्ञान से ही। अतः नय प्रमाण से सर्वथा भिन्न भी नहीं है और अभिन्न भी नहीं है।

इसी बात को कुछ और विशेष रूप से स्पष्ट करते हैं। प्रमाण और नय में कथंचित् अभेद इसलिए है कि नय प्रमाण के कार्य हैं, इसलिए उपचार से नयों में प्रमाणता मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है। यानी कार्य में कारण का उपचार कर लेने से नय और प्रमाण में अभिन्नता है। अथवा जिस प्रकार प्रमाण ज्ञान विशेष है, उसी प्रकार नय भी ज्ञान विशेष है, अतः वस्तुतः दोनों में कोई भेद नहीं है। इसीलिए विशेषावश्यक भाष्य में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति में कारण-

---

१ अनेकान्तात्मकं वस्तुगोचरः सर्वसंविदाम्।
एकदेश विशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः॥ —आचार्य सिद्धसेन दिवाकर

२ प्रमाणनयैरधिगमः। —तत्त्वार्थसूत्र १।६

भूत होने से नयों को प्रमाण के समान कहा है[1] और अनुयोग महानगर में पहुँचने के चार दरवाजों में से नय को भी एक दरवाजा बताया है।[2]

प्रमाण और नय में कथंचित् भिन्नता इसलिए है कि यद्यपि प्रमाण और नय दोनों ज्ञानात्मक हैं, लेकिन दोनों में विषय की भिन्नता है। प्रमाण सम्पूर्ण वस्तु का और नय वस्तु के एक अंश का ज्ञान करता है। यदि प्रमाण ही नय है, ऐसा माना जाये तो नयों का अभाव हो जायगा और नयों के अभाव में अनन्तप्रसिद्ध एकान्त व्यवहार (एक धर्म द्वारा वस्तु का निरूपण करने रूप व्यवहार) का लोप हो जायेगा। दूसरी बात यह है कि ज्ञान के विकल्प को नय कहते हैं तब दोनों का विषय भिन्न-भिन्न है। दोनों के विषय में भिन्नता है। इसी कारण प्रमाण और नय में भिन्नता मानी जाती है। लेकिन यह भिन्नता भी कथंचित् है जैसी कि अभिन्नता कथंचित् है।

उक्त कथन का फलितार्थ यह हुआ कि वस्तु के सर्वांशग्राही ज्ञान को प्रमाण कहते हैं और नय से सम्पूर्ण वस्तु का नहीं किन्तु वस्तु के एकदेश का ज्ञान होता है इसलिए नय और प्रमाण का सम्बन्ध समुद्रांश और समुद्र के समान है। जिस प्रकार समुद्र की एक बूंद को समुद्र नहीं कह सकते हैं, क्योंकि यदि समुद्र की एक बूंद को समुद्र कहा जाये तो शेष समुद्र के पानी को असमुद्र कहना पड़ेगा अथवा समुद्र के पानी की अन्य बूंदों को भी समुद्र कहकर बहुत से समुद्र कहना चाहिए तथा समुद्र की एक बूंद को असमुद्र भी नहीं कहा जा सकता है। उसी प्रकार वस्तुओं के एक अंश के ज्ञान करने को वस्तु नहीं कह सकते हैं, अन्यथा वस्तु के एक अंश के अतिरिक्त वस्तु के अन्य धर्मों को अवस्तु मानना पड़ेगा अथवा वस्तु के प्रत्येक अंश को वस्तु तथा पदार्थों के एक अंश के ज्ञान करने को अवस्तु भी नहीं कह सकते हैं, अन्यथा वस्तु के शेष अंशों को भी अवस्तु मानना पड़ेगा। अतएव जैसे समुद्र की एक बूंद को समुद्र अथवा असमुद्र नहीं कहा जा सकता है वैसे ही वस्तु के एक अंश के जानने को प्रमाण या अप्रमाण नहीं कहा जा सकता है। इसलिये नय को प्रमाण और अप्रमाण न मानकर प्रमाणांश मानना चाहिये।[3] इस प्रकार नय और प्रमाण में कथंचित् अभिन्नता, कथंचित् भिन्नता और कथंचित् नय का अलग अस्तित्व है।

---

१ विशेषावश्यक भाष्य ९११-९१४ तथा १५०२ से आगे।

२ 'अणुओगद्दाराइं महापुरस्सेव तस्स चत्तारि।'
—उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय ये चार अनुयोग महानगर में पहुँचने के दरवाजे हैं।

३ (क) नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते बुधैः।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथैव हि॥
तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांशस्यासमुद्रता।
समुद्रबहुता वा स्यात् तत्त्वे क्वास्तु समुद्रवित्॥
—तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक १।६—५,६

वैसे तो कोई भी शब्द वस्तु के एक ही धर्म को कह सकता है, फिर भी उन शब्द के द्वारा समस्त वस्तु भी कही जा सकती है और एक धर्म भी। इसका परिज्ञान शब्दों से नहीं किन्तु भावों से होता है। जब किसी शब्द के द्वारा पूरे पदार्थ को कहना चाहते हैं तब वह प्रमाणवाक्य कहा जाता है और जब शब्द द्वारा किसी एक धर्म का कथन किया जाता है तब वह नयवाक्य माना जाता है।[क] जैसे जीव शब्द के द्वारा जीवन गुण एवं अन्य अनन्तधर्मों के अखण्डपिंड रूप आत्मा का कथन करना प्रमाणवाक्य है और जब जीव शब्द के द्वारा सिर्फ जीवनधर्म का ही बोध किया जाये तब उसे नयवाक्य कहते हैं। इस वक्तव्य का यह अर्थ हुआ कि प्रमाण दृष्टि से पदार्थ अनेकान्तात्मक है और नयदृष्टि से एकान्तात्मक। किन्तु यह सर्वथा अनेकान्तात्मक और सर्वथा एकान्तात्मक नहीं है। इस आशय को प्रगट करने के लिये प्रत्येक वाक्य के साथ स्याद्वाद सूचक स्यात्, कथंचित् अथवा किसी अपेक्षा से आदि शब्दों में से किसी एक का प्रयोग किया जाता है। यदि हम किसी कारणवश प्रयोग न भी करें तो भी हमारा अभिप्राय ऐसा रहना चाहिये, अन्यथा यह सब व्यवस्था और उत्पन्न ज्ञान मिथ्या हो जायेगा।

नय का लक्षण और भेद

ऊपर कहा गया है कि एक शब्द के द्वारा अखण्ड वस्तु का भी कथन किया जा सकता है और उसके एक धर्म का भी। लेकिन यह वक्ता के अभिप्राय पर निर्भर है कि शाब्दिक प्रयोग के लिये उसकी दृष्टि क्या है। इससे यद्यपि नय की सामान्य परिभाषा का बोध हो जाता है, फिर भी निरुक्ति, वस्तु के एकांशग्राहित्व आदि दृष्टियों की अपेक्षा 'नय' का लक्षण विशेष रूप से स्पष्ट करते हैं।

'नयतीति नयः' यह नय का निरुक्त्यर्थ है। जो पदार्थों को लाते हैं वे नय हैं। इसमें 'लाते हैं' शब्द महत्वपूर्ण है। जिसका अर्थ यह है कि नाना स्वभावों से हटाकर वस्तु को एक स्वभाव में जो प्राप्त कराये, उसे नय कहते हैं।[२] अथवा जो जीवादि पदार्थों को लाते हैं, प्राप्त कराते हैं, सिद्ध कराते हैं, बनाते हैं, अवभास कराते हैं, उपलब्ध कराते हैं, प्रगट कराते हैं—वे नय हैं।[३] अथवा जिस नीति के द्वारा एकदेश विशिष्ट अर्थ लक्ष लाया जाता है अर्थात् प्रतीति के विषय को प्राप्त कराया जाता है, उसे नय कहते हैं।[४] अथवा अनेक गुण और पर्यायों सहित या एक परिणाम से दूसरे

(क) न समुद्रोऽसमुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते।
नाप्रमाणं प्रमाणं वा प्रमाणांशस्तथा नयः॥ —नयोपदेश

१ सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीन इति। —सर्वार्थसिद्धि १।६

२ अष्टसहस्री ?

३ तत्त्वार्थाधिगम भाष्य १।३५

४ स्याद्वाद मंजरी, श्लोक २८ की व्याख्या

परिणाम में, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में और एक काल से दूसरे काल में अविनाशी स्वभाव रूप से रहने वाले द्रव्य को जो ले जाता है यानी उसका ज्ञान करा देता है, उसे नय कहते हैं।

वक्ता के अभिप्राय की दृष्टि से नय का लक्षण है—विरोधी धर्मों का निषेध न करते हुए वस्तु के एक अंश या धर्म को ग्रहण करनेवाला ज्ञाता का अभिप्राय नय कहलाता है।[1]

अनेकान्तात्मक वस्तु में विरोध के बिना, हेतु की मुख्यता से साध्य विशेष की यथार्थता को प्राप्त कराने में समर्थ शब्द प्रयोग को नय कहते हैं।[2] अथवा साधर्म्य का विरोध न करते हुए साधर्म्य से ही साध्य की सिद्धि करने वाला तथा स्याद्वाद (प्रमाण) से प्रकाशित पदार्थों की पर्यायों को प्रगट करने वाला नय है।[3] अथवा प्रमाण से निश्चित किये हुए पदार्थों के एक अंश के ज्ञान करने को नय कहते हैं।[4] ये सब वस्तु के एकअंशग्राहित्व की अपेक्षा नय के लक्षण हैं।

उपर्युक्त सभी नय लक्षणों का सारांश यह है कि ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं और अभिप्राय का अर्थ है प्रमाण से गृहीत वस्तु के एकदेश का निश्चय। स्पष्ट ज्ञान होने के पूर्व तक तो नय, प्रमाण से अर्थ का ग्रहण करने वाला होता है और स्पष्ट ज्ञान होने के पश्चात् प्रमाण से जानी हुई वस्तु के द्रव्य अथवा पर्याय में सामान्य या विशेष से वस्तु का निश्चय करता है। अर्थात् प्रमाण-गृहीत वस्तु नय के द्वारा जानी जाती है।

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, अतएव वचन पद्धति भी अनन्त होनी चाहिये और जब उनकी वचनपद्धति अनन्त है तो नय भी उतने ही प्रकार के होंगे।[5] अर्थात् जितने तरह के वचन हैं उतने ही नय हो सकते हैं। इसलिए नय के उत्कृष्ट भेद अनन्त हो सकते हैं, जिससे नयों का विस्तार से प्ररूपण सम्भव नहीं है। अतः अपेक्षा भेद से नयों के एक से लेकर अनेक भेद किये गये हैं। जिसका स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है—

(१) सामान्य से शुद्ध वस्तुस्वरूप की अपेक्षा नय का एक भेद शुद्ध निश्चय

---

१ प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० ६७६

२ सर्वार्थसिद्धि १।३३

३ आप्तमीमांसा १०६

४ (क) प्रमाणप्रतिपन्नार्थैकदेशपरामर्शो नयः। —स्याद्वाद मंजरी, श्लोक २८

(ख) प्रमाणपरिच्छिन्नस्यानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एकदेशग्राहिणस्तदितरांशाऽप्रतिक्षेपिणोऽध्यवसायविशेषा नयाः। —जैनतर्क भाषा

५ जावइया वयणपहा तावइया चेव होंन्ति णयवाया। —सन्मति तर्क गा० ४७

नय है। शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य अथवा गुण, पर्याय आदि कुछ नहीं होते हैं। केवल वस्तु सद्रूप ही होती है।[1]

(२) सामान्य और विशेष को छोड़कर नय का कोई दूसरा विषय नहीं होता है, जिससे सामान्य और विशेष की अपेक्षा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये नय के दो भेद हैं।[2]

(३) संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र इन तीन अर्थनयों में शब्दनय को मिलाकर नय के चार भेद होते हैं।[3]

(४) नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द के भेद से नय के पाँच भेद होते हैं।[4]

(५) आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत ये छह नय माने हैं। नैगम-नय को उन्होंने पृथक् नय नहीं माना है। क्योंकि जिस समय नैगमनय सामान्य को विषय करता है, उस समय वह संग्रहनय में और जिस समय विशेष को विषय करता है, तब उसका व्यवहारनय में समावेश हो जाता है। अतः नैगमनय को पृथक नय नहीं माना है।[5]

(६) नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत के भेद

---

१ (क) सामान्यदेशतस्तावदेक एव नयः स्थितः।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यंजनात्मकः ॥
—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १।३३-२

(ख) यदि वा शुद्धत्व नयान्नाप्युत्पादो व्ययोऽपि न ध्रौव्यम्।
गुणश्च पर्यय इति वा न स्याच्च केवलं सदिति ॥
—पंचाध्यायी १।२१६

२ दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं। —सन्मति तर्क १।३
—परस्पर विविक्त सामान्यविशेष विषयत्वात् द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकावेव नयौ, न च तृतीयं प्रकारान्तरमस्ति यद् विषयोऽन्यस्ताभ्यां व्यतिरिक्तो नयः स्यात्।
—सन्मतितर्क, अभयदेव टीका

३ सदेव संग्रहव्यवहारऋजुसूत्र शब्दादि त्रय चैक इति चत्वारो नयाः।
—समवायांग टीका

४ नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दा नयाः। —तत्त्वार्थ भाष्य १।३४

५ जो सामन्नगाही स नेगमो संगहं गओ अहवा।
इयरो ववहारमिओ जो तेण समाणनिद्देसो ॥ —विशेषा० भाष्य ३६
—सिद्धसेनीयाः पुनः षडेव नयानभ्युपगतवन्तः। नैगमस्य संग्रह व्यवहारयोरन्तर्भाव विवक्षणात्।
—विशेषा० भाष्य ४५

से नय के सात भेद होते हैं। यह मान्यता आगमों तथा दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों मे पाई जाती है।[1]

(७) देशपरिक्षेपी नैगम, सर्वपरिक्षेपी नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र तथा सांप्रत, समभिरूढ और एवंभूत ये शब्द नय के तीन विभाग करने से नयों के आठ भेद होते है।[2]

(८) नैगम आदि सात प्रसिद्ध नयों मे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय मिला देने से नयों की संख्या नौ हो जाती है। इन नयो के मानने वाले आचार्यों का उल्लेख द्रव्यानुयोगतर्कणा मे मिलता है।[3]

(९) नैगमनय के नौ भेद करके संग्रहादि छह नयो को मिलाने से नयों के पन्द्रह भेद होते हैं।[4]

(१०) निश्चय नय के २८ और व्यवहार नय के ८ भेद मिलाकर नयो के ३६ भेद होते है।[5]

(११) प्रत्येक नय के सौ-सौ भेद करने पर नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द इन पाँच नयों के मानने से पाँच सौ और समभिरूढ, एवंभूत इन दो नयों को और मानने पर प्रत्येक के सौ-सौ भेद मिलाने पर कुल सात सौ भेद होते हैं।[6]

(१२) वस्तु का धर्म अर्थात् अर्थ, इसका वाचक शब्द और उसको जानने वाला ज्ञान, इस अपेक्षा से नय के तीन भेद होते हैं।[7]

नय के उक्त भेदों के संकेत का यह अर्थ है कि वक्ता के अभिप्रायानुसार उसके जितने भी वचन-प्रकार होते हैं, उतने ही नय हो सकते हैं। इसीलिए प्रारम्भ में बताया गया है कि कथन-विवक्षा के कारण नय के असंख्यात, अनन्त भेद हैं। फिर

---

१ अनुयोगद्वार सूत्र, स्थानांग ५५२, भगवती ४६६ और तत्त्वार्थराजवार्तिक १।३३

२ आद्य इति सूत्रक्रमप्रामाण्यात् नैगममाह। स द्विभेदो—देशपरिक्षेपी सर्वपरिक्षेपी चेति। शब्दास्त्रिभेदः—साम्प्रतः समभिरूढ एवंभूत इति।

—तत्त्वार्थ भाष्य १।३४-३५

३ यदि पर्यायद्रव्यार्थनयौ भिन्नौ विलोकितौ।
अर्पितानर्पिताभ्यां तु स्युर्नैकादश तत्कथम् ॥

—द्रव्यानुयोगतर्कणा ८।११

४ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १।३३—४८

५ देवसेनसूरि, नयचक्रसंग्रह १८६, १८७, १८८

६ इक्किको य सयविहो सत्तनय सया हवन्ति एमेव।
अन्नो विय आएसो पचेव सया नयाण तु ॥

—विशेषा० भाष्य २२६४

७ कार्तिकेयानुप्रेक्षा २६५

भी उनका समाहार करते हुए और समझने में सरलता की दृष्टि से उन सब वचन-पथों को अधिक से अधिक सात भेदों में विभाजित कर दिया गया है और सात नय मानना प्राय. सर्वसम्मत रहा है। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१ नैगमनय,
२. संग्रहनय,
३. व्यवहारनय,
४. ऋजुसूत्रनय,
५. शब्दनय,
६. समभिरूढ़नय,
७ एवंभूतनय।

आचार्यों ने शाब्दिक, आर्थिक, वास्तविक, व्यावहारिक, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के अभिप्राय से ये सात भेद किये हैं। क्योंकि बौद्धों की यह मान्यता है कि रूप आदि अवस्था ही वस्तु द्रव्य है और वेदांत का कहना है कि द्रव्य ही वस्तु है, रूप आदि गुण तात्त्विक नहीं हैं। यह भेद और अभेद के द्वन्द्व का एक संकेत है और नय भेद अभेद इन दो वस्तु धर्मों पर टिका हुआ है।

इन अनन्त वचन-पथों का और भी संक्षेप में संग्रह किया जाये तो उनका निश्चय और व्यवहार नय, इन दो मार्गों में विभाजन किया जा सकता है।

नैगमादि नयों के लक्षण

नैगमनय—सामान्य तथा विशेष आदि अनेक धर्मों को ग्रहण करने वाला अभिप्राय नैगमनय कहलाता है।[१] यह नय सत्ता रूप सामान्य को, द्रव्यत्व, गुणत्व कर्मत्व रूप अवान्तर सामान्य को, असाधारण रूप विशेष को तथा पर-रूप से व्यावृत्त और सामान्य से भिन्न अवान्तर विशेषों को जानता है। अथवा दो द्रव्यों में से, दो पर्यायों में से तथा द्रव्य एवं पर्याय में से किसी एक को मुख्य और दूसरे को गौण करके जानना नैगमनय है।[२]

यद्यपि यह नय प्रमाण की भाँति द्रव्य और पर्याय दोनों अंशों का ग्राहक है। लेकिन दोनों में यह अन्तर है कि प्रमाण तो द्रव्य और पर्याय दोनों को प्रधान रूप से ग्रहण करता है, जबकि नैगमनय एक को प्रधान और दूसरे को अप्रधान रूप से ग्रहण करता है। अतः इसको प्रमाण नहीं कहा जा सकता है।[३]

निगम शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ है—देश, सकल्प और उपचार। इनमें होने वाले

१ सामान्यविशेषाद्यनेकधर्मोपनयनपरोऽध्यवसायो नैगम। —जैनतर्कभाषा
२ णेगेहिं माणेहिं मिणइ त्ति णेगमस्स य निरुत्ती। —अनुयोगद्वार
३ [illegible] नैगमनय [illegible] । प्राधान्येन [illegible] प्रमाणत्वम् । —जैन तर्कभाषा

अभिप्राय को नैगमनय कहते हैं। अथवा निगम का अर्थ है लोक, और उसके व्यवहार का अनुसरण करने वाला नय नैगमनय कहलाता है। अथवा जिसके जानने का एक 'गम' (बोध मार्ग) न हो परन्तु अनेक गम हों वह नैगमनय है। या संकल्प मात्र को ग्रहण करने वाले नय को नैगमनय कहते हैं अर्थात् जो कार्य कर रहा है या करना है, उसका संकल्प भी नैगमनय है।

निलयन और प्रस्थ—ये नैगमनय के दो दृष्टान्त हैं। निलयन का अर्थ है निवासस्थान। जैसे किसी ने पूछा—आप कहाँ रहते हैं? उत्तर में उसने कहा—'मैं लोक में रहता हूँ। लोक में भी जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, मध्य खण्ड, अमुक देश, अमुक नगर, अमुक घर में रहता हूँ।' नैगमनय इन सब विकल्पों को जानता है। दूसरा दृष्टान्त प्रस्थ का है—अनाज नापने के लिये पाँच सेर परिमाण वाले पात्र को प्रस्थ कहते हैं। किसी ने हाथ में कुल्हाड़ी लेकर जाते हुए व्यक्ति को देखकर पूछा—'आप कहाँ जा रहे हैं?' उस व्यक्ति ने उत्तर दिया - 'मैं प्रस्थ लेने के लिये जा रहा हूँ।' ये दोनों नैगमनय के उदाहरण हैं।

इस प्रकार नैगमनय की विविध दृष्टियों से विवेचना की गई है। उनमें से सामान्य और विशेष पदार्थों को ग्रहण करने रूप लक्षण मल्लिषेण, सिद्धर्षि, जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण, अभयदेव आदि श्वेताम्बर आचार्यों के ग्रन्थों में मिलता है।[1]

दो धर्मी अथवा दो धर्म अथवा एक धर्म और एक धर्मी में प्रधानता और गौणता की विवक्षा करने वाला लक्षण आचार्य देवसूरि, विद्यानन्दि, उपाध्याय यशोविजयजी आदि के ग्रन्थों में मिलता है।[2]

लौकिक अर्थ का ज्ञान होने वाला लक्षण जिनभद्रगणी, सिद्धसेनगणी आदि आचार्यों के ग्रन्थों में उपलब्ध है।[3]

सङ्कल्पमात्रग्राही को नैगमनय बताने वाला लक्षण पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्दि आदि दिगम्बर आचार्यों को मान्य है।[4]

न्याय, वैशेषिक दर्शन का नैगमाभास में अन्तर्भाव होता है। क्योंकि वे परस्पर भिन्न और निरपेक्ष सामान्य और विशेष दोनों को स्वीकार करते हैं और नैगमाभास

---

१ ये परस्पर विशकलितौ सामान्यविशेषाविच्छन्ति तत् समुदायरूपो नैगम.।
— सिद्धर्षि, न्यायावतार टीका

२ यद् वा नैकं गमो योऽत्र सतन नैगमो मतः।
धर्मयोर्धर्मिणो वापि विवक्षा धर्मधर्मिणोः॥
— तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १।३३।२१

३ निगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते इति लौकिका अर्थाः—तेषु नि- [illegible] योऽध्यवसाय ज्ञानाख्यः स नैगमः। — तत्त्वार्थ टीका

४ अर्थसङ्कल्पमात्रग्राही नैगम.।

का यही लक्षण है कि अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान आदि में सर्वथा भेद मानना। जबकि गुण गुणी से अलग अपनी सत्ता नहीं रखता और न गुणों से भिन्न गुणी का ही अस्तित्व है। इसी प्रकार अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान, सामान्य-विशेष आदि के लिये भी समझना चाहिए। सर्वथा भिन्न मानने से उनमें नियत सम्बन्ध न होने से गुण-गुणीभाव आदि नहीं बन सकते हैं। अतः कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध मानना योग्य है और इस प्रकार का सम्बन्ध नैगमनय का विषय है।

नैगम नय के नौ भेद हैं—प्रारम्भ में (१) पर्यायनैगम, (२) द्रव्यनैगम, (३) द्रव्यपर्यायनैगम इनमें से पर्यायनैगम के अर्थ-पर्यायनैगम, व्यंजन-पर्यायनैगम और अर्थ-व्यंजनपर्यायनैगम ये तीन भेद होते हैं। शुद्धद्रव्यनैगम और अशुद्धद्रव्यनैगम—ये द्रव्यनैगम के दो भेद हैं तथा शुद्ध द्रव्यार्थपर्याय-नैगम, शुद्ध द्रव्य-व्यंजनपर्याय नैगम, अशुद्ध द्रव्यार्थपर्याय-नैगम और अशुद्ध द्रव्यव्यंजनपर्याय-नैगम—ये द्रव्यपर्यायनैगम के चार भेद हैं। इन सबको मिलाने से नैगम नय के नौ भेद होते हैं।

संग्रहनय—विशेषों की अपेक्षा न करके वस्तु को सामान्यरूप से जानने को संग्रहनय कहते हैं।[1] जैसे जीव कहने से त्रस, स्थावर आदि सब प्रकार के जीवों का ज्ञान होता है। भेद सहित सब पर्यायों या विशेषों को अपनी जाति के विरोध के बिना एक मानकर सामान्य से सबको ग्रहण करने वाला नय संग्रहनय है।[2] अथवा समस्त पदार्थों का सम्यक् प्रकार से एकीकरण करके जो अभेदरूप से ग्रहण करता है वह संग्रहनय है।[3] व्यवहार की अपेक्षा न करके जो सत्तादि रूप से सकल पदार्थों का संग्रह करता है, उसे संग्रहनय कहते हैं।[4]

संग्रह नय के उक्त सभी लक्षणों का सामान्य अर्थ यह है कि प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक, भेदाभेदात्मक आदि रूप है। उन धर्मों में से सामान्य धर्म का ग्रहण करना और विशेष धर्म के प्रति उदासीन रहना, संग्रहनय की दृष्टि है। अस्तित्व धर्म को न छोड़कर सम्पूर्ण पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में उपस्थित हैं, इसलिए सम्पूर्ण पदार्थ का सामान्य रूप से ज्ञान कराना संग्रहनय का कार्य है।

संग्रहनय के दो भेद हैं—(१) परसंग्रहनय और (२) अपरसंग्रहनय[5]। सम्पूर्ण

---

१ सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रहः। —जैनतर्कभाषा

२ स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपानीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेणसमस्तग्रहणात् संग्रहः। —सर्वार्थसिद्धि १।३३

३ समेकीभाव सम्यक्त्वे वर्तमानो हि गृह्यते।
निरुक्त्या लक्षणं तस्य तथा सति विभाव्यते॥ —श्लोकवार्तिक १।३३

४ व्यवहारमनपेक्ष्य सत्तादिरूपेण सकलवस्तु संग्राहकाः संग्रहनयः। —धवला, खण्ड १

५ अशेषविशेषविकल्प परसंग्रह। —प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।१५

विशेषों से उदासीन भाव रखकर शुद्ध सत् रूप से समस्त पदार्थों को जानना परसंग्रहनय है।[1] जैसे सामान्य से एक विश्व ही सत् है। द्रव्यत्व पर्यायत्वादि अवान्तर सामान्य को मानकर उनके भेदों में माध्यस्थ्यभाव रखकर जानना अपरसंग्रहनय है।[2] जैसे द्रव्यत्व की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव एक हैं। संसारित्व की अपेक्षा त्रस, स्थावर, नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव एक हैं। अपरसंग्रहनय का क्षेत्र वहाँ तक व्याप्त है जहाँ तक भेदमूलक व्यवहार अपनी चरम सीमा तक नहीं पहुँच जाता है।

परसंग्रह और अपरसंग्रह नय में यह अन्तर है कि परसंग्रहनय तो विशेषों का निषेध न करके विशेषरहित सामान्यमात्र को जानने वाला है, जबकि अवान्तर विशेषों से उदासीन रहकर अवान्तर सामान्य को अपरसंग्रहनय जानता है। परसंग्रहनय का विषय परसामान्य और अपरसंग्रहनय का विषय अवान्तर सामान्य है।

वेदान्त और सांख्य दर्शन सिर्फ संग्रहनय को मानते हैं। सत्ताद्वैत को स्वीकार कर सम्पूर्ण विशेषों का निषेध करना संग्रहाभास है। जैसे—सत्ता ही एक तत्त्व है। अपर सामान्य के भेदों का निषेध करना अपरसंग्रहाभास है। जैसे—धर्मादि को केवल द्रव्यत्व रूप से स्वीकार करके उनके विशेषों का निषेध करना।

व्यवहारनय – संग्रहनय से जाने हुए पदार्थों का योग्य रीति से विभाग करने वाले अभिप्राय को व्यवहारनय कहते हैं।[3] संग्रहनय जिस अर्थ को ग्रहण करता है, उस अर्थ का विशेषरूप से बोध करने के लिए उसका पृथक्करण करना होता है। यद्यपि संग्रहनय में सामान्यमात्र का ग्रहण होता है किन्तु उस सामान्य का रूप क्या है इसका विश्लेषण करने के लिये व्यवहार की आवश्यकता होती है। अतः सामान्य को भेदपूर्वक ग्रहण करना व्यवहारनय है।[4]

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि लोक व्यवहार के अनुसार उपचरित अर्थ को बताने वाले विस्तृत अर्थ को व्यवहार कहते हैं। जितनी वस्तुएँ लोक में प्रसिद्ध हैं अथवा लोकव्यवहार में आती हैं, उन्हीं को मानना व्यवहारनय है। संग्रहनय से जाना हुआ अनादि अनिधन रूप सामान्य व्यवहारनय का विषय नहीं होता है, क्योंकि इस सामान्य का सर्वसाधारण को अनुभव नहीं होता है। इसी प्रकार प्रतिक्षण बदलने वाले परमाणु रूप विशेष भी व्यवहारनय के विषय नहीं हो सकते हैं, क्योंकि वे

१ प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।१५

२ वही ७।१६

३ संग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाभिसन्धिना क्रियते स व्यवहारः। —जैनतर्कभाषा

४ संग्रहेण गृहीतार्थस्य भेदरूपतया वस्तु येन व्यवह्रियते इति व्यवहारः।
—आप्तपरीक्षा ६

का यही लक्षण है कि अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान आदि में सर्वथा भेद मानना। जबकि गुण गुणी से अलग अपनी सत्ता नहीं रखता और न गुणों से भिन्न गुणी का ही अस्तित्व है। इसी प्रकार अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान, सामान्य-विशेष आदि के लिये भी समझना चाहिए। सर्वथा भिन्न मानने से उनमें नियत सम्बन्ध न होने से गुण-गुणीभाव आदि नहीं बन सकते हैं। अतः कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध मानना योग्य है और इस प्रकार का सम्बन्ध नैगमनय का विषय है।

नैगम नय के नौ भेद हैं—प्रारम्भ में (१) पर्यायनैगम, (२) द्रव्यनैगम, (३) द्रव्यपर्यायनैगम इनमें से पर्यायनैगम के अर्थ-पर्यायनैगम, व्यंजन-पर्यायनैगम और अर्थ-व्यंजनपर्यायनैगम ये तीन भेद होते हैं। शुद्धद्रव्यनैगम और अशुद्धद्रव्यनैगम—ये द्रव्यनैगम के दो भेद है तथा शुद्ध द्रव्यार्थपर्याय-नैगम, शुद्ध द्रव्य-व्यंजनपर्याय नैगम, अशुद्ध द्रव्यार्थपर्याय-नैगम और अशुद्ध द्रव्यव्यंजनपर्याय-नैगम—ये द्रव्यपर्यायनैगम के चार भेद हैं। इन सबको मिलाने से नैगम नय के नौ भेद होते हैं।

संग्रहनय—विशेषों की अपेक्षा न करके वस्तु को सामान्यरूप से जानने को संग्रहनय कहते हैं।[१] जैसे जीव कहने से त्रस, स्थावर आदि सब प्रकार के जीवों का ज्ञान होता है। भेद सहित सब पर्यायों या विशेषों को अपनी जाति के विरोध के बिना एक मानकर सामान्य से सबको ग्रहण करने वाला नय संग्रहनय है।[२] अथवा समस्त पदार्थों का सम्यक् प्रकार से एकीकरण करके जो अभेदरूप से ग्रहण करता है वह संग्रहनय है।[३] व्यवहार की अपेक्षा न करके जो सत्तादि रूप से सकल पदार्थों का संग्रह करता है, उसे संग्रहनय कहते है।[४]

संग्रह नय के उक्त सभी लक्षणों का सामान्य अर्थ यह है कि प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक, भेदाभेदात्मक आदि रूप है। उन धर्मों में से सामान्य धर्म का ग्रहण करना और विशेष धर्म के प्रति उदासीन रहना, संग्रहनय की दृष्टि है। अस्तित्व धर्म को न छोड़कर सम्पूर्ण पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में उपस्थित हैं, इसलिए सम्पूर्ण पदार्थ का सामान्य रूप से ज्ञान कराना संग्रहनय का कार्य है।

संग्रहनय के दो भेद हैं—(१) परसंग्रहनय और (२) अपरसंग्रहनय[५]। सम्पूर्ण

---

१ सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रहः। —जैनतर्कभाषा

२ स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपानीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेणसमस्तग्रहणात् संग्रह। —सर्वार्थसिद्धि १।३३

३ समभेदीभाव सम्यक्त्वे वर्तमानो हि गृह्यते।
निरुक्त्या लक्षणं तस्य तथासति विभाव्यते॥ —श्लोकवार्तिक १।३३

४ व्यवहारमनपेक्ष्य सत्तादिरूपेण सकलवस्तु संग्राहकाः संग्रहनयः। —धवला, खण्ड १३

५ अयमुभयविकल्पः परोऽपरश्च। —प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।१४

विशेषों में उदासीन भाव रखकर शुद्ध सत् रूप से समस्त पदार्थों को जानना परसंग्रहनय है।[1] जैसे सामान्य से एक विश्व ही सत् है। द्रव्यत्व पर्यायत्वादि अवान्तर सामान्य को मानकर उनके भेदों में माध्यस्थभाव रखकर जानना अपरसंग्रहनय है।[2] जैसे द्रव्यत्व की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव एक हैं। संसारित्व की अपेक्षा त्रस स्थावर, नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव एक हैं। अपरसंग्रहनय का क्षेत्र वहाँ तक व्याप्त है जहाँ तक भेदमूलक व्यवहार अपनी चरम सीमा तक नहीं पहुँच जाता है।

परसंग्रह और अपरसंग्रह नय में यह अन्तर है कि परसंग्रहनय तो विशेषों का निषेध न करके विशेषरहित सामान्यमात्र को जानने वाला है, जबकि अवान्तर विशेषों में उदासीन रहकर अवान्तर सामान्य को अपरसंग्रहनय जानता है। परसंग्रहनय का विषय परसामान्य और अपरसंग्रहनय का विषय अवान्तर सामान्य है।

वेदान्त और सांख्य दर्शन सिर्फ संग्रहनय को मानते हैं। सत्ताद्वैत को स्वीकार कर सम्पूर्ण विशेषों का निषेध करना संग्रहाभास है। जैसे—सत्ता ही एक तत्त्व है। अपर सामान्य के भेदों का निषेध करना अपरसंग्रहाभास है। जैसे—धर्मादि को केवल द्रव्यत्व रूप से स्वीकार करके उनके विशेषों का निषेध करना।

व्यवहारनय – संग्रहनय से जाने हुए पदार्थों का योग्य रीति से विभाग करने वाले अभिप्राय को व्यवहारनय कहते हैं।[3] संग्रहनय जिस अर्थ को ग्रहण करता है, उस अर्थ का विशेषरूप से बोध कराने के लिए उसका पृथक्करण करना होता है। यद्यपि संग्रहनय में सामान्यमात्र का ग्रहण होता है किन्तु उस सामान्य का रूप क्या है इसका विश्लेषण करने के लिये व्यवहार की आवश्यकता होती है। अतः सामान्य को भेदपूर्वक ग्रहण करना व्यवहारनय है।[4]

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि लोक व्यवहार के अनुसार उपचरित अर्थ को बताने वाले विस्तृत अर्थ को व्यवहार कहते हैं। जितनी वस्तुएँ संसार में प्रसिद्ध हैं अथवा लोकव्यवहार में आती हैं, उन्हीं को मानना व्यवहारनय है। संग्रहनय से जाना हुआ अनादि अनिधन रूप सामान्य व्यवहारनय का विषय नहीं होता है, क्योंकि इस सामान्य का सर्वसाधारण को अनुभव नहीं होता है। इसी प्रकार प्रतिक्षण बदलने वाले परमाणु रूप विशेष भी व्यवहारनय के विषय नहीं हो सकते हैं, क्योंकि वे

---

१ प्रमाणनयतत्त्वालोक ७।१५

२ वही ७।१९

३ संग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाभिसंधिना क्रियते स व्यवहारः। —जैनतर्कभाषा

४ संग्रहेण गृहीतार्थस्य भेदरूपतया वस्तु येन व्यवह्रियते इति व्यवहारः। —आप्तपरीक्षा

परमाणु आदि अतिसूक्ष्म पदार्थ हमारे इन्द्रिय प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के विषय नहीं हैं, किन्तु कुछ क्षण स्थायी रहने वाली वस्तु हमारी इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य है। अतः व्यवहारनय की अपेक्षा कुछ समय तक रहने वाली स्थूल पर्याय को धारण करने वाले और जल धारण आदि करने वाली क्रियाओं का करने में समर्थ घटादि वस्तु ही प्रमाणसिद्ध है। क्योंकि इनके मानने से लोक में कोई विरोध नहीं आता है। निष्कर्ष यह हुआ कि संग्रहनय से जानी हुई सत्ता को प्रत्येक पदार्थ में भिन्न-भिन्न रूप से मानकर व्यवहार करने को व्यवहारनय कहते हैं। व्यवहारनय उपचारबहुल और लौकिक दृष्टि को लेकर चलता है।[1] जैसे--जो सत है, वह द्रव्य है या पर्याय है। द्रव्य धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, और जीव के भेद से छह प्रकार का है। पर्याय के सहभावी और क्रमभावी ये दो भेद हैं इत्यादि।

कहने का तात्पर्य यह है कि संग्रहनय से जाने हुए पदार्थों में योग्य रीति से विभाग करने को व्यवहारनय कहते हैं। इस नय की प्रवृत्ति यहाँ तक होती है यहाँ तक कि संग्रहनय से गृहीत वस्तु में अन्य कोई विभाग करना सम्भव नहीं रहता है। अर्थात् जब तक भेदों की मुख्यता रहती है तब तक व्यवहारनय की प्रवृत्ति होती रहती है।[2] सामान्य बुद्धि वाले जीवों के लिए व्यवहारनय उपकारी है। क्योंकि व्यवहार से ही निश्चय तत्त्व ज्ञान की उपलब्धि होती है तथा व्यवहार के बिना तत्त्व का प्रतिपादन भी नहीं हो सकता और इसी के द्वारा वस्तु में आस्तिक्य बुद्धि भी उत्पन्न होती है।

द्रव्य और पर्याय का वास्तविक भेद मानना व्यवहारनय है किन्तु लोकविरुद्ध विसंवादी और वस्तुस्थिति की उपेक्षा करनेवाली भेद कल्पना व्यवहाराभास है। जैसे कि चार्वाक दर्शन। चार्वाक द्रव्य के पर्यायादि को न मानकर केवल भूतचतुष्टय को मानते हैं, अतः उनको व्यवहाराभास कहा गया है। व्यवहाराभास द्रव्य और पर्यायों के आरोपित किये गये कल्पित विभागों को वास्तविक मान लेता है जो प्रमाण-बाधित होते हैं।[3]

व्यवहारनय संग्रहनय गृहीत वस्तु में प्रमाणसिद्ध अविसंवादी रूप से भेद करता

---

१ (क) लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहार (नयः)।

— तत्त्वार्थभाष्य १।१

(ख) विशेषप्रतिपादनपरो व्यवहारनयः।

—आचार्य मलयगिरि

२ एवमयं नयस्तावद् वर्तते यावत् पुनर्नास्ति विभागः।

—सर्वार्थसिद्धि १।३३

३ कल्पनारोपित द्रव्य-पर्याय-प्रविभाग भाक्।
प्रमाणबाधितोऽन्यास्तु तदाभासोऽवसीयताम्॥

—श्लोकवार्तिक १।३३

है। अतः व्यवहारनय के दो भेद हैं—सामान्यभेदक और विशेषभेदक। सामान्यसंग्रह के दो भेद करने वाले नय को सामान्यभेदक व्यवहारनय कहते हैं। जैसे कि द्रव्य के दो भेद है—जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। विशेषसंग्रह मे अनेक भेद करने वाला विशेषभेदक व्यवहारनय कहलाता है। जैसे ससारी जीव के नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार भेद हैं।[1]

सद्भूतव्यवहार और असद्भूतव्यवहार यह दो भेद भी व्यवहारनय के होते हैं। सद्भूतव्यवहार एक वस्तु विषयक होता है और असद्भूतव्यवहार भिन्न वस्तु-विषयक। अर्थात् एक वस्तु मे गुण-गुणी का भेद करना सद्भूत या एकत्व व्यवहार है और भिन्न वस्तुओ मे परस्पर कर्ता, कर्म व स्वामित्व आदि सम्बन्धो से भेद करना असद्भूत या पृथक्त्वव्यवहार कहलाता है।[2]

व्यवहारनय का मुख्य प्रयोजन व्यवहार की सिद्धि करना है।[3] यह नय लोक-सिद्ध व्यवहार का अविरोधी होता है और लोक-व्यवहार का आधार है—अर्थ, शब्द और ज्ञान। यद्यपि व्यवहारनय का विषय भेदाभेदात्मक और विशेषात्मक है, किन्तु वह पर्याय को नही, द्रव्य को ग्रहण करता है। इसलिये व्यवहारनय की परिगणना द्रव्यार्थिक नय के अन्तर्गत की जाती है। द्रव्यगत भेदो की मुख्यता तक व्यवहारनय है, लेकिन जब कालकृत भेद प्रारम्भ हो जाते हैं तभी से ऋजुसूत्र आदि नयो का प्रारम्भ होता है।

ऋजुसूत्रनय—वर्तमान कालवर्ती पर्याय को मान्य करने वाले, ग्रहण करने वाले अभिप्राय को ऋजुसूत्रनय कहते हैं।[4] क्योकि अतीत के विनष्ट और अनागत के अनुत्पन्न होने से उन दोनों कालवर्ती पर्याय, आकाशकुसुमवत् सम्पूर्ण सामर्थ्य से रहित होने के कारण किसी भी अर्थक्रिया को नही करती है, जिससे वह पूर्व और उत्तरवर्ती

---

१ आप्तमीमासा ९
२ व्यवहारो द्विविधः सद्भूतव्यवहारो असद्भूतव्यवहारश्च । तत्रैकवस्तुविषयः सद्भूतव्यवहारः । भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः । —नयचक्र पृ० २५
३ व्यवहारानुकूल्या तु प्रमाणाना प्रमाणता ।
नान्यथा बाध्यमानाना ज्ञानाना तत्प्रसगत ॥ —लघीयस्त्रय ३।६।७०
४ (क) ऋजु वर्तमान क्षणस्थायिपर्यायमात्र प्राधान्यतः सूचयन्नभिप्राय ऋजुसूत्रः । —जैनतर्कभाषा
(ख) पच्चुप्पन्नग्गाही उज्जुसूओ नयविही मुणेअव्वो । —अनुयोगद्वारसूत्र
—'प्रत्युत्पन्न' का आवश्यक सूत्र टीका मे 'वर्तमान' अर्थ किया है—
"साम्प्रतमुत्पन्नं प्रत्युत्पन्नमुच्यते वर्तमानमिति ।"

कालों के विषय को ग्रहण न करके वर्तमानकाल के विषयभूत पदार्थ को ग्रहण करता है। वर्तमान क्षण की पर्याय मात्र की प्रधानता से ऋजुसूत्रनय वस्तु का कथन करता है। जैसे—इस समय मैं सुख पर्याय को भोगता हूँ। यहाँ क्षणस्थायी सुख-पर्याय को मुख्य मानकर उसके आधारभूत आत्म द्रव्य को गौण कर दिया गया है।

द्रव्य के सर्वथा निषेध करने को ऋजुसूत्रनयाभास कहते हैं।[1] जैसे कि बौद्ध दर्शन। बौद्ध बहिरंग और अंतरंग दोनों द्रव्यों का अपलाप करते हैं। वे क्षण-क्षण मे नाश होनेवाली पर्यायों को ही वास्तविक मानकर पर्यायों के आश्रय द्रव्य को स्वीकार नहीं करते हैं। अर्थात् ऋजुसूत्रनय तो द्रव्य को गौण करके पर्याय को मुख्यता देता है, किन्तु द्रव्य का निषेध नहीं करता है, जबकि ऋजुसूत्रनयाभास द्रव्य का एकांत रूप से निषेध करके पर्यायों को ही वास्तविक मानकर पर्यायों मे अनुगत रूप से रहने वाले द्रव्य का निषेध कर देता है।

ऋजुसूत्रनय के दो भेद हैं (१) सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय और (२) स्थूल ऋजुसूत्रनय। सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय एक समय अवस्थाव्यापी पर्याय को विषय करता है और चक्षु इन्द्रिय की विषयभूत व्यंजन-पर्यायों को स्थूल ऋजुसूत्रनय जानता है।[2]

ऋजुसूत्रनय पर्यायार्थिक है। क्योंकि द्रव्य में कालकृत भेद प्रारम्भ होने के साथ इस नय का क्षेत्र प्रारम्भ होता है।

ऋजुसूत्रनय विषयक उक्त कथन का सारांश यह है कि इसकी दृष्टि सूक्ष्म विश्लेषणात्मक है। वस्तु की प्रत्येक अवस्था भिन्न-भिन्न है। प्रथम और द्वितीय क्षण की अवस्था मे भेद है और जिस क्षण की जो अवस्था है, वह उसी क्षण तक सीमित है। इस नय को लोक-व्यवहार चले या न चले, इसकी चिन्ता नहीं होती है, किन्तु वर्तमान कालीन अवस्था को मुख्य मानकर अपना अभिप्राय व्यक्त करता है। फिर भी पूर्वापरव्यापी द्रव्य का अस्तित्व गौण रूप से स्वीकार करता है।

शब्दनय—पर्यायवाची शब्दों में भी काल, कारक, लिंग, संख्या, पुरुष और उपसर्ग के भेद से अर्थ भेद मानना शब्दनय है।[3] जैसे कि—

कालभेद—सुमेरु था, है और होगा। यहाँ अतीत, वर्तमान और भविष्यत् काल के भेद से यह नय सुमेरु को भिन्न-भिन्न मानता है।

---

१ (क) सर्वथा द्रव्यापलापी तदाभासः। —प्रमाण-नयतत्त्वालोक ७।३०
(ख) श्लोकवार्तिक १।३३

२ (क) एकस्मिन् समये वस्तुपर्यायं यस्तु पश्यति।
ऋजुसूत्रो भवेत् सूक्ष्मः स्थूलः स्थूलार्थगोचरः॥ —नयचक्र
(ख) आप्तपरीक्षा ५

३ कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदप्रतिपद्यमानः शब्दः। कालकारकलिंगसंख्यापुरुषोपसर्गाः कालादयः। —जैनतर्कभाषा

कारकभेद—कुम्भकार घट बनाता है और कुम्भकार के द्वारा घट को बनाया जाता है। यहाँ कर्तृकारक और करणकारक के भेद से शब्दनय घट में भेद मानता है।

लिंगभेद—तट (पुल्लिंग) तटी (स्त्रीलिंग), यहाँ लिंगभेद से तट और तटी में भेद मानता है।

वचनभेद—दारा और कलत्र यह दोनों शब्द पत्नी वाचक हैं। लेकिन दारा बहुवचनांत है और कलत्र एक वचनान्त। अतः शब्द नय दोनों का अर्थ अलग-अलग मानता है।

पुरुषभेद—तुम जाओगे और आप जायेंगे, यहाँ मध्यम पुरुष और प्रथम पुरुष के भेद से शब्दनय भेद मानता है।

उपसर्गभेद—आ-हार वि-हार, स-हार इन तीनों शब्दों में मूल धातु एक है लेकिन क्रमशः आ, वि, सम् उपसर्ग लगने से इन तीनों शब्दों के अर्थ में भेद हो गया। जैसे कि आहार का अर्थ भोजन, विहार का अर्थ गमन और संहार का अर्थ विनाश हो जाता है।[1]

इस प्रकार से विभिन्न सयोगों के आधार पर जो शब्दों में अर्थभेद की कल्पनाएँ की जाती हैं वे सब शब्दनय में गर्भित होती हैं।

शब्द-शास्त्र के विकास का कारण यह शब्द नय है, जो वैयाकरणों को शब्द-शास्त्र की सिद्धि का दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है कि जब तक वस्तु को अनेकात्मक नहीं मानोगे तब तक एक ही वर्तमान पर्याय में विभिन्न लिंगक और विभिन्न संख्याक शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकोगे, अन्यथा व्यभिचार दोष होगा। अतः उस एक पर्याय में शब्दभेद से अर्थभेद मानना ही होगा तथा शब्द-शास्त्र की सिद्धि अनेकांत से ही हो सकती है। इसीलिये जैनेन्द्र व्याकरण का प्रारम्भ 'सिद्धिरनेकांतात्' सूत्र से और हेम शब्दानुशासन का प्रारम्भ 'सिद्धिः स्याद्वादात्' सूत्र से किया गया है।

शब्द और अर्थ को सर्वथा भिन्न मानना शब्दाभास है। शब्दनय पर्याय दृष्टि वाला है, जिससे वह भिन्न-भिन्न पर्यायों को स्वीकार करता है और द्रव्य को गौण करके उसके प्रति उदासीन रहता है। जबकि शब्दनयाभास विभिन्न कालों में अनुगत रहने वाले द्रव्य का सर्वथा निषेध करता है।[2] काल आदि के भेद से शब्दवाच्य पदार्थ में एकांत भेद मानता है। जैसे कि सुमेरु था, है और होगा आदि भिन्न-भिन्न काल के शब्द सर्वथा भिन्न पदार्थों का कथन करते हैं, क्योंकि वे भिन्न

---

१ उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्य: प्रतीयते। प्रहाराहार, संहार, विहार परिहारवत् ॥ —सिद्धांतकौमुदी

२ तद् भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः। —स्याद्वादमंजरी श्लोक २८

कालवाचक शब्द हैं, जैसे भिन्न पदार्थों का कथन करने वाले दूसरे भिन्न कालीन शब्द इत्यादि।

समभिरूढनय—यह नय पर्यायवाची शब्दों में भिन्न अर्थ को द्योतित करता है इसलिये निरुक्ति (व्युत्पत्ति) के भेद से पर्यायवाची शब्दों के अर्थ में भेद स्वीकार करने वाले दृष्टिकोण को समभिरूढ नय कहते हैं।[1] जैसे कि इन्द्र, शक्र और पुरंदर शब्दों के पर्यायवाची होने पर भी समभिरूढ नय के द्वारा इन्द्र से परम ऐश्वर्यवान् (इन्दनात् इन्द्रः), शक्र से सामर्थ्यवान् (शकनात् शक्रः) और पुरन्दर से नगरों का विदारण करने वाले (पुर्दारणात् पुरन्दर) भिन्न-भिन्न अर्थों का ज्ञान होता है। क्योंकि भिन्न-भिन्न व्युत्पत्ति से पर्यायवाची शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों के द्योतक हैं।

शब्दनय तो समान काल, कारक, लिंग आदि वाले पर्यायवाची शब्दों का एक ही अर्थ स्वीकार करता है। वह केवल कारक आदि का भेद हो जाने पर ही पर्यायवाची शब्दों में अर्थभेद मानता है, किन्तु कारकादि का भेद न होने पर अर्थात् समानकारकादि वाले पर्यायवाची शब्दों में अभिन्न अर्थ स्वीकार करता है और समभिरूढनय तो पर्यायभेद होने पर भी उन शब्दों में अर्थ भेद मानता है।[2]

समभिरूढनय कोशकारों को दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है। जिन्होंने एक ही वस्तु के अनेक पर्यायवाची नाम— शब्द तो कह दिये परन्तु उस वस्तु में उन पर्याय शब्दों की वाच्य शक्ति अलग-अलग स्वीकार नहीं की। जैसे कि राजा या पृथ्वी के पर्यायवाची शब्दों की भिन्न व्युत्पत्ति होने से वे भिन्न-भिन्न अर्थ को सूचित करते हैं। अतः वस्तु को भिन्न-भिन्न संज्ञाओं के भेद से भिन्न-भिन्न मानना, पर्यायवाची शब्दों में निरुक्ति भेद से भिन्न अर्थ को कहना समभिरूढनय का विषय है। लेकिन पर्यायवाची शब्दों को सर्वथा भिन्न मानना समभिरूढनयाभास है। जैसे कि करि, कुरंग, तुरग शब्द परस्पर भिन्न है, वैसे ही इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि शब्दों को सर्वथा भिन्न मानना समभिरूढनयाभास है।[3]

एवंभूतनय—जिस समय पदार्थों में जो क्रिया होती है, उस समय क्रिया के अनुकूल शब्दों से अर्थ के प्रतिपादन करने को एवंभूतनय कहते हैं।[4] जैसे कि ऐश्वर्य

---

१ पर्याय शब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः।

—जैनतर्कभाषा

२ पर्याय-भेदेऽपि चाभिन्नमर्थं शब्दो मन्यते कारकादि भेदादेवार्थभेदाभिमननात् समभिरूढः पुनः पर्यायभेदेऽपि भिन्नार्थानामभिप्रैति। —श्लोकवार्तिक १।३३

३ पर्यायध्वनीनामभिधेय नानात्वमेव कक्षीकुर्वाणस्तदाभासः।

—स्याद्वादमंजरी, श्लोक २८

४ (क) शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवम्भूतः।

— जैनतर्कभाषा

(ख) येनात्मनाभूतस्तेनैवाध्यवसायनीति एवंभूतः। —सर्वार्थसिद्धि १।३३

का अनुभव करते समय इन्द्र, समर्थ होने के समय शक्र और नगरों का नाश करने के समय पुरन्दर कहना।

एवंभूतनय निश्चय प्रधान है। शब्दों की जो व्युत्पत्ति है और उस व्युत्पत्ति की निमित्तभूत क्रिया जब पदार्थ में हो तभी वह पदार्थ को उस शब्द का वाच्य मानता है। एवंभूतनय की दृष्टि में ऐसा कोई शब्द नहीं है जो क्रियावाचक न हो। जैसे—गौ, अश्व आदि शब्द जातिवाचक समझे जाते हैं, वे भी वास्तव में क्रिया शब्द है—जो गमन करे वह गौ, आशु (शीघ्र) गमन करे वह अश्व। गुणवाचक माने जाने वाले शब्द शुक्ल, नील भी क्रिया शब्द हैं—शुचि होने से शुक्ल और नीलरंग होने से नील कहा जाता है। देवदत्त या यज्ञदत्त आदि अनेक नाम वाचक शब्द भी क्रियाशब्द ही हैं—देव जिसे दे या यज्ञ जिसे दे अथवा देव या यज्ञ द्वारा जो दिया गया हो वह देवदत्त या यज्ञदत्त कहलाता है। इसी प्रकार संयोगी द्रव्य और समवायी द्रव्य शब्द भी क्रियाशब्द हैं, जैसे दण्डी और विषाणी शब्द। क्योंकि इनमें दण्ड और विषाण होने की क्रिया की प्रधानता है। शब्दों के यह जो पाँच प्रकार माने जाते हैं, वे इस नय के अभिप्राय से व्यवहारमात्र हैं किन्तु निश्चय में पाँच भेद नहीं हैं।

समभिरूढ और एवंभूतनय में यह अन्तर है कि समभिरूढनय तो उस समय क्रिया हो या न हो परन्तु शक्ति की अपेक्षा उन शब्दों का प्रयोग वस्तु के लिए स्वीकार कर लेता है किन्तु एवंभूतनय में ऐसा नहीं है। वह तो मानता है कि क्रियाक्षण में कर्ता कहना चाहिए, अन्य क्षण में नहीं। जैसे कि पूजा करते समय ही पुजारी कहना चाहिए, अन्य समय में नहीं। यह नय वार्तमानिक शक्ति की अभिव्यक्ति देखता है।

जिस समय पदार्थ में जो क्रिया होती है, उस समय को छोड़कर दूसरे समय उस पदार्थ को उस नाम से नहीं कहना एवंभूतनयाभास है।[1] जैसे कि जल लाने के समय ही घड़े को घट कहना, दूसरे समय नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि एवंभूतनय तो जिस काल में जो क्रिया हो रही है, उस काल में उस क्रिया से सबद्ध विशेषण या विशेष्य नाम का व्यवहार करने वाला विचार है किन्तु वह अपने से भिन्न दृष्टिकोण का निषेध नहीं करता है किन्तु एवंभूतनयाभास एकान्तरूप से क्रियायुक्त पदार्थ को ही शब्द का वाच्य मानता है और उस क्रिया से रहित वस्तु को उस शब्द का वाच्य मानने का निषेध करता है। इसके लिए उसका उदाहरण यह है कि यदि घटन क्रिया के अभाव में घट कह सकते हैं तो पट को भी घट कह देना अनुचित न होगा। फिर तो हम किसी भी शब्द से किसी भी पदार्थ को कह सकते हैं। इस अवस्था को रोकने का उपाय यही है कि जिस-जिस शब्द से जिस क्रिया का भान हो, उस क्रिया की विद्यमानता में ही उस शब्द का प्रयोग करना चाहिये, दूसरे समय में नहीं। इस दलील

---

१ क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपस्तु तदाभासः।
—स्याद्वादमंजरी श्लोक २८

का यह निष्कर्ष निकला कि क्रिया से रहित वस्तु को उस शब्द का वाच्य मानने में निषेध करना ही उसकी एवंभूताभासता है।

नयों का पारस्परिक सम्बन्ध

उक्त नैगम आदि सात नयों में से पूर्व-पूर्व नय से उत्तर-उत्तर नय का विषय अल्प-सूक्ष्म होता जाता है। पूर्व में नैगमनय आदि सातों नयों के लक्षण कहे जा चुके हैं। उनमें से नैगमनय का विषय सामान्य और विशेष, भेद और अभेद दोनों को ग्रहण करने के कारण सबसे अधिक है। वह कभी सामान्य को मुख्य रूप से ग्रहण करता है और विशेष को गौण रूप से, तो कभी विशेष को मुख्य रूप से ग्रहण करता है और सामान्य का गौण रूप से अवलम्बन लेता है। नैगमनय की अपेक्षा संग्रहनय की दृष्टि सूक्ष्म—संकीर्ण है। क्योंकि नैगमनय सत् के द्वारा विद्यमान और अविद्यमान, सामान्य और विशेष, भेद और अभेद आदि दोनों को जानता है, जबकि संग्रहनय सन्मात्र को ही, वह केवल सामान्य और अभेद का विषय करता है, संग्रहनय से भी व्यवहारनय का विषय कम है, क्योंकि वह संग्रहनय द्वारा गृहीत विषय का विशेषताओं के आधार पर पृथक्करण करता है। संग्रहनय समस्त सामान्य पदार्थों को जानता है और व्यवहारनय संग्रह से जाने हुए पदार्थ को विशेष रूप से ग्रहण करता है। ऋजुसूत्रनय का विषय व्यवहारनय से कम है। क्योंकि व्यवहारनय त्रैकालिक विषय की सत्ता मानता है, जबकि ऋजुसूत्रनय से वर्तमान पदार्थ का ज्ञान होता है। ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा शब्द-नय का विषय कम है। क्योंकि शब्दनय काल आदि के भेद से वर्तमान पर्याय में भेद मानता है। अर्थात् शब्दनय वर्तमान पर्याय के वाचक अनेक पर्यायवाची शब्दों में से काल, लिंग, संख्या, पुरुष आदि रूप व्याकरण सम्बन्धी विषमताओं का निराकरण करके मात्र समान काल, लिंग आदि वाले शब्दों को ही एकार्थवाची स्वीकार करता है, जबकि ऋजुसूत्रनय में काल आदि का कोई भेद नहीं होता है। शब्दनय से भी सम-भिरूढनय का विषय कम है। क्योंकि वह पर्याय तथा व्युत्पत्ति भेद से अर्थभेद मानता है। जबकि शब्दनय पर्यायवाची शब्दों में किसी प्रकार का भेद अंगीकार नहीं करता है। अर्थात् समभिरूढनय इन्द्र, शक्र आदि (समान काल, लिंग आदि वाले) एकार्थवाचं शब्दों को भी व्युत्पत्ति की अपेक्षा भिन्न रूप से जानता है अथवा उनमें से किसी एक ही शब्द को वाचक रूप से रूढ करता है, परन्तु शब्दनय में वह सूक्ष्मता नहीं रहती है। एवंभूतनय का विषय समभिरूढनय से भी कम है। क्योंकि वह अर्थ को तभी उस शब्द द्वारा वाच्य मानता है जब अर्थ अपनी व्युत्पत्तिमूलक क्रिया में लगा हुआ हो।

अतएव इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व-पूर्व नय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर का नय सूक्ष्म और सूक्ष्मतर विषय वाला होता जाता है और उत्तर-उत्तर नय का विषय पूर्व-पूर्व नय के विषय पर ही अवलम्बित रहता है तथा प्रत्येक का विषय क्षेत्र उत्तरोत्तर कम होने से इनका परस्पर में पौर्वापर्य सम्बन्ध है।

नय विभाग का आधार

वस्तु भेद-अभेद, सामान्य-विशेष, नित्य-अनित्य आदि अनन्तधर्मात्मक है और ये अनन्त धर्म परस्पर विरुद्ध होकर भी सापेक्ष हैं। इनमे से अभेद, सामान्य, नित्य आदि संग्रह दृष्टि का आधार हैं और भेद आदि व्यवहारदृष्टि का। संग्रहनय भेद को स्वीकार नही करता है और व्यवहारनय अभेद को अग्राह्य मानता है। जबकि नैगमनय का आधार है अभेद और भेद तथा ये दोनो एक पदार्थ मे रहते हैं। वे दोनों सर्वथा दो नही है किन्तु गौण और मुख्य भाव से दो हैं। यद्यपि नैगमनय की दृष्टि मे मुख्यता एक की ही रहती है, दूसरा सामने रहता तो है किन्तु गौण रूप से, कभी वह धर्मी को मुख्य मानकर विवेचना करता है और कभी धर्म को। अपेक्षा या प्रयोजन के अनुसार क्रम मे परिवर्तन होता रहता है।

ऋजुसूत्रनय का आधार चरम भेद है। वह अतीत और अनागत पर्याय को वास्तविक न मानकर सिर्फ वर्तमान पर्याय को यथार्थ मानता है। शब्दनय भी भेद-परक है। शब्द के भेद रूप के अनुसार अर्थ का भेद होना है—यह शब्दनय का आधार है। प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न होता है और एक अर्थ के दो वाचक नही हो सकते हैं—यह समभिरूढनय की मूल भित्ति है। एवंभूतनय का अभिप्राय विशुद्धतम भेदपरक है। इस नय के अनुसार अर्थ के लिए शब्द का प्रयोग उसकी प्रस्तुत क्रिया के अनुसार होना चाहिए। समभिरूढनय तो अर्थ की क्रिया मे अप्रवृत्त शब्द को भी उसका वाचक मान लेता है और वह वाच्य व वाचक के प्रयोग को त्रैकालिक मानता है किन्तु एवंभूतनय वाच्य-वाचक के प्रयोग को केवल वर्तमान काल मे स्वीकार करता है। क्रिया हो चुकने पर और क्रिया की सम्भाव्यता पर अमुक अर्थ का अमुक वाचक है—ऐसा एवंभूतनय की दृष्टि से नही हो सकता है।

उक्त कथन का फलितार्थ यह है कि नैगमनय आदि सात नयो मे से नैगमनय की दृष्टि भेद और अभेद दोनों से संयुक्त है। यह संयुक्त दृष्टि इस बात की सूचक है कि भेद में अभेद और अभेद में भेद सम्लिष्ट है। ये दोनो सर्वथा दो या सर्वथा एक अथवा अभेद तात्त्विक और भेद काल्पनिक, या भेद तात्त्विक और अभेद काल्पनिक नही है। जैनदर्शन को अभेद मान्य है किन्तु भेद का तिरस्कार करके नही। इसी प्रकार भेद भी मान्य है किन्तु अभेद के अभाव में नही। सचेतन और अचेतन (जीव और पुद्गल) दोनो पदार्थ सत् हैं, इसलिए तो एक हैं—अभिन्न हैं, किन्तु दोनों में स्वभाव भेद है इसलिए वे अनेक हैं—भिन्न हैं। वस्तुत अभेद और भेद दोनो तात्त्विक हैं। क्योंकि भेदशून्य अभेद मे अर्थक्रिया नही होती है—अर्थक्रिया विशेष दशा मे होती है और अभेदशून्य भेद में भी अर्थक्रिया नहीं होती है। कारण और कार्य का सम्बन्ध नही जुड़ता है। पूर्व क्षण उत्तर क्षण का कारण तभी बन सकता है जबकि दोनो में एक अन्वयी माना जाये, एक ध्रुव या अभेदांश माना जाये। इसीलिए जैन दर्शन मे अभेदाश्रित भेद और भेदाश्रित अभेद को स्वीकार किया गया है।

संग्रहनय की दृष्टि अभेदपरक है और शेष व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत इन पाँच नयों की दृष्टियाँ भेद-प्रधान हैं।

इस प्रकार सातों नयों के विषय निम्न प्रकार बनते हैं—

(१) नैगमनय—अर्थ का अभेद और भेद तथा दोनों।

(२) संग्रहनय—अभेद,

(क) पर-संग्रह—चरम अभेद,

(ख) अपर-संग्रह—अवान्तर अभेद।

(३) व्यवहारनय—भेद, अवान्तर भेद।

(४) ऋजुसूत्रनय—चरम भेद।

(५) शब्दनय—भेद।

(६) समभिरूढनय—भेद।

(७) एवंभूतनय—भेद।

दो परम्परायें

पूर्व में यह संकेत किया जा चुका है कि अभिप्रायों की अनंतता होने से नयों के भी अनन्त भेद हो सकते हैं। इसके साथ ही यह भी बताया गया है कि सामान्यतया अभिप्रायों की अनन्तता होने पर भी उन्हें—एक अभेद को ग्रहण करने वाले और दूसरे भेद को ग्रहण करने वाले—इन दो विभागों में बाँटा जा सकता है। वस्तु में स्वरूपतः अभेद है, वह अखण्ड है और अपने में एक व मौलिक है। उसे अनेक गुण-पर्याय और धर्मों के द्वारा अनेक रूप में ग्रहण किया जाता है। अभेदग्राहिणी दृष्टि को द्रव्यार्थिक नय कहा जाता है और भेदग्राहिणी दृष्टि को पर्यायार्थिक नय। द्रव्य को मुख्य रूप से ग्रहण करने वाला नय द्रव्यार्थिक या अव्युच्छित्तिनय और पर्याय को ग्रहण करने वाला नय पर्यायार्थिक या व्युच्छित्तिनय कहलाता है। अभेद अर्थात् सामान्य और भेद यानी विशेष। वस्तुओं में अभेद और भेद की कल्पना के दो प्रकार हैं, पहला तो एक, अखण्ड मौलिक द्रव्य में अपनी द्रव्य शक्ति के कारण विवक्षित अभेद जो द्रव्य या ऊर्ध्वतासामान्य कहा जाता है। यह अपनी कालक्रम से होने वाली क्रमिक पर्यायों में ऊपर से नीचे तक व्याप्त रहता है। यह जिस प्रकार अपनी क्रमिक पर्यायों में व्याप्त रहता है, उसी प्रकार अपने सहभावी गुणों तथा धर्मों को भी व्याप्त करता है। दूसरी अभेद कल्पना विभिन्न सत्ताक अनेक द्रव्यों में संग्रह की दृष्टि से की जाती है, जो शब्दव्यवहार के निर्वाह के लिए सादृश्य की अपेक्षा से होती है। इसको तिर्यक्सामान्य कहते हैं। यह अनेक द्रव्यों में तिरछी चलती है। जैसे कि अनेक स्वतन्त्र सत्ताक मनुष्यों में सादृश्य मूलक मनुष्यत्व जाति की अपेक्षा मनुष्यत्व सामान्य की कल्पना करना।

एक द्रव्य की पर्यायों में होने वाली भेद कल्पना पर्याय-विशेष कहलाती है

तथा विभिन्न द्रव्यों में प्रतीत होने वाली भेद कल्पना को व्यतिरेकविशेष कहा जाता है।

इस प्रकार से दोनों प्रकार के अभेदों—ऊर्ध्वता और तिर्यक् सामान्य को विषय करने वाली दृष्टि को द्रव्यार्थिकनय और दोनों भेदों को विषय करने वाली दृष्टि को पर्यायार्थिकनय कहते हैं।

नैगमादि सातों नयों में से किस नय को द्रव्यार्थिक विभाग में गर्भित करना और किस को पर्यायार्थिकनय में; इसके सम्बन्ध में दो परम्पराएँ हैं—एक सैद्धान्तिकों की और दूसरी तार्किकों की। सैद्धान्तिक परम्परा के अग्रणी श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हैं। उनके अभिमतानुसार नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय द्रव्यार्थिक हैं और शेष शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत ये तीन नय पर्यायार्थिक हैं।

सैद्धान्तिकों का ऋजुसूत्रनय को द्रव्यार्थिक मानने का आधार अनुयोगद्वार सूत्र का निम्न सूत्र है—

उज्जुसुअस्स एगो अणुवउत्तो आगमतो एगं दव्वावस्सयं पुहुत्तं नेच्छइ।[1]

इसका भाव यह है कि ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से उपयोग-शून्य व्यक्ति द्रव्यावश्यक है। जिससे सैद्धान्तिक परम्परा का यह मत निश्चित हुआ कि यदि ऋजुसूत्रनय को द्रव्यग्राही न माना जायेगा तो उक्त सूत्र में विरोध आयेगा।

तार्किक परम्परा के प्रमुख हैं सिद्धसेन दिवाकर। उनके अभिमतानुसार नैगम आदि पहले तीन नय द्रव्यार्थिक हैं और शेष ऋजुसूत्र आदि चार नय पर्यायार्थिक हैं।[2] तार्किक मत के अनुसार अनुयोग-द्वार सूत्र में वर्तमान आवश्यक पर्याय में द्रव्य पद का उपचार किया गया है। इसलिये वहाँ कोई विरोध नहीं आता है।[3] सैद्धान्तिक गौण द्रव्य को द्रव्य मानकर इसे द्रव्यार्थिक मानते हैं और तार्किक वर्तमान पर्याय का द्रव्य रूप से उपचार और वास्तविक दृष्टि से वर्तमान पर्याय मानकर उसे पर्यायार्थिक मानते हैं। लेकिन मुख्य द्रव्य कोई नहीं मानता है। एक दृष्टि का विषय है—गौण द्रव्य और एक का विषय है पर्याय। दोनों में अपेक्षाभेद है, तात्त्विक विरोध नहीं है।

द्रव्यार्थिकनय द्रव्य को ही मानता है, पर्याय को नहीं तथा पर्यायार्थिकनय पर्याय को मानता है और द्रव्य को नहीं। तब ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों को दुर्नय कहना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं है। क्योंकि द्रव्यार्थिकनय पर्याय का अस्वीकार नहीं करता किन्तु पर्याय की प्रधानता को अस्वीकार करता है। द्रव्य के प्राधान्यकाल

१ अनुयोगद्वार १४

२ तार्किकाणां त्रयो भेदा आद्या द्रव्यार्थतो मताः।
सैद्धान्तिकानां चत्वारः पर्यायार्थगताः परे॥ —नयोपदेश १८

३ नय रहस्य, पृ० १२

में पर्याय की प्रधानता नहीं होती है इसलिए द्रव्यार्थिकनय का पर्याय की प्रधानता का अस्वीकार करना उचित है।[1] इसी प्रकार पर्यायार्थिकनय के लिये भी समझना चाहिए। वह पर्याय-प्रधान है, इसलिये वह द्रव्य का प्राधान्य अस्वीकार करता है। इस अस्वीकृति-स्वीकृति का कारण मुख्य और गौण दृष्टि है, जिससे यहाँ एकांत नहीं होता है और जब एकान्त नहीं होता तब द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनयों को दुर्नय नहीं कहा जा सकता है।

अर्थनय और शब्दनय

आगमों में नैगम आदि सात नयों का उल्लेख है[2] और अनुयोगद्वार सूत्र में शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत इन तीन नयों को शब्दनय कहा गया है।[3] जिससे बाद के दार्शनिकों ने सात नयों के स्पष्ट रूप से दो विभाग कर दिये हैं—अर्थनय और शब्दनय[4]। प्रारम्भ के चार नय—नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र अर्थ को विषय करते हैं अतः वे अर्थनय हैं और अन्तिम तीन नय, शब्द समभिरूढ तथा एवंभूत शब्द को विषय करते हैं अतः ये शब्दनय हैं। यद्यपि नैगमनय संकल्पग्राही होने से अर्थ की सीमा से बाहर हो जाता है, किन्तु नैगम का विषय भेद और अभेद दोनों को ही मानकर उसे अर्थग्राही कहा गया है।

नयों के स्वरूप का वर्णन करते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि ये नय शब्द और अर्थ को क्यों विषय बनाते हैं? अर्थनय और शब्दनय के भेद की कल्पना नवीन नहीं है, आगमों में इसका उल्लेख है। जिसका संकेत ऊपर किया जा चुका है।

नय विषयविहीन नहीं हैं

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। अब यह पहले बताया जा चुका है कि अनन्त धर्मात्मक वस्तु के धर्मों को ग्रहण करने वाले अभिप्राय भी अनन्त ही होंगे, भले ही उनके वाचक पृथक्-पृथक् शब्द न मिलें, किन्तु जितने शब्द हैं उनके वाच्य धर्मों को जानने वाले अभिप्राय उतने तो अवश्य ही होते हैं। अभिप्रायों की संख्या की अपेक्षा

---

१ न चैवमितरांशप्रतिक्षेपित्वाद् दुर्नयत्व, तत् प्रतिक्षेपस्य प्राधान्य मात्र एवोपयोगात्।
—नय रहस्य पृ० १२

२ (क) अनुयोगद्वार १५३
(ख) स्थानांग ७।५५२
(ग) प्रज्ञापना पद १६

३ तिण्हं सद्दनयाणं।
—अनुयोग द्वार १४८

४ चत्वारोऽर्थनया शेषास्त्रय शब्दतः।
—सिद्धिविनिश्चय तथा लघीयस्त्रय श्लोक ७२

हम नयों की संख्या की सीमा न बाँध सकें, परन्तु यह तो सुनिश्चित रूप से कह सकते हैं कि जितने शब्द हैं उतने नय तो अवश्य हो सकते हैं। क्योंकि कोई भी वचन व्यवहार अभिप्राय के बिना हो ही नहीं सकता है। ऐसे अभिप्राय तो अनेक सम्भव हैं जिनके वाचक शब्द न मिलें लेकिन ऐसा एक भी सार्थक शब्द नहीं हो सकता है जो बिना अभिप्राय के प्रयुक्त होता हो। इसीलिए सामान्यतया यही कहा गया है कि जितने शब्द हैं, उतने नय हैं।

उक्त विधान यह मानकर किया जाता है कि प्रत्येक शब्द वस्तु के किसी-न-किसी धर्म का वाचक होता है। इसीलिए *तत्त्वार्थ भाष्य*[1] में—*ये नय क्या एक वस्तु* के विषय में परस्पर विरोधी तन्त्रों के मतवाद हैं या जैनाचार्यों के ही परस्पर मतभेद हैं? इस प्रश्न का समाधान करते हुए स्पष्ट कहा है कि 'न तो ये तन्त्रान्तरीय मतवाद हैं और न आचार्यों के पारस्परिक मतभेद हैं, किन्तु ज्ञेय अर्थ को जानने वाले नाना अध्यवसाय हैं।' एक ही वस्तु को अपेक्षाभेद से या अनेक दृष्टिकोणों से ग्रहण करने वाले विकल्प हैं।

अत: ये नय निर्विषय नहीं हैं। सामान्यतया हम जगत के व्यवहार ज्ञान, शब्द और अर्थ के आश्रित हैं। जो विचार-व्यवहार संकल्प-प्रधान होता है उसे ज्ञानाश्रित कहते हैं। नैगमनय ज्ञानाश्रयी विचार है। शब्दाश्रित में शब्द की मीमांसा की जाती है। शब्द, समभिरूढ और एवंभूतनय शब्दाश्रयी विचार-व्यवहार हैं। अर्थ को प्रधान मानकर होने वाला व्यवहार अर्थाश्रयी है। संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रनय अर्था-*श्रयी हैं। ये नय अर्थ के भेद और अभेद की मीमांसा करते हैं।* अर्थाश्रित अभेद व्यवहार का संग्रहनय में अंतर्भाव होता है। न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों के व्यवहारों का व्यवहारनय में तथा क्षणिकवादी बौद्ध के विचार-व्यवहार का समावेश ऋजुसूत्र-नय में होता है।

इस तरह जब हम प्रत्येक पदार्थ को ज्ञान, शब्द और अर्थ के आकारों में बाँटते हैं तो उनके ग्राहक ज्ञान भी स्वभावत: तीन श्रेणियों में विभाजित हो जाते हैं। *ज्ञानाश्रयी व्यवहार में अर्थ के तथाभूत होने की चिन्ता नहीं होती है।* वह केवल संकल्प से चलता है जैसे आज महावीर जयन्ती है। अर्थ के आधार से चलने वाले व्यवहार में एक ओर नित्य, तथा व्यापी रूप में चरम अभेद की एवं दूसरी ओर क्षणिकत्व, परमाणुत्व और निरंशत्व की दृष्टि से अंतिम भेद की कल्पना की जा सकती है। तीसरी कल्पना इन दोनों चरम कोटियों के मध्य की है। शब्दाश्रित व्यवहार के प्रस्तावक भाषाशास्त्री हैं। ये एक ही अर्थ में विभिन्न शब्दों के प्रयोग को मानते हैं। परन्तु शब्दनय शब्दभेद से अर्थभेद को अनिवार्य मानता है।

इसीलिए नय निर्विषय न होकर ज्ञान, [illegible] किसी न किसी को

---

१ तत्त्वार्थ भाष्य १।३५

अपने नियत वादो का आग्रह रखने वाले परस्पर निरपेक्ष नय सम्यक्पने को नहीं पा सकते हैं। किन्तु परस्पर सापेक्ष होकर वे सुनय सम्यग्नय बन जाते हैं।[1] सापेक्षता ही नय का प्राण है।[2]

इसीलिए जैनदर्शन का कथन है कि प्रत्येक वस्तु अनंतधर्मात्मक है, एक धर्म वाली कोई वस्तु नही है। अत एक धर्मात्मक वस्तु का आग्रह सम्यक् नहीं है। अभिप्रेत धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला विचार दुर्नय कहलाता है, किन्तु नय इसलिए सम्यग्ज्ञान हैं कि वे एक धर्म का आग्रह रखते हुए भी अन्य धर्म सापेक्ष रहते हैं। जैनदर्शन अपनी अनेकांतदृष्टि के द्वारा वस्तु की अनेकरूपता का प्रतिपादन करके सम्पूर्ण एकांत दर्शनो का नयवाद में समावेश करता है। सन्मतितर्क[3] और अनेकान्त-व्यवस्था[4] के अनुसार दुर्नय (नयाभास) के उदाहरण इस प्रकार हैं—

नैगमनयाभास—नैयायिक-वैशेषिक।
संग्रहनयाभास—वेदान्त, सांख्य।
व्यवहारनयाभास—सांख्य, चार्वाक।
ऋजुसूत्रनयाभास—सौत्रान्तिक।
शब्दनयाभास—शब्दब्रह्मवाद, वैभाषिक।
समभिरूढनयाभास—योगाचार।
एवंभूतनयाभास—माध्यमिक।

इन एकान्त दर्शनो (दुर्नयो, नयाभासों) को उन-उन नयो मे समावेश करके सत्य कहा जा सकता है। लेकिन शर्त यह है कि वे अपने दुराग्रह के अंश का त्याग कर दूसरे दर्शन की दृष्टि को भी सत्य स्वीकार करें। जैसे कि ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा बौद्ध (सौत्रान्तिक); संग्रहनय की अपेक्षा सांख्य, वेदान्त; नैगमनय की अपेक्षा न्याय-वैशेषिक, शब्दनय की अपेक्षा शब्दब्रह्मवादी तथा व्यवहारनय की अपेक्षा चार्वाक दर्शन सत्य है।[5] इसका विशेष स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

ज्ञाता व्यक्ति सामान्य और विशेष इन दोनों में से जिस समय जिसकी अपेक्षा

१ सन्मतितर्क १।२२-२५

२ निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत:।
—आप्तमीमांसा, श्लोक १०८

३ सन्मतितर्क, पृ० ३१८

४ अनेकान्तव्यवस्था, पृ० ५५

५ बौद्धानामृजुसूत्रतो मतमभूद् वेदान्तिनां संग्रहात्,
सांख्यानां तत एव नैगमनयाद् योगश्च वैशेषिक:॥
शब्दब्रह्मविदोऽपि शब्दनयत: सर्वैर्नयैर्गुम्फितां,
जैनी दृष्टिरितीह सारतरता प्रत्यक्षमुद्वीक्ष्यते॥
—अध्यात्मसार

होती है, उसी को मुख्य मानकर प्रवृत्ति करता है। इसलिये सामान्य और विशेष की भिन्नता का समर्थन करने मे जैन दृष्टि न्याय-वैशेषिक से मिलती है किन्तु सर्वथा भेद का समर्थन करने में उनसे भिन्न हो जाती है। क्योंकि सामान्य और विशेष को अत्यन्त भिन्न मानना दुर्नय की दृष्टि है। जबकि तादात्म्य की अपेक्षा भेद की दृष्टि नय है।

सत् और असत् मे तादात्म्य सम्बन्ध है। सत्-असत् अंश धर्म हैं और वे धर्मी (वस्तु) से अभिन्न हैं। वस्तु सत्-असत् उभयात्मक है किन्तु धर्म रूप से वे भिन्न हैं। अतः विशेष को गौण मानकर सामान्य को मुख्य मानने वाली दृष्टि नय मानी जायेगी और केवल सामान्य को स्वीकार करने वाली दृष्टि दुर्नय है।

व्यवहारनय से लोकव्यवहार भी सत्य है, यह जैनदर्शन की दृष्टि है। इसी का नाम व्यवहारनय है। लेकिन स्थिर, नित्य वस्तु स्वरूप का लोप कर केवल व्यवहार-साधक स्थूल और कुछ काल स्थायी वस्तुओं को ही तात्त्विक मानना मिथ्या आग्रह (दुर्नय) है। जैन दृष्टि यहाँ चार्वाक से पृथक् हो जाती है। चार्वाक वर्तमान पर्याय, आकार या अवस्था को ही वास्तविक मानकर उनकी अतीत और भावी पर्यायों को तथा उनकी एकात्मकता को अस्वीकार करके निर्हेतुक वस्तुवादी बन जाता है। इस स्थिति मे निर्हेतुक वस्तु या तो सदा रहती है या उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है।

पर्याय की दृष्टि से ऋजुसूत्रनय का अभिप्राय सत्य है किन्तु बौद्धदर्शन केवल पर्याय को परमार्थ सत्य मानकर पर्याय के आधारभूत अन्वयी द्रव्य को स्वीकार नहीं करता है। यह अभिप्राय सर्वथा एकान्तिक है इसीलिये उसे सत्य नहीं कहा जा सकता है।

यह सत्य है कि शब्द की प्रतीति होने पर अर्थ की प्रतीति होती है किन्तु शब्द की प्रतीति के बिना अर्थ की प्रतीति होती ही नही, यह एकान्त मिथ्या है। शब्दाद्वैतवादी ज्ञान को शब्दात्मक ही मानते हैं। उनके मतानुसार ऐसा कोई ज्ञान नहीं जो शब्द-संसर्ग के बिना हो सके। जितना ज्ञान है वह सब शब्द से अनुविद्ध होकर ही भासित होता है। लेकिन जैनदर्शन के अनुसार कि 'ज्ञान शब्द-संश्लिष्ट ही होता है' मानना उचित नहीं है। क्योंकि शब्द अर्थ से सर्वथा अभिन्न नहीं है जैसे कि अवग्रह काल मे शब्द के बिना भी वस्तु का ज्ञान होता है तथा वस्तु मात्र सवाचक भी नहीं है। जैसे कि सूक्ष्म-पर्यायों के संकेत ग्रहण का कोई उपाय नहीं होता है इसलिये वे अनभिलाप्य हैं।

यह ठीक है कि शब्द अर्थ का वाचक है किन्तु यह शब्द इसी अर्थ का वाचक है, दूसरे का नहीं—यह निश्चित नियम नहीं बन सकता है। क्योंकि देश, काल और संकेत आदि की विचित्रता से एक शब्द दूसरे-दूसरे पदार्थों के भी वाचक बन सकते हैं तथा अर्थ मे भी अनन्त धर्म होते हैं, इसलिये वे भी दूसरे-दूसरे शब्दों के वाच्य बन सकते

है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यद्यपि शब्द अपनी सहज-शक्ति से सब पदार्थों के वाचक हो सकते है किन्तु देश, काल, क्षयोपशम आदि की अपेक्षावश उनसे प्रतिनियत प्रतीति होती है। इसीलिये शब्दो की प्रवृत्ति कहीं व्युत्पत्ति के निमित्त की अपेक्षा किये बिना मात्र रूढि से होती है कहीं सामान्य व्युत्पत्ति की अपेक्षा से और कहीं तत्कालवर्ती व्युत्पत्ति की अपेक्षा से। इसलिये शब्दशास्त्रियो का शब्द में नियत अर्थ का आग्रह करना सत्य नहीं है।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सारांश यह है कि ये नय रूप समस्त एकान्तदर्शन परस्पर विरुद्ध होने से दुर्नय अवश्य हैं लेकिन जब ये परस्पर सापेक्ष होकर एक दूसरे के दृष्टिकोण को स्वीकार कर लेते हैं तो सम्यक्त्व रूप और जैनदर्शन कहलाने के अधिकारी हो जाते हैं। नयों द्वारा विभिन्न एकान्त दर्शनों के समन्वय करने के प्रसंग की स्तुति करते हुए समन्तभद्राचार्य ने कहा है—

> य एव नित्य-क्षणिकादयो नयाः।
> मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः॥
> तएव तत्त्वं विमलस्य ते मुने.।
> परस्परेक्षा स्वपरोपकारिणः॥[१]

—जो नित्य, क्षणिक आदि नय है, यदि वे परस्पर अनपेक्ष हैं तो स्व-पर का नाश करने वाले हैं और वे ही नय परस्पर सापेक्ष हो जाते हैं तो स्व-पर उपकारी बनकर हे महामुने! आपके विमल तत्त्व के अनुगामी बन जाने से आपके शासन के प्रतिपादक बन जाते है। वे स्व-पर उपकारी होने से सुनय और परस्पर मे एक-दूसरे का विरोध करने से स्व-पर प्रणाशी दुर्नय कहलाने लगते हैं। इसीलिये जैन दार्शनिकों ने जिन भगवान के वचनों को मिथ्यादर्शनों का समन्वयात्मक समूह मानकर अमृत का सार बताया है।

नय की स्यात् शब्द योजना

नय स्याद्वाद के अंग-प्रत्यंग है। प्रमाणवाक्य और नयवाक्य के साथ स्यात् शब्द का प्रयोग करने मे सभी आचार्य एकमत नहीं है। जैसे कि आचार्य अकलंक ने प्रमाण और नय दोनों जगह स्यात् शब्द जोड़ा है[२]—'स्यात् जीव एव' और 'स्यात् अस्त्येव जीवः।' पहला प्रमाणवाक्य है और दूसरा नयवाक्य। पहले मे अनन्त धर्मात्मक जीव का बोध होता है जबकि दूसरे मे प्रधानतया जीव के अस्तित्व धर्म का। पहले मे 'एवकार' धर्मी के वाचक के साथ जुड़ता है, दूसरे मे धर्म के वाचक के साथ।

---

१ [illegible]
२ [illegible]

आचार्य मलयगिरि नयवाक्य को मिथ्या मानते हैं।[1] उनकी दृष्टि में नयान्तर-निरपेक्ष नय अखंड वस्तु का ग्राहक नहीं होने के कारण मिथ्या है। नयान्तर सापेक्ष नय 'स्यात्' शब्द से जुड़ा हुआ होगा, इसलिये वह नय वाक्य नहीं, प्रमाण वाक्य है। अतः उनके विचारानुसार 'स्यात्' शब्द का प्रयोग प्रमाणवाक्य के साथ ही होना चाहिये।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की परंपरा में[2] भी नयवाक्य का रूप अकलंक की तरह 'स्यादस्त्येव' ही मान्य है।

आचार्य हेमचन्द्र ने नय को केवल सत् शब्दगम्य माना है। उन्होंने स्यात् शब्द का प्रयोग केवल प्रमाण वाक्य के साथ किया है– सत् एव (दुर्नय) सत् (नय) स्यात् सत् (प्रमाणवाक्य)।[3]

वादिदेव सूरि ने प्रमाण-नयतत्त्वालोक में नय, दुर्नय का स्वरूप हेमचन्द्राचार्य जैसा ही माना है। लेकिन इतना अन्तर है कि उन्होंने प्रमाण-वाक्य के साथ 'एव' शब्द जोड़ा है।

पंचास्तिकाय की टीका में 'एव' शब्द को दोनों वाक्य पद्धतियों में जोड़ा है, जबकि प्रवचनसार की टीका में सिर्फ नय सप्तभंगी के लिए 'एवकार' का निर्देश किया है।[4]

---

१ यो नाम नयो नयान्तरसापेक्षः परमार्थेन स्यात् पदप्रयोगमभिलपन् सम्पूर्णं वस्तु गृह्णातीति प्रमाणान्तर्भावी, नयान्तरनिरपेक्षस्तु यो नयः स च नियमात् मिथ्यादृष्टिरेव सम्पूर्णं वस्तु ग्राहकाभावात् इति।

—आचार्य मलयगिरि आव. वृ० पृ० ३७१

२ 'स्यादस्ति' इत्यादि प्रमाणम् 'अस्त्येव' इत्यादि दुर्नय 'अस्ति' इत्यादिकः सुनयो न तु सव्यवहाराङ्गम्, 'स्यादस्त्येव' इत्यादि सुनय एव व्यवहार-कारणम्।

—सन्मतितर्क टीका, पृ० ४४६

३ सदेव सत् स्यात् सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः।
यथार्थदर्शी तु नय-प्रमाणपथेन दुर्नीति पथस्त्वमास्थः॥"

—स्याद्वादमञ्जरी, श्लोक २८

४ (क) स्याज्जीव एव इत्युक्तेनैकान्तविषय स्याच्छब्दः, स्यादस्त्येव जीवः इत्युक्ते एकान्तविषयः स्याच्छब्दः। स्यादस्तीति सकलवस्तुग्राहकत्वात् प्रमाणवाक्यम्, स्यादस्त्येव द्रव्यमिति वस्त्वेकदेशग्राहकत्वान्नयवाक्यम्।

—पंचास्तिकाय टीका, पृ० ३२

(ख) पूर्वं पंचास्तिकाये स्यादस्तीत्यादि प्रमाणवाक्येन प्रमाण सप्तभंगी व्याख्याता अत्रतु स्यादस्त्येव यदेवकारग्रहणं तन्नयसप्तभंगी ज्ञापनार्थमिति भावार्थं।

—प्रवचनसार टीका, पृ० १६२

वास्तव में 'स्यात्' शब्द अनेकांत के द्योतन और 'एव' शब्द अन्य धर्मों के व्यवच्छेद करने के लिए है। सिर्फ एवकार के प्रयोग में एकांतिकता का दोष आता है, अतः उसे दूर करने के लिए स्यात् शब्द का प्रयोग आवश्यक है। नयवाक्य में विवक्षित धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों में उपेक्षा की मुख्यता होती है। इसलिए कई आचार्य उसके साथ 'स्यात्' और 'एव' का प्रयोग आवश्यक नहीं मानते हैं और कई विवक्षित धर्म के निश्चय के लिए 'एव' और शेष धर्मों का निराकरण न हो, इसलिए 'स्यात्' इन दोनों शब्दों के प्रयोग को आवश्यक मानते हैं।

अध्यात्म दृष्टि से भी शास्त्रों में निश्चय और व्यवहार के रूप में नयों का विवेचन किया गया है। जिसका उद्देश्य आध्यात्मिक भावना को परिपुष्ट करना है कि साधक हेय और उपादेय का परिज्ञान करके मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर हो सकें। किन्तु यहाँ वस्तु स्वरूप की मीमांसा करने के लिए नैगमादि नयों का कथन किया है। जिससे जिज्ञासुजनों को वस्तु का यथातथ्य बोध प्राप्त हो।

□

3

स्याद्वाद की कथन-शैली : सप्तभंगी

व्यापक दृष्टि की आवश्यकता

किसी भी वस्तु के सम्यक् ज्ञान के लिए उसके सही स्वरूप को जानना नितांत आवश्यक है। वस्तु का पूर्ण ज्ञान होना ही सर्वज्ञता है। लेकिन जब तक पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति न हो तो क्या वस्तु के स्वरूप को जानने का उपक्रम न किया जाये? मनुष्य अपनी बौद्धिक प्रतिभा और विचार शक्ति को कुंठित कर ले? ऐसा होना संभव नहीं है और न मानव ऐसा करके अपनी जिज्ञासा को कुंठित करना चाहेगा, न कर सकता है। अतः हमारा ज्ञान जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे वस्तुगत अज्ञात धर्म ज्ञात होते जाते हैं और उनसे हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वस्तु अनन्तधर्मात्मक है।

भौतिक विज्ञान वस्तु की पर्यायों की खोज करता है, उसके गुण धर्मों को बताता है और यह भी बताता है कि उसमें कौन-कौन सी प्रक्रियायें होती हैं। लेकिन तत्त्वज्ञान तो वस्तु के गुण-धर्मों के अस्तित्व का स्वीकार करके ही चलता है। यह बताने का काम तत्त्वज्ञान का है कि इन गुण-धर्मों का वस्तु के साथ कैसा सम्बन्ध है?

वस्तु में अपरिमित गुण-धर्म होते हैं। जिनमें से हमें अपनी बौद्धिक अक्षमता और सीमित साधनों के कारण कुछ ज्ञात होते हैं, कुछ अर्धज्ञात और कुछ अज्ञात रहते हैं। परिणामतः ऐसी स्थिति में यथार्थ ज्ञान—सत्य की प्राप्ति में कठिनाई अवश्य सामने आती है। सत्य विराट, व्यापक, अखंड और अनन्त होता है। परन्तु सामान्यतः हमारा—मानव का परिमित ज्ञान उसे पूर्णरूपेण जान नहीं पाता है, वह खंड में अथवा अनेक अंशों में ही वस्तु का ज्ञान कर पाता है। सत्य के परिज्ञान के लिए विशाल और व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता है।

विशाल दृष्टिकोण का अर्थ यह है कि चेतन-अचेतनमय इस जगत की प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण-धर्मों की अखंड पिंड है। यह कभी नहीं थी, यह नहीं कहा जा सकता है। यह नहीं है और नहीं रहेगी, यह भी नहीं माना जा सकता है, लेकिन कहा यह जायेगा कि वह थी, है और रहेगी। अतीत, वर्तमान और अनागत इन तीनों कालों में कभी भी उसका अभाव नहीं होता। वह सत् है, शाश्वत है, नित्य है। परन्तु

नित्य का यह अर्थ नहीं कि वह सर्वथा नित्य[1] (सदैव अपरिवर्तनशील कूटस्थ) है और जो वस्तु सर्वथा नित्य नहीं है तो सर्वथा अनित्य[2] (निरन्वय, क्षणिक, प्रतिक्षण नाश-वान) कैसे हो सकती है? अतः वस्तु के नित्य कहने का तात्पर्य यह हुआ कि परिणामीनित्य[3]—प्रति समय निमित्तानुसार भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होते हुए भी अपने स्वरूप का त्याग न करना—है। वस्तुगत यह स्थिति अतीन्द्रिय नहीं, ऐन्द्रियक ज्ञान से भी प्रतीत होती है कि प्रत्येक वस्तु अपनी जाति का किये बिना ही प्रतिसमय निमित्तानुसार परिवर्तन करती रहती है, रूप से रूपान्त होती रहती है। यही वस्तु-द्रव्य का परिणाम कहलाता है। यह परिणाम अना अनन्त है और सादिसान्त भी है। लेकिन इस चक्र में से वस्तु का कभी कोई अ लुप्त नहीं होता है और न कोई भाग नित्य ही हो सकता है। इसका आशय यह कि प्रत्येक वस्तु में दो शक्तियाँ होती हैं—एक ऐसी जो तीनों कालों में शाश्वत है और दूसरी वह जो सदा अशाश्वत है, किन्तु दोनों का अस्तित्व सार्वकालिक है। न तो उनका भिन्न क्षेत्र है और न काल। वस्तु तो उभयात्मक है। शाश्वतता के कारण प्रत्येक वस्तु नित्य, ध्रुव और अशाश्वतता के कारण अनित्य-उत्पत्ति विनाशात्मक, पूर्व पर्याय के विगम और उत्तर पर्याय के उत्पाद वाली कहलाती है।

उक्त शाश्वत-नित्य और अशाश्वत-अनित्य इन दोनों स्थितियों में जब हमारी दृष्टि किसी एक की ओर ही जाती है तब वस्तु शाश्वत-नित्य या अशाश्वत-अनित्य रूप में ही एक प्रकार की प्रतीत होती है।

पूर्व में द्रव्य की परिभाषा के प्रसंग में यह स्पष्ट किया गया है कि शाश्वत-अशाश्वत स्वभाव से युक्त द्रव्य की शाश्वतिक स्थिति को गुण और अशाश्वतिक स्थिति को पर्याय कहते हैं। ये दोनों अनन्त हैं। गुण त्रिकालवर्ती और पर्याय प्रति समय अवस्था से अवस्थान्तर करने वाली होती हैं। प्रत्येक गुणशक्ति की भिन्न-भिन्न समयों में होने वाली त्रैकालिक पर्यायें अनन्त हैं, परन्तु पर्यायें प्रतिक्षण उत्पन्न और नष्ट होते रहने के कारण व्यक्तिशः अनित्य अर्थात् सादि सान्त हैं, किन्तु प्रवाह की अपेक्षा से वे भी अनादि-अनन्त हैं। भिन्न-भिन्न शक्तिजन्य विजातीय पर्यायें एक समय में एक द्रव्य में पायी जा सकती हैं, लेकिन ऐसा कभी नहीं होता है कि एक शक्तिजन्य भिन्न-भिन्न समयभावी सजातीय पर्याय एक द्रव्य में एक समय में पाई जाये।

त्रैकालिक अनन्त पर्यायों के एक-एक प्रवाह की कारणभूत एक-एक शक्ति (गुण) और ऐसी अनन्त शक्तियों का समुदाय द्रव्य है, यह कथन भी भेद सापेक्ष है और अभेद दृष्टि से पर्याय अपने-अपने कारणभूत, गुणस्वरूप एवं गुणद्रव्य स्वरूप है। द्रव्य में

१ अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम्। —स्याद्वाद मंजरी
२ अनित्योऽपि प्रतिक्षण विनाशी। अनित्यः क्षणमात्रस्थायी। —स्याद्वाद मंजरी
३ तद्भावाव्ययं नित्यम्। —तत्त्वार्थ सूत्र ५/३०

सब गुण एक से नहीं होते हैं। कुछ गुण साधारण अर्थात् सभी द्रव्यों में समानरूप से पाये जाने वाले होते हैं। जैसे—अस्तित्व, नास्तित्व, प्रदेशत्व, प्रमेयत्व आदि और कुछ असाधारण अर्थात् मुख्य रूप से उस एक द्रव्य में पाये जाने वाले होते हैं। जैसे चेतना जीव में ही पाई जाती है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, पुद्गल के गुण हैं आदि। ये असाधारण गुण ही 'द्रव्य' के स्वभाव हैं, जिससे समस्त पदार्थ अपने स्वरूप में स्थित हैं तथा अन्य द्रव्य के स्वभाव को प्राप्त नहीं होते। चाहे वे परस्पर में मिले हुए तथा एक दूसरे में प्रवेश पाकर नित्य एक क्षेत्र में ही क्यों न रहते हों।[1] इन असाधारण गुणों और तज्जन्य पर्यायों के कारण ही तो प्रत्येक द्रव्य एक दूसरे से भिन्न है।

पूर्वोक्त कथन से यह भली-भांति स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य का स्वभाव विचित्र है कि उसमें परस्पर विरोधी शक्तियाँ अस्तित्व-नास्तित्व, भेद-अभेद, नित्य-अनित्य आदि का समावेश है और ये सभी अपनी-अपनी अपेक्षाओं से यथास्थान उपयुक्त हैं। इन आपेक्षिक धर्मों का कथन या ज्ञान तो अपेक्षा को सामने रखे बिना नहीं हो सकता है। हम अपने लोक-व्यवहार में देखते ही हैं कि परस्पर प्रतीयमान विरोधी युगलों का विचार कथन, ज्ञान, अपेक्षा दृष्टि का आधार लेकर किया जाता है। यही स्थिति वस्तु विचार के क्षेत्र की है कि परस्पर विरोधी होने पर भी नित्यानित्य आदि दृष्टि का प्रयोग एक ही वस्तु में अपेक्षाभेद को लक्ष्य में रखते हुए होता है। इनका कथन करने के लिए स्व-पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का आधार लेना पड़ता है। स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा विधिरूप और पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा प्रतिषेधरूप प्रणाली अपनाई जाती है। इसमें न तो भ्रान्ति की संभावना है और न तत्वज्ञान सम्बन्धी कोई रहस्यमयी गुत्थी सुलझाने का ही प्रश्न उठता है। यह तो एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। इसके लिए एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

एक अंगूठी किसी साधारण धातु या पीतल की बनी हुई है, लेकिन उस पर सोने का मुलम्मा है। वह सोने की बनी हुई दिखलाई देती है। कोई ग्राहक उसे खरीदना चाहता है, किन्तु खरीदने से पहले यह निश्चय कर लेना चाहता है कि अंगूठी शुद्ध सोने की बनी है या नहीं। स्वयं अनजान होने से वह एक अनुभवी व्यक्ति से पूछता है कि क्या यह अंगूठी सोने की बनी है? उसे इसका उत्तर नकारात्मक मिलता है कि अंगूठी सोने की बनी हुई नहीं है। एक जिज्ञासा का समाधान हो जाने पर वह पुनः पूछता है कि अंगूठी सोने की नहीं तो फिर किस धातु की बनी हुई है? जानकार उस धातु के नाम का संकेत कर देता है, जिससे वह अंगूठी बनी है और कहता है कि उस पर सोने का मुलम्मा कर दिया गया है। स्वकथन की यथार्थता एवं प्रामाणिकता के लिए वह अंगूठी के किसी भाग को जरा-सा खरोंच कर बतला देता है कि अंगूठी किस धातु की बनी है।

---

[1] अवरोप्परं वि मिस्सा तह अण्णोण्णावगासदो णिच्चं।
संतो वि एयखेत्ते ण पर सहावे हि गच्छन्ति॥ —बृहद् नयचक्र ७

शैली द्वारा कथन करने पर वस्तुस्वरूप को समझने में सफलता मिलती है और भ्रान्त धारणाओं का उन्मूलन होकर शाश्वत सत्य समझ मे आ जाता है।[१]

वस्तु मे *विद्यमान अनन्त धर्म, ज्ञान का विषय होने से जिस प्रकार ज्ञेय* है उसी प्रकार शब्द का वाच्य होने से अभिधेय भी हैं। हम जिन-जिन शब्दों द्वारा वस्तु को सम्बोधित करते हैं, वस्तु मे उन-उन शब्दों द्वारा सम्बोधित होने वाली शक्तियाँ विद्यमान हैं। यदि ऐसा न हो तो वे वस्तुएँ उन-उन शब्दों द्वारा कही नही जाती और न उन-उन शब्दों को सुनकर विवक्षित धर्मों का बोध ही होता। स्याद्वाद द्वारा उन धर्मों का अपेक्षाओं को लक्ष्य मे रखते हुए कथन किया जाता है। लेकिन वस्तुगत अनुजीवी धर्मों में—स्वभावरूप धर्मों मे—इसका प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं है। जैसे—आत्मा चेतन है, पुद्गल रूप, रस, गंध, स्पर्श वाला है। क्योंकि आत्मभूत लक्षणात्मक (अनुजीवी) धर्म आपेक्षिक नहीं होते हैं।

उक्त सप्तभंगों मे मुख्य उपयोगी तीन भंग हैं—स्यात्-अस्ति, स्यात्-नास्ति और स्यात्-अवक्तव्य। ये तीनों रूप आगमों मे विद्यमान हैं। जैसे कि भगवान महावीर ने गणधर गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—'*रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् आत्मा है, स्यात् आत्मा नही है, स्यात् अवक्तव्य है*।[२] *स्व की अपेक्षा अस्तित्व है, पर* की अपेक्षा अस्तित्व नहीं है युगपत्-दोनों की अपेक्षा अवक्तव्य है। इन तीन विकल्पों के संयोग से शेष चार विकल्प बनते हैं।[3] उनमें से स्यात्-अस्ति-नास्ति, स्यादस्ति-अवक्तव्य और स्यात्-नास्ति-अवक्तव्य यह तीन द्विसंयोगी तथा स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्य यह एक त्रिसंयोगी भंग है।

वस्तु में विद्यमान अनन्त धर्म त्रिकाल—भूत, वर्तमान और भविष्य—वर्ती हैं। अतः उनके कथन की प्रक्रिया भी ऐसी होनी चाहिये जिससे उनका कथन होते रहने के साथ-साथ कथनेतर धर्मों के अस्तित्व आदि का बोध होता रहे एवं उनका अपलाप या अवगणना न हो जाये। इस सार्वकालिक स्थिति का दिग्दर्शन उक्त स्यादस्ति आदि सप्तभंगों द्वारा कराया जाता है। यद्यपि अस्ति और नास्ति रूप स्थिति का अनुभव तो हमें प्रतिसमय होता रहता है और *हमारा व्यवहार दोनों में से किसी एक की मुख्यता और दूसरे की गौणता के आधार पर चलता है, किन्तु* इस व्यवहार के चलते रहने पर भी वस्तु अनन्त धर्मों से विहीन नहीं है। अत उनकी सत्ता अवक्तव्य शब्द द्वारा प्रगट की जाती है। इस प्रकार अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य, इन मुख्य भंगो

---

१ मुख्योपचारविवरण निरस्त दुस्तरविनेय दुर्बोधः।
व्यवहार निश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम्॥ —पुरुषार्थ सिद्धयुपाय

२ भगवती १२।१०

३ *अमीषामेव नयाणां मुख्यत्वाच्छेषभंगानां च संयोगजत्वे नाम्नीष्वेवान्तर्भावादिति।*
—स्याद्वादमंजरी, श्लोक २४ की व्याख्या

के अतिरिक्त शेष भंग क्रमिक और युगपत् मुख्यता व गौणता को दृष्टि में रखने से बन जाते हैं।[1]

सप्तभंगों के लक्षण

सप्तभंगों के समूह को सप्तभंगी कहते हैं।[2] उनकी निर्माण-प्रक्रिया का मुख्य आधार यह है—प्रश्नकर्ता द्वारा प्रश्न उपस्थित किये जाने पर उत्तरदाता एक वस्तु में परस्पर अविरुद्ध नाना धर्मों का निश्चय कराने के लिए विवक्षापूर्वक वाक्य का प्रयोग करता है और इस वाक्य प्रयोग के लिए शर्त यह है कि एक ही वस्तु में जो सत् और असत् आदि धर्मों की कल्पना की जाती है वह प्रमाण से अविरुद्ध हो।[3]

सप्तभंगों के नाम पूर्व में उल्लिखित हैं। उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) स्यात्-अस्ति—यह अन्य धर्मों का निषेध न करते हुए विधि-विषयक बोध उत्पन्न करने वाला वचन होता है। जैसे—कथंचित् यह घट है।

(२) स्यात्-नास्ति—धर्मान्तर का निषेध न करते हुए निषेध विषयक बोध-जनक कथन को स्यात्-नास्ति कहते हैं। जैसे—कथंचित् घट नहीं है।

(३) स्यात्-अस्ति-नास्ति—यह एक धर्मी में क्रम से आयोजित विधि प्रतिषेध विशेषण का जनक वाक्य होता है। जैसे—किसी अपेक्षा से घट है और किसी अपेक्षा से नहीं है।

(४) स्यात्-अवक्तव्य—निर्दिष्ट परिगृहीत स्व-रूप तथा अविवक्षित पर-रूप आदि की विवक्षा करने पर अवक्तव्य विशेषण वाले बोध का जनक वाक्य। जैसे—घट का कथंचित् वचन द्वारा कथन नहीं किया जा सकता है।

(५) स्यात्-अस्ति-अवक्तव्य—धर्मी विशेष्य में सत्व सहित अवक्तव्य विशेषण वाले ज्ञान का जनक वाक्य। जैसे—कथंचित घट है किन्तु उसका कथन नहीं किया जा सकता है।

(६) स्यात्-नास्ति-अवक्तव्य—धर्मी विशेष्य में असत्व सहित अवक्तव्य विशेषण वाले ज्ञान का जनक वाक्य। जैसे—कथंचित् घट नहीं है और अवक्तव्य है।

(७) स्यात्-अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य—एक धर्मी में सत्व-असत्व सहित अवक्तव्य विशेषण वाले ज्ञान का जनक वाक्य। जैसे—कथंचित् है, नहीं है, इस रूप में वह अवक्तव्य है।

वस्तु तो अनन्तधर्मात्मक है, अतः उनका कथन करने वाले शब्द भी अनन्त

---

१ अर्पितानर्पित सिद्धेः। —तत्त्वार्थसूत्र ५।३१

२ सप्तानां भंगानां समाहारः सप्तभंगीति। —न्यायदीपिका

३ एकस्मिन् वस्तुनि प्रश्नवशाद् दृष्टेनेष्टेन च प्रमाणेनाविरुद्धा विधिप्रतिषेधविकल्पना सप्तभंगी विज्ञेया। —तत्त्वार्थराजवार्तिक १।६

जैसे—सोंठ, मिर्च और पीपर यह तीन वस्तुएँ ली जाएँ तो इन तीनों के अलग-अलग तीन विकल्प बनेंगे

१. सोंठ, २. मिर्च, ३. पीपर।

इनके द्विसंयोगी विकल्प बनाये जाने पर भी तीन विकल्प बनेंगे—

१. सोंठ-मिर्च, २. सोंठ-पीपर, ३. मिर्च-पीपर।

उक्त सोंठ आदि तीनों वस्तुओं को मिलाने पर सिर्फ एक ही विकल्प बनेगा।

१. सोंठ-मिर्च-पीपर।

इस प्रकार तीन वस्तुओं के पृथक्-पृथक् तीन, द्विसंयोगी तीन और त्रिसंयोगी एक भंग हुए जिनका योग ३ + ३ + १ = ७ होता है। इसीलिए सप्तभंगी में मौलिक तीन भेदों—सत्, असत्, अनुभय (अवक्तव्य) के सूत्र मिलाकर अपुनरुक्त सात भंग माने जाते हैं।

यद्यपि वचनव्यवहार और प्रश्नविचार आज भी सत् आदि अनुभय पर्यन्त चार पक्षों में घूमता है और हमारे सामान्य वार्तालाप में भी यही स्थिति देखते हैं, लेकिन वस्तुगत एक धर्म में कल्पना तो अधिक से अधिक सात प्रकार की हो सकती है। वे सातों प्रकार के अपुनरुक्त धर्म वस्तु में विद्यमान हैं। यहाँ एक बात विशेष तौर पर ध्यान में रखने की है कि वस्तुगत एक-एक धर्म को केन्द्र में रखकर उसके प्रतिपक्षी विरोधी धर्म के साथ वस्तु के वास्तविक रूप या शाब्दिक असामर्थ्यजन्य अवक्तव्यता को मिलाकर सात धर्मों या सात भंगों की कल्पना होती है और ऐसे असंख्य सात-सात भंग प्रत्येक धर्म की अपेक्षा से वस्तु में सम्भव हैं। जब वस्तु के अस्तित्व धर्म का विचार करते हैं तो अस्तित्व विषयक सात भंग बनते हैं और जब नित्यत्व धर्म का विवेचन करते हैं तो नित्यत्व की अपेक्षा भी सात भंग बन जाते हैं। इस तरह असंख्य सात-सात भंग वस्तु में सम्भव होते हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि वस्तु सप्तधर्मा है, वह तो अनन्त-धर्मा है, जिससे उसे अनेकान्तात्मक कहा गया है।

पूर्वोक्त कथन में जैन दार्शनिकों की व्यवस्था का संकेत किया गया है कि 'स्याद्वाद में सभी विरोधी धर्म युगलों को लेकर सात भंग होते हैं, न कम और न अधिक।' इसका जब हम आगमों[1] में आगत त्रिप्रदेशी स्कन्ध के तेरह भंग, चतु:प्रदेशी स्कंध के उन्नीस भंग, पंच-प्रदेशी स्कन्ध के बाईस भंग और षट्-प्रदेशी स्कन्ध के तेईस भंग के साथ मिलान करते हैं तो कोई विरोध प्रतीत नहीं होता है। उनकी मान्यता निर्मूल नहीं है। क्योंकि त्रिप्रदेशी स्कन्ध और उससे अधिक प्रदेशी स्कन्धों की जो भंग संख्या दी गई है, उससे मालूम होता है कि मूल सात वे ही हैं जो जैन दार्शनिकों ने अपनी सप्तभंगी में स्वीकार किये हैं। लेकिन जो अधिक भंगसंख्या आगम सूत्रों में निर्दिष्ट की है, वह मौलिक भंगों के भेद के कारण नहीं है, वह तो

---

१ भगवती १२।१०।४६६

एकवचन-बहुवचन के भेद की विवक्षा के कारण ही है। यदि वचनभेदकृत संख्या-वृद्धि को निकाल दिया जाये तो मौलिक भंग सात ही रह जाते हैं और ये सातों भंग अपुनरुक्त हैं।

सात ही भंग क्यों ?

भंग सात ही क्यों होते हैं ? इस प्रश्न का गणितशास्त्र के नियमानुसार समाधान पहले किया जा चुका है कि तीन वस्तुओं के अमिश्रित-मिश्रित अधिक-से-अधिक अपुनरुक्त भंग सात होते हैं। आगमिक दृष्टि से भी सात भंगों की सिद्धि होती है और दूसरा समाधान इस प्रकार दिया गया है—

किसी भी वस्तु के विषय में सात प्रकार के प्रश्न हो सकते हैं। एतदर्थ सप्तभंग माने गये हैं। सात प्रकार के प्रश्नों के होने का कारण यह है कि जिज्ञासा सात प्रकार की होती है। सात प्रकार की जिज्ञासा होने का कारण यह है कि संशय सात प्रकार के होते हैं और संशय के सात प्रकार होने का कारण वस्तु के धर्म सात प्रकार के हैं।[1]

तात्पर्य यह हुआ कि सप्तभंगी के सप्तभंग केवल शाब्दिक कल्पना ही नहीं, अपितु वस्तुगत धर्म विशेष पर आधारित हैं। इसलिये सप्तभंगी के विचार में यह ध्यान रखना चाहिए कि उसके प्रत्येक भंग का स्वरूप वस्तु के धर्म के साथ सम्बद्ध हो। यदि किसी भी वस्तु का कोई भी धर्म दिखाया जाना हो तो उसे इस प्रकार प्रस्तुत करना चाहिये कि जिससे अन्य धर्मों का स्थान उस वस्तु में से विलुप्त न हो जाये। जैसे कि घट में नित्यत्व बतलाना है तो घट के नित्यत्व का बोध कराने के लिए ऐसे उपयुक्त शब्द का प्रयोग करना चाहिए जो घट का नित्यत्व तो बताता ही हो, किन्तु उसके अनित्यत्व आदि अन्य धर्मों का विरोध न करता हो।

दूसरी बात यह है कि सप्तभंग न्याय में मनुष्य स्वभाव की तर्कमूलक प्रवृत्ति की अन्वेषणा करके वैज्ञानिक आधार से यह निश्चय किया गया है कि सत्, असत्, उभय-अनुभय रूप जो ये चार पक्ष तत्त्व-विचार के क्षेत्र में प्रचलित हैं, उनका अधिक

---

१ (क) अनन्तानामपि सप्तभंगीनामिष्टत्वात् तत्रैकत्वानेकत्वादि कल्पनयापि सप्तानामेव भंगानामुपपत्तेः, प्रतिपाद्य प्रश्नानां तावतामेव संभवात् प्रश्नवशादेव सप्तभंगीति नियम वचनात्। सप्तविध एव तत्र प्रश्न. कुत इति चेत्—सप्तविधजिज्ञासा घटनात्। सापि सप्तविधा कुत इति चेत् सप्तधा संशयोत्पत्तेः। सप्तधैव संशय कथमिति चेत् तद्विषय वस्तुधर्म सप्तविधत्वात्।
—अष्टसहस्री पृ० १२५-१२६

(ख) भंगास्सत्वादयस्सप्त संशयास्सप्त तद्गता.।
जिज्ञासास्सप्त सप्त स्यु· प्रश्नास्सप्तोत्तराण्यपि ॥
—सप्तभंगी तरंगिणी, पृ० ■ पर उद्धृत

से अधिक विकास सात रूपों में ही सम्भव हो सकता है। सत्य तो त्रिकालाबाधित है अतः तर्कजन्य प्रश्नों की अधिकतम सम्भावना करके उनका समाधान सप्तभंगी प्रक्रिया द्वारा किया गया है।

वस्तु स्वरूप अनिर्वचनीय है—वचनातीत है। शब्द उसके अखण्ड स्वरूप तक नहीं पहुँच पाते हैं। यह बात तो हुई साधारण ज्ञानी की। लेकिन कोई ज्ञानी जो उस अवक्तव्य, अखण्ड वस्तु को अपने विवेचन का विषय बनाना चाहता है या बनाता है तो वह पहले उसका अस्तिरूप से वर्णन करता है। फिर भी जब देखता है कि वस्तु स्वरूप का वर्णन पूर्णरूपेण नहीं हो पाया है तो वह उसका नास्तिरूप से वर्णन करने की ओर झुकता है। ऐसा करके भी वह वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता का स्पर्श नहीं कर पाता और फिर वह कालक्रम से उभय रूप में वर्णन करके भी उसकी पूर्णता को नहीं पहुँच पाता, तब शाब्दिक असमर्थता के कारण कह देता है कि वस्तुस्वरूप का परिज्ञान-कथन वचन और मन से होना सम्भव नहीं है—यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु का मौलिक रूप तो अवक्तव्य है।[1] किन्तु उसके भी कहने की चेष्टा जिस धर्म से प्रारम्भ होती है, वह और उसका प्रतिपक्षी दूसरा धर्म तथा तीसरा अवक्तव्य इस तरह तीन धर्म मुख्य हैं। इन तीनों का विस्तार सप्त भंगों के रूप में सामने आता है। आगे के भंग वस्तुतः स्वतन्त्र भंग नहीं हैं, वरन् ये तो प्रश्नों की अधिकतम सम्भावना के रूप हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में यह ध्यान रखना चाहिए कि सामान्यतया यद्यपि 'स्यात्' शब्द से पदार्थ के अनेक धर्मात्मक होने का बोध हो जाने पर भी विशेष अर्थ को जानने की आकांक्षा से अस्ति, नास्ति आदि विशेष शब्दों का प्रयोग किया जाता है और इसका कारण है वस्तुगत विभिन्न धर्मों में से किसी अंश को मुख्य या गौण करने की विवक्षा। इस प्रकार की विवक्षा के द्वारा सप्तभंगी के उक्त स्यादस्ति आदि भंग यथास्थान अपनी उपयोगिता एवं सार्थकता सिद्ध कर देते हैं।

यद्यपि पूर्वोक्त कथन से यह सुनिश्चित हो जाता है कि भंग सात हैं, न कम और न अधिक; फिर भी तार्किकों द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली जिज्ञासाओं का समाधान नीचे लिखे अनुसार है।

शंका—भंग सात ही नहीं किन्तु अधिक भी हो सकते हैं। जैसे कि प्रथम और तृतीय विकल्पों का एक साथ उल्लेख करने से नया भंग बन सकता है, वैसे ही सात भंगों में से एक दूसरे के साथ दो या तीन-तीन भंग जोड़ने से और भी नवीन भंग बन सकते हैं?

---

१ ततो वक्तुमशक्यत्वात् निर्विकल्पस्य वस्तुनः।
तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते॥

—पंचाध्यायी, उत्तरार्ध, ३११

समाधान—प्रथम और तृतीय भंग को मिलाने से उत्पन्न नवीन भंग के अनुसार नवीन वाक्य पदार्थ की प्रतीति लोक में नहीं पाई जाती है। इसी प्रकार अन्य भंगों के बारे में समझना चाहिए। तब सात से अधिक भंगों की उत्पत्ति का प्रश्न ही पैदा नहीं होता है। इस प्रकार एक धर्म के आधार से सात ही भंग बनते हैं। किन्तु पदार्थ तो अनन्त धर्मात्मक है, अतः अनन्त सप्तभंगियाँ बन सकती हैं किन्तु भंगों की संख्या सदा सात ही रहेगी।

प्रश्न—भंग सात ही नहीं, किन्तु नौ होते हैं। क्योंकि तीसरे भंग अस्तित्व-नास्तित्व के क्रम का परिवर्तन कर देने से 'नास्तित्व-अस्तित्व' रूप नया भंग बन जाता तथा इसी प्रकार सातवें भंग के क्रम को पलट दिया जाये अर्थात् 'स्यादस्ति-नास्ति च अवक्तव्य' के स्थान पर 'स्यान्नास्ति-अस्ति च अवक्तव्य' बना दिया जाये तो एक और नया भंग बन जाता है। इसप्रकार भंगों की संख्या सात के बजाय नौ हो जायेगी। इन दोनों नये बने भंगों को तीसरे और सातवें भंग की पुनरावृत्ति भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि अस्तित्व विशिष्ट नास्तित्व का बोध तीसरे भंग से होता है, जबकि नवीन भंग से नास्तित्व विशिष्ट अस्तित्व का बोध होगा। इस भंग में विशेषण-विशेष्य भाव में भी परिवर्तन हो गया। जो विशेषण था, वह विशेष्य बन गया और जो विशेष्य था वह विशेषण। यही बात सातवें भंग के बारे में समझना चाहिए। उसमें भी क्रम बदल गया। विशेषण विशेष्य और विशेष्य विशेषण बन गया। अतः सात की बजाय नौ भंग बनते हैं।

समाधान—उक्त प्रश्न उचित नहीं है। क्योंकि तीसरे भंग में रहे हुए अस्तित्व और नास्तित्व यह दोनों धर्म स्वतन्त्र हैं, परस्पर सापेक्ष रूप में रहे हुए नहीं हैं। इसीलिए प्रधानता होने से वस्तु में अवक्तव्यता धर्म की उत्पत्ति होती है, जिससे विशेषण विशेष्य जैसी स्थिति नहीं बनती है किन्तु पर्यायों में भूत, वर्तमान और भविष्यत्कालीन दृष्टिकोण से अस्तित्व, नास्तित्व, अवक्तव्यत्व जैसे वाचक शब्दों की आवश्यकता पड़ती है। अवक्तव्यत्व धर्म अस्ति, नास्ति से विलक्षण है। सिर्फ सत्त्व ही वस्तु का स्वरूप नहीं है और न असत्त्व भी तथा न सत्त्व-असत्त्व ही। क्योंकि उभय से विलक्षण अन्यजातीय रूप से भी वस्तु का होना अनुभवसिद्ध है। जैसे कि दही, चीनी, काली-मिर्च, इलायची, लौंग के संयोग से एक नये प्रकार का पेय-रस तैयार हो जाता है, जो कि उन प्रत्येक पदार्थ के स्वाद, गुण और स्वभाव से भिन्न होता है, फिर भी सर्वथा भिन्न नहीं कहा जा सकता है और न सर्वथा अभिन्न ही, न अवक्तव्य भी। इस प्रकार सातों ही भंगों में परस्पर से विलक्षण अर्थ की स्थिति समझ लेना चाहिए, जिससे पृथक्-पृथक् स्वभाव वाले सात धर्मों की स्थिति होने से प्रत्येक धर्म के विषय में सात-सात भंग होते हैं।

सप्त भंगों की सिद्धि

अनन्त धर्मात्मक वस्तु के कथन के लिए जब हमारी दृष्टि वस्तु के स्वरूप की

ओर होती है तब स्यादस्ति आदि पूर्वोक्त सप्त भंगों में से पहला स्यादस्ति भंग बनता है और जब उसके पर-रूप की अपेक्षा होती है तब दूसरे स्यान्नास्ति भंग द्वारा संकेत किया जाता है किन्तु जब हमारी दृष्टि दोनों ओर होती है तब तीसरा स्यादस्तिनास्ति नामक भंग का प्रयोग होता है और इसी दृष्टि के एक साथ दोनों ओर होने पर स्याद् अवक्तव्य नामक चौथा भंग बन जाता है। क्योंकि एक समय में एक ही साथ दुहरे धर्मों को कहने वाला एक शब्द कोई नहीं है। फिर भी यह तो मानना ही पड़ता है कि वस्तु के अवक्तव्य होने पर भी वह स्वरूप की अपेक्षा तो है ही, जिससे पाँचवाँ भंग स्यादस्ति-अवक्तव्य स्वयमेव फलित हो जाता है। इसी प्रकार जब पर-रूप की अपेक्षा भी कहा जाये तो स्यान्नास्ति-अवक्तव्य रूप छठवाँ भंग निर्मित होता है तथा अवक्तव्य वस्तु स्व-पर चतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) की अपेक्षा अस्ति-नास्ति होने के कारण सातवाँ भंग स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य कहा जाता है।

लोक-व्यवहार मुख्य गौण भाव पर आश्रित है। एक की मुख्यता और दूसरे की गौणता के आधार पर चलता है। इस स्थिति में प्रश्न होता है कि उक्त सप्त-भंगों में से अस्ति, नास्ति इन दोनों भंगों में से कोई एक भंग स्वीकार कर लिया जाये और दूसरा न माना जाये। यदि इससे काम चल सकता है तो अन्य भंगों की संख्या भी नहीं बनेगी।

उक्त प्रश्न निराधार है। उसका कारण यह है कि प्रथम अस्ति भंग में पदार्थ के अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव उसके अस्तित्व के नियामक हैं और नास्ति भंग के पर-पदार्थों के द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से है। क्योंकि स्व-रूप के ग्रहण और पर-रूप के त्याग द्वारा ही वस्तु का वस्तुत्व स्थिर होता है। यदि पर-रूप की व्यावृत्ति न हो तो वस्तु के सभी रूपों में एक ही प्रकार का व्यवहार होगा और स्व-रूप का ग्रहण न हो तो निःस्वरूपत्व का प्रसंग होने से वस्तु आकाशकुसुमवत् असत् हो जायेगी।[1] दूसरी बात यह है कि प्रत्येक वस्तु स्व-रूप से विद्यमान है, पर-रूप से उसका अस्तित्व नहीं है। इस स्थिति में यदि वस्तु को सर्वथा भाव रूप ही स्वीकार किया जाये तो एक वस्तु के सद्भाव से सम्पूर्ण वस्तुओं का भी सद्भाव मानना पड़ेगा और यदि वस्तु को सर्वथा अभाव रूप मान लिया जाये तो वस्तु सर्वथा स्वभाव रहित सिद्ध हो जायेगी।[2] अतएव अन्य का निषेध किये बिना विधिरूप (अस्तित्व) ज्ञान

१ स्वपरात्मोपादानापोहन व्यवस्थापाद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्व। यदि स्वस्मिन् परात्मव्यावृत्ति विपरिणतिर्न स्यात् सर्वात्मना घट इति व्यपदिश्येत। इह परात्मना व्यावृत्तावपि स्वात्मोपादानविपरिणतिर्न स्यात् खरविषाणवदवस्तुत्वं स्यात्।

—राजवार्तिक १।६।५

२ सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च।
अन्यथा सर्वं सत्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसंभवः॥

—स्याद्वाद मंजरी, श्लोक १४ की व्याख्या

नहीं हो सकता है। वस्तु के स्वरूप का बोध करने के लिए उस स्वरूप से अतिरिक्त अन्य रूपों का निषेध करना आवश्यक है।

परन्तु इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि अस्तित्व और नास्तित्व यह दोनों धर्म सापेक्ष हैं, क्योंकि यह दोनों एक-दूसरे के बिना नहीं रहते हैं। लेकिन जिस समय अस्तित्व धर्म को मुख्यता देते हैं, उस समय वस्तु को अस्ति और नास्ति धर्म की प्रधानता होने पर वस्तु को नास्ति कहते हैं। अस्तित्व यद्यपि वस्तु के शुद्ध सद्-भाव का बोध कराता है किन्तु उस सद्भाव की सुरक्षा, शुद्धता एवं प्रामाणिकता विरोधी धर्म के अभाव पर आधारित है और विरोधी धर्म का निषेध नास्तित्व द्वारा किया जाता है। इस स्थिति में यदि एकमात्र 'अस्ति भंग' माना जाये और 'नास्ति भंग' न मानें तो जो वस्तु एक स्थान पर है, वह अन्य सब स्थानों पर भी रहेगी। इस तरह एक स्थान पर विद्यमान घड़ा भी व्यापक हो जायेगा।

इसी तरह केवल नास्ति भंग ही माना जायेगा तो एक स्थान पर वस्तु का अभाव होने से सर्वत्र उसका अभाव मानना पड़ेगा।

एक वस्तु के सम्बन्ध में किया गया उक्त कथन सार्वत्रिक समझना चाहिए। इसीलिये अस्ति और नास्ति इन दोनों भंगों को पृथक्-पृथक् मानने की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है।

इसके सिवाय इन दोनों भंगों का विषय अलग-अलग है। एक का कार्य दूसरे के द्वारा नहीं हो सकता है। जैसे 'घड़ा यहाँ नहीं है' इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि 'अमुक स्थान पर घड़ा है'। अतः 'वह कहाँ पर है' इस जिज्ञासा का समाधान व उस स्थान का ज्ञान कराने के लिये अस्ति भंग जरूरी है। इसी प्रकार अस्ति भंग का प्रयोग होने पर भी नास्ति भंग की आवश्यकता बनी रहती है। जैसे—'मेरी थाली में रोटी है' कह देने पर भी 'तुम्हारी थाली में रोटी नहीं है' कहने की आवश्यकता रहती है। क्योंकि ये दोनों चीजें भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार अस्ति व नास्ति इन दोनों भंगों को पृथक्-पृथक् मानना आवश्यक है।

'अस्ति-नास्ति' (उभय) नामक तृतीय भंग उक्त दोनों भंगों से अलग स्वीकार करना होगा। क्योंकि प्रत्येक वस्तु क्रम से विधि-निषेध दोनों धर्मों से कथंचित् अस्तित्व एवं नास्तित्व दोनों रूप ही है। अतएव केवल अस्ति अथवा केवल नास्ति द्वारा उसका ज्ञान नहीं हो सकता है। मिश्रित वस्तु के कथन हेतु मिश्र शब्द का ही प्रयोग किया जाता है और मिश्रित वस्तु को भिन्न मानना प्रत्यक्ष एवं प्रयोगसिद्ध है। इसके लिए 'खटमिट्ठा' शब्द को ले लें। इसमें खट्टा और मीठा ये दो शब्द संयुक्त हैं और उन दोनों की वाच्य वस्तु के गुण-धर्म भी पृथक्-पृथक् हैं। परन्तु उन दोनों के संयोग से एक तीसरे प्रकार की रस स्थिति व्यक्त होती है, जो न खट्टी है और न मीठी। अतः अस्ति-नास्ति रूप तीसरा भंग पहले दो भंगों से भिन्न है।

इसके अलावा दूसरी बात यह भी है कि प्रत्येक वस्तु स्व-सद्भाव और पर-

वस्तु की अवक्तव्यता नय की अपेक्षा से मानी जाती है। क्योंकि नय एक साथ दोनों धर्मों को कहने में असमर्थ है। नय द्वारा एक समय में एक ही धर्म को कहा जाता है, लेकिन प्रमाण द्वारा एक साथ अनेक धर्मों का कथन हो सकने से वस्तु वक्तव्य भी है।[1]

यद्यपि कई अपेक्षाओं से पदार्थ अवक्तव्य है, फिर भी किसी दृष्टि से वह वक्तव्य भी बन सकता है, उसकी विवेचना की जा सकती है। इसीलिए प्रथम क्षण में स्व-चतुष्टय से अस्तिरूप तथा दूसरे क्षण में युगपत् स्व-पर चतुष्टय रूप अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा और दोनों समयों में सामूहिक दृष्टि होने पर स्यादस्ति अवक्तव्य नामक पाँचवाँ भंग निष्पन्न होता है।[2]

स्यान्नास्ति-अवक्तव्य नामक छठवाँ भंग प्रथम समय पर-चतुष्टय से नास्ति रूप, द्वितीय समय में अवक्तव्य की क्रमिक विवक्षा तथा दोनों समयों में सामूहिक दृष्टि होने पर बनता है।[3]

प्रथम समय में स्व-चतुष्टय, द्वितीय समय में पर-चतुष्टय तथा तृतीय समय में युगपत् स्व-पर-चतुष्टय की क्रमिक विवक्षा और तीनों समयों में सामूहिक दृष्टि होने पर स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्य नामक सातवाँ भंग बन जाता है।[4]

इन सात भंगों में से अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य ये तीन मूल भंग हैं और शेष चार—अस्ति-नास्ति, अस्ति-अवक्तव्य, नास्ति-अवक्तव्य और अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य संयोगज भंग हैं जो अस्ति आदि तीन मूल भंगों की क्रमिक विवक्षा पर सामूहिक दृष्टि रहने पर बनते हैं और वे तत्सम्बद्ध धर्मों के अनुस्यूत अस्तित्व की स्वीकृति देते हैं।

सप्तभंगी का क्रम विधान : मतभिन्नता

अनन्त धर्मात्मक वस्तु स्वरूप का कथन करने वाले स्यादस्ति आदि उक्त

---

१ ■ पुनर्वक्तुमशक्यं युगपद् धर्मद्वयं प्रमाणस्य क्रमवर्ती।
वैषम्यमिह नय प्रमाण न तद्वदिह यस्मात् ॥
यस्त्विह पुन. प्रमाण वक्तुमलं वस्तुजातमिह यावत्।
सदसदनेकैकमियो नित्यानित्यादिकं च युगपदिति ॥
—पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध ६६३-६४

२ स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधि कल्पनया युगपद् विधिनिषेध कल्पनया च पंचम:। —रत्नाकरावतारिका, अ० ४

३ स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद् विधिनिषेध कल्पनया च षष्ठः। —वही, अ० ४

४ स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधिनिषेध कल्पनया युगपद् विधिनिषेध कल्पनया च सप्तम इति। —वही, अ० ४

सात भंग हैं, जिनके बारे में पहले यह संकेत किया जा चुका है कि अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य ये तीन मूल भंग हैं। शेष चार संयोगज हैं। उनमें अस्ति-नास्ति, अस्ति-अवक्तव्य, नास्ति-अवक्तव्य द्विसंयोगी और अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य त्रिसंयोगी हैं। मूल तीन भंग होने पर भी फलितार्थ रूप से सात भंगों का उल्लेख आगम साहित्य में भी प्राप्त होता है।[1] उसमें अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य, अस्ति-नास्ति, अस्ति-अवक्तव्य, नास्ति-अवक्तव्य, अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य—इस प्रकार का क्रम विधान है। लेकिन उत्तरवर्ती आचार्यों के बीच अवक्तव्य और अस्ति-नास्ति इन दोनों के क्रम विधान में मतभिन्नता दिखलाई देती है। किन्हीं-किन्हीं ने स्यादस्ति-नास्ति भंग को तीसरा और स्यादवक्तव्य को चौथा भंग माना है तो किन्हीं ने आगमों का अनुसरण करते हुए स्यादवक्तव्य को तीसरा और स्यादस्ति-नास्ति को चौथा भंग मानकर इन भंगों का वर्णन किया है, जिसका विवरण निम्न प्रकार है—

आचार्य कुन्दकुन्द ने स्यादस्ति आदि सप्तभंगों का नामोल्लेख किया है। उन्होंने प्रवचनसार[2] में तो स्याद्-अवक्तव्य को तीसरा भंग और स्यादस्ति-नास्ति को चौथा भंग माना है, जो आगमों के अनुसार है, लेकिन पंचास्तिकाय[3] में स्यादस्ति-नास्ति को तृतीय और स्यादवक्तव्य को चतुर्थ भंग कहा है। इसी तरह अकलंक भट्ट ने तत्त्वार्थराजवार्तिक में दो स्थानों पर सप्तभंगी का कथन किया है। उनमें से एक स्थान पर प्रवचनसार के क्रम का और दूसरे स्थान पर पंचास्तिकाय के क्रम का अनुसरण किया है। सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम और विशेषावश्यकभाष्य[4] में प्रथम क्रम को अपनाया है अर्थात् स्यादवक्तव्य को तीसरा और स्यादस्ति-नास्ति को चौथा भंग माना है। किन्तु आप्तमीमांसा, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमेयकमल मार्तण्ड, प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकार, स्याद्वादमंजरी, सप्तभंगीतरंगिणी में द्वितीय क्रम का अनुसरण करके स्यादस्ति-नास्ति को तृतीय भंग और स्याद्-अवक्तव्य को चौथा भंग माना है। शीलांकाचार्य ने स्यादवक्तव्य को तीसरे और स्यादस्ति-नास्ति को चतुर्थ भंग के स्थान पर रखा है।

उक्त मन्तव्यों में अधिकांश आचार्यों ने स्यादस्ति-नास्ति को तृतीय और स्याद्-

1. भगवती १२।१०
2. अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं।
   पज्जायेण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा॥
   —प्रवचनसार, ज्ञेयाधिकार, गा० ११५
3. सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
   दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि॥
   —पंचास्तिकाय गा० १४
4. विशेषावश्यकभाष्य गा० २-३२

अवक्तव्य को चतुर्थ भंग मानकर सप्तभंगी का कथन किया है। सम्भवतः इन आचार्यों की दृष्टि यह रही है कि पर्याय दृष्टि से कथन हो जाने के बाद द्रव्यदृष्टि को अपनाने से साधारणतया समझने में सुविधा होगी और यह भी समझ में आ जायेगा कि अस्तित्व, नास्तित्व की दृष्टि से जिन भंगों का यह कथन किया जा रहा है, उन परस्पर विरोधी धर्मों की सत्ता द्रव्य में है।

परमतापेक्षा स्यादस्ति अवक्तव्य आदि भंगत्रय योजना

सप्तभंगी के पूर्वोक्त सात भंगों में से आदि के चार भंग तो दर्शनान्तरों में भी समान रूप से माने गये हैं और स्यादवक्तव्य आदि शेष अन्तिम तीन भंग उनमें इस तरह प्रयोग में लाये जायेंगे। अद्वैतवादियों का सन्मात्र तत्त्व अस्ति होकर भी अवक्तव्य है। क्योंकि केवल सामान्य में वाचनिक प्रवृत्ति नहीं होती है। बौद्धों का अन्यापोह नास्तित्व होकर भी अवक्तव्य है, क्योंकि शब्द के द्वारा मात्र अन्य का अपोह करने से किसी विधि रूप वस्तु का बोध नहीं हो सकेगा। इस प्रकार स्याद्-अस्ति-अवक्तव्य और स्यान्नास्ति-अवक्तव्य भंग की योजना होती है और वैशेषिक के स्वतन्त्र सामान्य और विशेष अस्ति-नास्ति सामान्य विशेष रूप होकर भी अवक्तव्य हैं—शब्द के द्वारा वाच्य नहीं है। क्योंकि दोनों को स्वतन्त्र मानने पर उनमें सामान्य-विशेष भाव नहीं हो सकता है। सर्वथा भिन्न सामान्य और विशेष में शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती और न उनमें कोई अर्थक्रिया हो सकती है। अतः स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्य इस सातवें भंग की वैशेषिक दर्शन की अपेक्षा योजना हो जायेगी।

सप्तभंगी और स्याद्वाद का सम्बन्ध

स्याद्वाद और सप्तभंगी को सामान्यतया एक ही समझा जाता है। यह समझना उचित भी है क्योंकि स्याद्वाद एवं सप्तभंगी में व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध है। स्याद्वाद व्याप्य है और सप्तभंगी व्यापक। अतः इनका सम्बन्ध घनिष्ट है। स्याद्वाद तो निश्चित रूप से सप्तभंगी होता ही है किन्तु जो सप्तभंगी है वह स्याद्वाद है भी और नहीं भी है। *क्योंकि नय स्याद्वाद नहीं है तथापि उसमें सप्तभंगीत्व व्याप्त होने से व्यापक धर्म है जो नय और स्याद्वाद दोनों में रहता है।*

प्रमाण एवं नय सप्तभंगी

प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म विद्यमान हैं और शब्दों द्वारा इन धर्मों का एक साथ या क्रमशः प्रतिपादन किया जाता है यानी एक शब्द से वस्तुगत एक धर्म का भी कथन किया जा सकता है और अनेक धर्मों से समन्वित वस्तु का भी। जिस समय उन अनेक धर्मों और धर्मी में अभेदोपचार की प्रधानता और भेदोपचार की गौणता होती है तब अनन्त धर्मात्मक वस्तु का कथन होता है और भेदोपचार की प्रधानता एवं अभेदोपचार की गौणता की स्थिति में वस्तुगत धर्मों में से किसी एक धर्म का भी कथन होता है। *अभेदोपचार की प्रधानता से सम्पूर्ण धर्मों का एक साथ प्रतिपादन*

असत् उभय की विवक्षा हो नहीं सकती है, जिसमे निरवयव द्रव्य को विषय करना सम्भव नही है। अतएव सत्-असत्, सत्-अवक्तव्य, असत्-अवक्तव्य और सदसत्-अवक्तव्य इन चारों भगों को विकलादेशी मानना चाहिए।

उक्त मतभिन्नताओं का कोई विशेष महत्व नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार हम सत्वमुखेन समस्त वस्तु का संग्रह कर सकते हैं, उसी तरह सत्व और असत्व दो धर्मों के द्वारा भी अखण्ड वस्तु का ग्रहण करेंगे, इसमें कोई बाधा प्रतीत नही होती है। यह तो विवक्षाभेद और दृष्टिभेद की बात है अर्थात् विवक्षाभेद ही इसका कारण है।

आचार्य मलयगिरि[१] प्रमाणवाक्य मे ही 'स्यात्' शब्द का प्रयोग मानते हैं। इस सम्बन्ध मे उनका दृष्टिकोण यह है कि नयवाक्य में जब 'स्यात्' पद के द्वारा शेष धर्मों का संग्रह हो जाता है तब वह समस्त वस्तु का ग्राहक होने से प्रमाण ही हो जायेगा, नय नही रह सकता है, क्योंकि नय एक धर्म का ग्राहक होता है। इस मत की मीमासा करते हुए उपाध्याय यशोविजयजी ने गुरुतत्त्वविनिश्चय मे लिखा है कि नयान्तर सापेक्ष नय का प्रमाण मे अन्तर्भाव करने पर व्यवहारनय को प्रमाण मानना पड़ेगा, नय नही रहेगा क्योंकि यह निश्चय की अपेक्षा रखता है। इसी प्रकार चारों निक्षेपों को विषय करने वाले शब्दनय भी भाव-विषयक शब्दनय सापेक्ष होने से प्रमाण हो जायेंगे। अत वास्तविक बात तो यह है कि नयवाक्य मे 'स्यात्' पद प्रतिपक्षी नय के विषय की सापेक्षता ही उपस्थित करता है, न कि अन्य अनन्त धर्मों का परामर्श करता है। यदि ऐसा न हो तो अनेकान्त में सम्यग्-एकान्त का अन्तर्भाव ही नही हो सकेगा। सम्यग्-एकान्त का अर्थ है अपने प्रतिपक्षी धर्म की अपेक्षा रखने वाला एकांत। इसलिये 'स्यात्' यह अव्यय अनेकान्त का द्योतक है न कि अनन्त धर्मों का परामर्श करने वाला। अत. प्रमाण वाक्य में 'स्यात्' पद अनन्त धर्मों का परामर्श करता है और नयवाक्य मे प्रतिपक्षी धर्म की अपेक्षा का द्योतन। प्रमाण मे सत् और असत् दोनों का ग्रहण होता है और स्यात् पद से अनेकात अर्थ का द्योतन होता है जबकि नय मे एक धर्म का मुख्य भाव से ग्रहण होकर भी शेष धर्मों का निराकरण नही किया जाता, उनका सद्भाव गौण रूप से स्वीकृत रहता है। नयवाक्य मे स्यात् पद प्रतिपक्षी शेष धर्मों के अस्तित्व की रक्षा करता है। अनेकात में जो सम्यग् एकान्त समाता है, वह धर्मान्तर सापेक्ष धर्म का ग्राहक ही तो होता है।

'एव' पद की सार्थकता

ऊपर बताया गया है कि प्रमाणवाक्य मे (सकलादेश मे) धर्मीवाचक शब्द के साथ 'एव' शब्द लगता है जो धर्मी का अखण्ड भाव से बोध कराता है और नयवाक्य (विकलादेश) में धर्मवाचक शब्द के साथ, जो धर्म का मुख्य रूप से ज्ञान कराता है।

१ आवश्यकनिर्युक्ति टीका, पृष्ठ ३७१ ए

लेकिन बौद्धदर्शन का कथन है कि सभी शब्दों में अन्य से व्यावृत्ति कराने की शक्ति होने से घट पट आदि शब्दों द्वारा घट से भिन्न अथवा पट से भिन्न पदार्थों की व्यावृत्ति स्वतः हो जाया करती है। अतः अवधारण वाचक 'एव' शब्द का प्रयोग व्यर्थ है।

बौद्धदर्शन का उक्त दृष्टिकोण एक सीमा तक ही ठीक है कि सामान्यतः शब्द विधिपरक ही अर्थ का बोध कराते हैं। लेकिन इसके साथ ही संशय, अनिश्चय, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों की निवृत्ति एवं अन्य की व्यावृत्ति के लिए 'एव' शब्द का प्रयोग अनिवार्य है। अवधारणवाचक 'एव' तीन प्रकार का होता है—(१) अयोगव्यवच्छेदबोधक, (२) अन्ययोगव्यवच्छेदबोधक, (३) अत्यन्तायोगव्यवच्छेद-बोधक।

अयोगव्यवच्छेदबोधक—धर्म-धर्मी के सम्बन्ध को समान अधिकरण रूप से बताने वाला, एवं धर्म-धर्मी एकाकारता, एकत्र स्थितिधर्मता अथवा एकरूपता बताने वाला 'एव' अयोगव्यवच्छेदबोधक कहलाता है। जैसे—'शंखः पाण्डु एव—शंख सफेद ही है।' यहाँ 'एव' शब्द विशेषण के साथ लगा हुआ है—पाण्डु एव। जो शंख में सफेद धर्म का ही विधान करके अन्य से उसके असम्बन्ध की व्यावृत्ति के लिये है। यानी सफेद के सिवाय अन्य धर्मों की व्यावृत्ति कराना यहाँ 'एव' पद का संकेत है।

अन्ययोगव्यवच्छेदबोधक—अभिहित पदार्थ में दृष्ट धर्मों के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का अथवा अन्य पदार्थों के धर्मों का अस्तित्व नहीं है, इस प्रकार दूसरे के सम्बन्ध की निवृत्ति का बोधक 'एव' शब्द अन्ययोगव्यवच्छेदबोधक कहलाता है। जैसे 'पार्थ एव धनुर्धरः—धनुषधारी पार्थ ही है।' इस उदाहरण में पार्थ के सिवाय अन्य व्यक्तियों में धनुर्धरत्व का व्यवच्छेद किया गया है। जब 'एव' शब्द विशेष्य के साथ लगता है तब यह अन्ययोगव्यवच्छेद रूप अर्थ का बोध कराता है।

अत्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधक—अत्यन्त असम्बन्ध की व्यावृत्ति का ज्ञान कराने वाला 'एव' शब्द अत्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधक है। यह दोषपूर्ण सम्बन्धों की भी सर्वथा व्यावृत्ति कराता है। जैसे—'नीलं सरोजं भवत्येव—कमल नीला भी होता है।' यहाँ कमल में इतर वर्णों का निषेध न करते हुए नीलत्व धर्म का विधान भी है। जब क्रियापद के साथ 'एव' लगा हुआ हो तो वह अत्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधक कहलाता है।

पूर्वोक्त प्रमाण और नय वाक्य के उदाहरणों में जो 'एव' शब्द का प्रयोग हुआ है वह विवक्षा के संकेत के लिए हुआ है। अर्थात् प्रमाण और नय सप्तभंगी के उदाहरणों में जो एव शब्द का प्रयोग किया जाता है, उन वाचक शब्दों में कोई शब्द तो प्रसंगवशात् विधान करने में प्रवृत्त होता है और इसी प्रकार कोई शब्द निषेध करने में। इसलिये 'स्यात् जीव एव' इस प्रमाण सप्तभंगी के प्रथम भंग के उदाहरण में अन्य धर्मों का निषेध न करके अपने धर्मी जीव का बोध कराया है तथा 'स्यादस्त्येव जीवः' इस नय सप्तभंगी के प्रथम भंग में अन्य धर्मों का निषेध नहीं किया गया है। सप्तभंग कथन प्रक्रिया में अन्य धर्मों और धर्म का न तो निषेध हो और न अत्यन्त

असम्बद्ध एवं दोषपूर्ण सम्बन्धों का समावेश हो जाय यही एव शब्द की सार्थकता है।

वस्तु के अनन्त धर्मात्मक होने से भले ही अनन्त भंग हो जायें लेकिन वे भग भी विधि और निषेध की अपेक्षा सात ही होगे। अनन्त धर्मात्मक वस्तु होने से अस्ति-नास्ति की तरह एकात-अनेकात, स्व-पर-चतुष्टय, सामान्य-तद्भाव, सामान्य-विशेष, विशिष्टसामान्य विशिष्टविशेष, गुण-गुणी, धर्म-धर्मी आदि अनेक प्रकार के सप्तभंगी प्रयोग हो सकते है। इसका कारण है उन-उन धर्मों की वस्तु में सापेक्ष सत्ता का सद्भाव।

अभेद-भेद-उपचार के आठ द्वार

पूर्व में प्रमाण सप्तभगी और नय सप्तभंगी के नामों का संकेत किया जा चुका है। उनमें से प्रमाण सप्तभगी मे तो वस्तु में अभिन्न रूप से रहने वाले सम्पूर्ण धर्म और धर्मियो मे अभेद भाव की प्रधानता रखकर अथवा काल आदि से भिन्न धर्म और धर्मी मे अभेद का उपचार मानकर सम्पूर्ण धर्म और धर्मियों का एक साथ कथन किया जाता है और नय सप्तभंगी मे वस्तुगत धर्मों का भेद प्राधान्य अथवा भेदोपचार से एक-एक धर्म का क्रम से निरूपण होता है अर्थात् प्रमाण सप्तभगी में अभेदोपचार, अभेद वृत्ति की और नय सप्तभगी मे भेदोपचार, भेदवृत्ति की प्रधानता होती है। भेद और अभेद के दूसरे नाम क्रम और युगपत् है।

क्रम—जिस समय अस्तित्व आदि धर्मों का काल आदि से भेद सिद्ध करना होता है, उस समय एक शब्द से अनेक धर्मों का ज्ञान नही हो सकता है। अतएव सम्पूर्ण धर्मों का एक-एक करके जो कथन किया जाता है, उसे क्रम कहते हैं। क्रम-क्रम से कथन नय सप्तभगी है।

युगपत्—जिस समय वस्तु के अनेक धर्मों का काल आदि से अभेद सिद्ध करना होता है, उस समय एक शब्द से यद्यपि वस्तु के एक धर्म का ज्ञान होता है, परन्तु उस एक शब्द से ज्ञात इस एक धर्म के द्वारा ही पदार्थों के अनेक धर्मों का ज्ञान हो जाता है। इसे वस्तुओ का युगपत् (एक साथ) ज्ञान होना कहते हैं। यह ज्ञान प्रमाण सप्तभंगी द्वारा होता है।

इन भेदाभेदवृत्ति; भेदाभेदोपचार अथवा क्रम-यौगपद्य को मानने के निम्न-लिखित आठ द्वार हैं—

(१) काल, (२) आत्मरूप, (३) अर्थ, (४) सम्बन्ध, (५) उपकार, (६) गुणिदेश, (७) संसर्ग और (८) शब्द।[१]

इन आठ द्वारों से वस्तु के किसी एक धर्म से शेष धर्मों का अभेद इस प्रकार माना जाता है—

---

१ के पुन: कालादय: ? इति चेदुच्यते। काल: आत्मरूपम् अर्थ: सम्बन्ध: उपकार: गुणिदेश: संसर्ग: शब्द: इति।

—सप्तभंगी तरंगिणी, पृष्ठ ३३

काल—'अस्ति एव घट:'—यहाँ पर जिस काल में घट द्रव्य मे अस्तित्व धर्म रहता है, उसी काल मे शेष अनन्त धर्म भी घट मे विद्यमान होते हैं। इस प्रकार एक काल-अवस्थिति की दृष्टि से शेष अनन्त धर्मों को अस्तित्व धर्म से अभिन्न मानना काल से अभेद वृत्ति है।

आत्मरूप (स्वभाव)—जैसे घट मे अस्तित्व नामक गुण उसका स्वरूप बनकर रहता है, वैसे ही अन्य अनेक गुण—कृष्णत्व आदि भी घट के स्वरूप बनकर रहते हैं। यही एक स्वरूपत्व होना आत्मरूप है जिसके द्वारा अभेदवृत्ति ज्ञात होती है।

अर्थ[१]—जैसे 'अस्तित्व' गुण का घट द्रव्य आधार है, वैसे ही अन्य अनन्त धर्मों का आधार भी वही घट द्रव्य है। अत अर्थ की दृष्टि से अस्तित्व तथा अन्य गुणों मे अभेदवृत्ति है।

सम्बन्ध—जैसे अस्तित्व गुण का घट द्रव्य के साथ सम्बन्ध है वैसे ही अन्य गुणों का भी उसके साथ सम्बन्ध है। अत सम्बन्ध की दृष्टि से भी अस्तित्व और अन्य गुणों में अभेदवृत्ति है।

उपकार—जैसे अस्तित्व गुण वस्तु की सत्ता के प्रदर्शन मे और अपनी विशिष्टता के सम्पादन में सहायता करता है, वैसे ही अन्य गुण भी अस्तित्व की तरह अपनी-अपनी क्रिया रूप मे सहायता और वस्तु की विशिष्टता को व्यक्त करने में सहयोग प्रदान करते हैं। अत: गुणों की उपकारवृत्ति समान होने से उपकार दृष्टि से भी अभेदवृत्ति पाई जाती है।

गुणिदेश[२]—जैसे अस्तित्व नामक गुण घट द्रव्य के जिस क्षेत्र मे रहता है, उसी क्षेत्र में अन्य शेष धर्म भी रहते हैं। अस्तित्व की तरह अन्य धर्म भी एक क्षेत्र—देश मे रहने वाले होने से गुणिदेश की अपेक्षा भी अभेदवृत्ति है।

संसर्ग—जैसे अस्तित्व गुण का घट द्रव्य के साथ ससर्ग है, वैसा ही शेष अनंत धर्मों का भी एक ही वस्तुत्व स्वरूप से उसी घट के साथ ससर्ग है। इसे संसर्ग दृष्टि से अभेदवृत्ति कहते हैं।

शब्द—जैसे 'है' यह शब्द अस्तित्व गुण वाले घट पदार्थ का वाचक है, वैसे ही शेष अनन्त गुणों वाले घट पदार्थ का भी वाचक है। इस प्रकार सभी गुणो की एक शब्द द्वारा वाचकता सिद्ध करने वाली यह शब्द नामक अभेदवृत्ति है।

प्रमाण सप्तभंगी मे उक्त काल आदि के द्वारा यह अभेदवृत्ति, अभेद व्यवस्था, अभेदोपचार पर्याय रूप अर्थ को गौण और पिंड रूप द्रव्य को प्रधान करने पर सिद्ध हो जाती है। अभेदवृत्ति प्रमाण का मूल प्राण है, अत: बिना अभेद के प्रमाण का स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता है। जबकि नय सप्तभंगी भेद प्रधान है। उसमे गुण पिंड

---

१ अखण्ड पूर्ण द्रव्य को अर्थ कहा जाता है।

२ गुणि देश—अखंड द्रव्य के बुद्धि कल्पित देश—अंश।

रूप द्रव्य गौण और पर्यायस्वरूप से अर्थ को प्रधान माना जाता है। इसलिए जैसे प्रमाण सप्तभंगी में काल आदि के आधार पर एक गुण को अन्य गुणों से अभेद, अभिन्न विवक्षित किया जाता है वैसे ही नय सप्तभंगी में उन्हीं काल आदि के आधारों से एक गुण का दूसरे गुण से भेद भी विवक्षित किया जाता है। वह इस प्रकार है—

काल— एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी अनेक गुणों की स्थिति एक रूप होना असम्भव है। क्योंकि वस्तुगत गुण प्रतिक्षण विभिन्न रूपों में परिणत होते रहते हैं। अत: जो अस्तित्व का काल है, वह नास्तित्व आदि का काल नहीं हो सकता है। विभिन्न धर्मों का विभिन्न काल होगा, एक नहीं हो सकता। यदि सभी गुणों का एक ही काल माना जाये तो सभी वस्तुओं का भी एक ही काल कहा जा सकेगा। क्योंकि गुणों का वस्तु में पृथक् अस्तित्व नहीं है। इसलिए काल की अपेक्षा वस्तुगत धर्मों में अभेद नहीं है, भेद है।

आत्मरूप— वस्तुगत गुणों का आत्मरूप (स्वरूप) भी पृथक्-पृथक् है। उनके लक्षण, संज्ञा आदि अलग-अलग हैं। अतः उन अनेक गुणों का आत्मरूप अलग-अलग न माना जाये तो गुणों में भेद की बुद्धि नहीं हो सकेगी। जब गुण अनेक हैं तो उनका आत्मरूप भी भिन्न-भिन्न होना चाहिए। क्योंकि एक आत्मरूप वाले अनेक नहीं, एक ही होंगे। अतः आत्मरूप से भी गुणों में भेद सिद्ध होता है।

अर्थ— विभिन्न धर्मों का आश्रयभूत अर्थ अनेक रूप होता है। यदि गुणों के आश्रयभूत पदार्थ अनेक न हों तो एक को ही अनेक गुणों का आश्रय होगा। क्योंकि अपने आश्रय रूप अर्थ अनेक रूप होता हुआ वह सभी गुणों भिन्न-भिन्न रूप वाला ही है और परस्पर में विरोधी गुणों का एकत्र होना अ है। एक का आधार एक ही होता है जिससे अर्थभेद से भी सभी धर्मों में भेद है

सम्बन्ध[1] — सम्बन्धी के भेद से सम्बन्ध का भी भेद देखा जाता है। यह सम्भव नहीं है कि सम्बन्धी तो अनेक हों और उन सबका सम्बन्ध एक हो कि पिता के साथ पुत्र का जो सम्बन्ध है, वही भाई आदि के साथ नहीं है। सम्बन्ध से भी विभिन्न धर्मों में अभेद नहीं, भेद वृत्ति दिखती है।

उपकार— अनेक गुणों द्वारा किए हुए या किए जा रहे उपकार भी हैं। अत अनेक धर्मों के द्वारा होने वाला वस्तु का उपकार भी वस्तु में पृथक् होने से अनेक रूप हैं, एक रूप नहीं है। अतः उपकार से भी अभेदवृत्ति दिखाई देती है, किन्तु भेद घटित होता है।

गुणिदेश— प्रत्येक गुण की अपेक्षा से गुणी के देश का भेद होता है, क प्रत्येक गुण के लिए गुणी का देश (क्षेत्र) भिन्न होना चाहिए अन्यथा दूसरे गुण

१ सम्बन्ध— भेद की गौणता और अभेद की प्रधानता अथवा तादात्म्य सम्बन्धों की परस्पर योजना करने वाला।

गुणों का इन गुणों के क्षेत्र से भेद नहीं हो सकेगा। जैसे भिन्न मानने से ही एक व्यक्ति के गुण-दुःख, ज्ञान आदि दूसरे व्यक्ति में नहीं माने जाते हैं, अभेद मानने पर तो एक वस्तु के गुण भी दूसरी वस्तु के मानने पड़ेंगे। इसलिये गुणिदेश से भी धर्मों का अभेद नहीं किन्तु भेद सिद्ध होता है।

संसर्ग[1]—संसर्ग की भिन्नता से संसर्गी में भी भिन्नता आ जाती है। यदि संसर्गियों में भेद के होते हुए भी उनके संसर्ग में अभेद माना जाये तो संसर्गियों का भेद घटित नहीं हो सकेगा। अतः संसर्ग भी प्रत्येक संसर्ग वाले के भेद से भिन्न ही मानना चाहिये। जिससे सांसर्गिक अभेद नहीं अपितु भेद सिद्ध होता है।

शब्द—अर्थ का भेद होने से शब्द का भेद अनुभव सिद्ध है। यदि शब्दभेद नहीं माना जायेगा तो वाच्य का अर्थभेद कैसे सिद्ध होगा? यदि एक ही शब्द समस्त धर्मों का वाचक हो तो वे सब एक ही शब्द के वाच्य बन जायेंगे तब दूसरे भिन्न-भिन्न वाचक शब्दों की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। इसलिए जब प्रत्येक धर्म का वाचक शब्द पृथक्-पृथक् है तो उन वाचक शब्दों की अपेक्षा वस्तुगत अनेक धर्मों में शब्द से भी अभेदवृत्ति नहीं किन्तु भेदवृत्ति ही सिद्ध होती है।

उक्त काल आदि आठ द्वारों के द्वारा बताये गये भेदाभेदोपचार संबंधी कथन का सारांश यह है कि प्रत्येक द्रव्य गुणपर्यायात्मक है और गुण-पर्याय दोनों में परस्पर भेदाभेद संबंध है। जिस समय प्रमाण सप्तभंगी के द्वारा वस्तु बोध किया जाता है, उस समय गुण-पर्यायों में काल आदि से अभेदवृत्ति या अभेदोपचार और अस्ति या नास्ति आदि किसी एक शब्द से ही अनन्त गुण-पर्यायों के पिंड रूप अखण्ड वस्तु का युगपत् बोध होता है और जिस समय नय सप्तभंगी द्वारा पदार्थ का परिज्ञान किया जाता है, उस समय गुण और पर्यायों में काल आदि के द्वारा भेदवृत्ति या भेदोपचार होता है। उस स्थिति में अस्ति, नास्ति आदि किसी शब्द के द्वारा द्रव्यगत अस्तित्व, नास्तित्व आदि किसी एक विवक्षित गुण या पर्याय का मुख्यतया निरूपण होता है। तात्पर्य यह है कि प्रमाण सप्तभंगी में द्रव्यार्थिक भाव है अतः अनेक धर्मों में अभेदवृत्ति स्वयं है और जहाँ पर्यायार्थिक भाव का आरोप किया जाता है वहाँ अनेक धर्मों में एक अखण्ड अभेद आरोपित किया जाता है तथा नय सप्तभंगी में जहाँ पर द्रव्यार्थिकता है वहाँ पर अभेद में भेद का उपचार करके एक धर्म का मुख्य रूप से निरूपण किया जाता है। किन्तु जहाँ पर्यायार्थिकता है वहाँ उपचार की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि नय वस्तु में विद्यमान धर्मों में से एक धर्म का मुख्यतया वर्णन करता है। लेकिन उस स्थिति में भी वह अन्य विद्यमान धर्मों के अस्तित्व का अपलाप नहीं करता है।

---

१ संसर्ग—अभेद की गौणता और भेद की प्रधानता अथवा एक वस्तु में अशेष धर्मों को बताने वाला।

(२) नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेपों का जो आधार होता है वह स्व-आत्मा तथा अन्य पर-आत्मा। यदि अन्य रूप से भी वह अस्ति कहा जाये तो प्रतिनियत नाम आदि का व्यवहार नहीं बन सकेगा।

(३) घट शब्द के वाच्य अनेक घड़ों में से विवक्षित अमुक घट का जो आकार आदि है वह स्व-आत्मा तथा अन्य पर-आत्मा। यदि दूसरे घट के आकार से भी वह घट 'अस्ति' हो जाये तो सभी घड़े एक घट रूप हो जायेंगे।

(४) अमुक घट भी द्रव्यदृष्टि से अनेक क्षण स्थायी होता है। क्योंकि अन्वय मिट्टी द्रव्य की अपेक्षा स्थान, कोश, कुशूल आदि पूर्वोत्तर अवस्थाओं में भी घट व्यवहार सम्भव है। इसलिये मध्यक्षणवर्ती घट पर्याय स्व-आत्मा है तथा अन्य की पूर्वोत्तर पर्यायें पर-आत्मा। उसी अवस्था में वह घट है। क्योंकि घट का जल धारण आदि गुण, क्रियाएँ उसी अवस्था में पाई जाती हैं।

(५) उस मध्यकालवर्ती घट पर्याय में भी प्रतिक्षण उपचय-अपचय होता रहता है। अत. ऋजुसूत्रनय की दृष्टि मे एकक्षणवर्ती घट ही स्व-आत्मा है और अतीत, अनागत क्षणो की उस घट की पर्यायें—अवस्थायें पर-आत्मा हैं। यदि वर्तमान क्षण की तरह अतीत और अनागत क्षणो से भी घट का अस्तित्व माना जावे तो म घट वर्तमान क्षणमात्र ही माने जायें। अतीत और अनागत की तरह वर्तमान क्षण से भी असत्त्व माना जाये तो घट व्यवहार का लोप ही हो जायेगा।

(६) उस वर्तमान घट क्षण मे रूप, रस, गंध, स्पर्श, आकार आदि अनेक गुण-पर्यायें है, अत. घड़े के आकार से गुण-पर्यायें हैं। उसी आकार में घट व्यवहार होता है, अन्य प्रकार से नही।

(७) आकार में रूप रस आदि सभी हैं। घड़े के रूप को आँख से देखकर। घड़े के अस्तित्व का व्यवहार होता है अत. रूप स्व-आत्मा है और रस आदि पर-आत्मा। 'आँख से घड़े को देखता हूँ' यहाँ रूप की तरह रस आदि भी चक्षु ग्राह्य हो से रूपात्मक हो जायेंगे। जिससे उस स्थिति मे अन्य इन्द्रियों की कल्पना निरर्थक हो जायेगी।

(८) शब्दभेद से अर्थभेद होता है। अतः घट शब्द का अर्थ अलग है और कुट आदि शब्दों का अर्थ भिन्न है। घटन क्रिया के कारण घट है तथा कुटिल होने से कुट। अतः घट जिस समय घटन क्रिया में कर्ता रूप से उपयुक्त होने वाला स्वरूप स्व-आत्मा है और अन्य पर-आत्मा। यदि दूसरे रूप से भी घट कहा जाये तो पट आदि में भी घट व्यवहार होना चाहिए। इस तरह सभी पदार्थ एक शब्द के वाच्य हो जायेंगे।

(९) घट शब्द के प्रयोग के बाद उत्पन्न घट ज्ञानाकार स्व-आत्मा है। क्योंकि वही अन्तरंग है और अज्ञेय है, बाह्य घटाकार पर-आत्मा है। अत: घट उपयोग आकार में है, अन्य में नहीं।

(10) चैतन्य शक्ति के दो प्रकार होते हैं—(1) ज्ञानाकार (2) ज्ञेयाकार। प्रतिबिम्ब शून्य दर्पण की तरह ज्ञानाकार है और सप्रतिबिम्ब दर्पण की तरह ज्ञेयाकार। इनमे ज्ञेयाकार स्व-आत्मा है। क्योकि घटाकार ज्ञान से ही घट व्यवहार होता है और ज्ञानाकार पर-आत्मा है। क्योकि वह सर्व साधारण है। यदि ज्ञानाकार से घट माना जाये तो पट आदि ज्ञानकाल मे भी घट व्यवहार होना चाहिए। यदि ज्ञेयाकार मे भी घट नास्ति माना जाये तो घट व्यवहार निराधार हो जायेगा।

उक्त स्व-पर के कथन का आधार नय, निक्षेप आदि हैं। जिस-जिस अपेक्षा से पदार्थ को मुख्य मानकर कथन किया जायेगा, वह उस अपेक्षा से स्व बनेगा और अन्य विद्यमान अपेक्षायें पर होंगी, लेकिन इससे यह आशय नहीं समझना चाहिए कि वे अपेक्षायें उस पदार्थ मे नही हैं। जब उन गौण अपेक्षाओं मे से किसी को वर्णन की कोटि मे लायेंगे तो अभी जिस अपेक्षा को मुख्य मानकर स्व-आत्मा कहा गया है वह पर-आत्मा कहलाने लगेगी।

स्याद्वाद-सप्तभंगी मे स्व-पर चतुष्टय का यही अर्थ है।

इस प्रकार हम देखते है कि भगवान महावीर से पूर्व उपनिषद् काल मे वस्तु तत्त्व की सदसत् आदि चार पक्षो को लेकर विचारणा चल रही थी, फिर भी किसी निर्णय पर नही पहुँचा जा रहा था और संजय वेलट्ठिपुत्त ने तो उन प्रश्नो को अज्ञात कहकर उपेक्षा करने का प्रयास किया एवं तथागत बुद्ध ने कितनी ही बातो का समाधान करने के लिए विभज्यवाद का आश्रय लेकर भी अन्त मे अव्याकृत ही कह दिया लेकिन *भगवान महावीर ने अपनी विशाल एवं तत्त्वस्पर्शिनी दृष्टि से वस्तु का ईक्षण करके* कहा—वस्तु का कथन, विवेचन चार पक्ष को लेकर ही नहीं किया जा सकता है। क्योकि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है अतः उसके अनन्त पक्ष हैं, अनन्त विकल्प हैं और उनका कथन उतने ही प्रकार से होगा। परन्तु वे अनन्त प्रकार सिर्फ सत्, असत् उभय और अनुभय रूप चार पक्ष वाले न होकर सप्रतिपक्ष विधि और निषेध, अस्ति-नास्ति, वक्तव्य-अवक्तव्य आदि की अपेक्षा अविरुद्ध सात हो सकते हैं और उन्होंने प्रत्येक धर्म के लिए सप्तभंगी का वैज्ञानिक रूप प्रस्तुत किया तथा अनन्त धर्मों के लिए अनन्त सप्तभंगियों का प्रतिपादन करके वस्तुबोध का सर्वग्राही रूप जनसाधारण के समक्ष उपस्थित किया।

भगवान महावीर द्वारा वस्तुदर्शन के लिए प्रदत्त बीजों को उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपने अध्यवसाय द्वारा विशाल रूप दे दिया जो स्याद्वाद की कथन शैली सप्त-भंगी के नाम से प्रख्यात है। □

चित्रमेकमनेकं च रूपं प्रामाणिकं वदन्।
योगो वैशेषिको वापि, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्॥
विज्ञानस्यैकमाकारं, नानाकारकरम्बितम्।
इच्छंस्तथागतः प्राज्ञो, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्॥
जातिवाक्यात्मकं वस्तु, वदन्ननुभवोचितम्।
भट्टो वापि मुरारिर्वा, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्॥
अबद्धं परमार्थेन, बद्धं च व्यवहारतः।
ब्रुवाणो ब्रह्मवेदान्ती, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्॥
ब्रुवाणा भिन्न-भिन्नार्थान् नयभेदव्यपेक्षया।
प्रतिक्षिपेयुर्नो वेदाः स्याद्वाद सार्वतान्त्रिकम्॥

—अध्यात्मोपनिषद्

4
विभिन्न दर्शनों में स्याद्वाद

विचार एवं चिन्तन की दो धाराएँ हैं—सामान्यगामिनी और विशेषगामिनी। पहली धारा अथवा दृष्टि समस्त विश्व में विद्यमान वस्तुमात्र में समानता ही समानता देखती है और दूसरी दृष्टि असमानता ही असमानता देखती है। सामान्यगामिनी दृष्टि में एकमात्र जो विषय प्रतिभासित होता है, वह एक, अखंड, सत् रूप है और विशेषगामिनी दृष्टि में समानता कृत्रिम प्रतीत होती है। वस्तु अत्यन्त भिन्न, परस्पर एक दूसरे से असंपृक्त, निरन्वय भेदों का पुंजमात्र है। इन दोनों दृष्टियों के आधार पर निर्मित प्रत्येक भारतीय दर्शन ने अपनी-अपनी चिन्तन प्रणाली निश्चित की है। सामान्यगामिनी दृष्टि अद्वैतवाद के नाम से और विशेषगामिनी दृष्टि शून्यवाद, क्षणिकवाद के नाम से विख्यात हुई। शंकराचार्य अद्वैतवाद के प्रमुख प्रचारक और तथागत बुद्ध शून्यवाद के प्रवर्तक माने जाते हैं। दोनों के विचारों में इतना अधिक अन्तर है कि एक दूसरे के विचारों को सुनना तो दूर रहा, निकट आना भी उन्हें रुचिकर नहीं है। हाँ, वे इतना जरूर करते हैं कि अपनी-अपनी युक्तियों-प्रमाणों द्वारा एक दूसरे की मीमांसा, खंडन-मंडन करने में सदा तत्पर रहते हैं। अद्वैतवाद और शून्यवाद के आधार पर निर्मित दर्शनों ने किसी न किसी एक दृष्टि का आश्रय लेकर तत्त्व-चिन्तन किया है। यद्यपि दोनों वाद एकांतिक हैं, फिर भी उन्हें अपने कथन को प्रमाणित करने के लिए जैनदर्शन द्वारा प्ररूपित स्याद्वाद-अनेकान्तवाद का आश्रय लेना पड़ा है। इतना ही नहीं, जैनदर्शन की आपेक्षिक कथन प्रणाली के अनुरूप ही तात्त्विक व्याख्या भी करनी पड़ी है।

अद्वैतवाद और क्षणिकवाद का अनुसरण करने वाली दार्शनिक विचार धाराओं ने अपने-अपने दृष्टिकोण से पदार्थ का चाहे जो कुछ भी रूप निर्धारित किया हो, लेकिन विश्व के समस्त पदार्थों—चेतन और अचेतन में—उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य ये तीन गुण स्पष्ट रूप से परिज्ञात होते हैं जहाँ हम वस्तु में उत्पत्ति और विनाश का अवलोकन करते हैं, वहीं उन दोनों स्थितियों में अनुस्यूत स्थिरता का भी अविकल

4
विभिन्न दर्शनों में स्याद्वाद

विचार एवं चिन्तन की दो धाराएँ हैं—सामान्यगामिनी और विशेषगामिनी। पहली धारा अथवा दृष्टि समस्त विश्व में विद्यमान वस्तुमात्र में समानता ही समानता देखती है और दूसरी दृष्टि असमानता ही असमानता देखती है। सामान्यगामिनी दृष्टि में एकमात्र जो विषय प्रतिभासित होता है वह एक, अखंड, सत् रूप है और विशेषगामिनी दृष्टि में समानता कृत्रिम प्रतीत होती है। वस्तु अत्यन्त भिन्न, परस्पर एक दूसरे से असम्बद्ध, निरन्वय भेदों का पुंजमात्र है। इन दोनों दृष्टियों के आधार पर निर्मित प्रत्येक भारतीय दर्शन ने अपनी-अपनी चिन्तन प्रणाली निश्चित की है। सामान्यगामिनी दृष्टि अद्वैतवाद के नाम से और विशेषगामिनी दृष्टि शून्यवाद, क्षणिकवाद के नाम से विख्यात हुई। शंकराचार्य अद्वैतवाद के प्रमुख प्रचारक और तथागत बुद्ध शून्यवाद के प्रणेता माने जाते हैं। दोनों के विचारों में इतना अधिक अन्तर है कि एक दूसरे के विचारों को समझना तो दूर रहा, निकट आना भी उन्हें रुचिकर नहीं है। हाँ, वे इतना जरूर करते हैं कि अपनी अपनी युक्तियों प्रमाणों द्वारा एक दूसरे की मीमांसा, खंडन-मंडन करने में सदा तत्पर रहते हैं। अद्वैतवाद और शून्यवाद के आधार पर निर्मित दर्शनों ने किसी न किसी एक दृष्टि का आश्रय लेकर तत्त्व-चिन्तन किया है। यद्यपि दोनों वाद एकान्तिक हैं, फिर भी उन्हें अपने कथन को प्रमाणित करने के लिए जैनदर्शन द्वारा प्रचलित स्याद्वाद-अनेकान्तवाद का आश्रय लेना पड़ा है। इतना ही नहीं, जैनदर्शन की अनेकान्तिक कथन प्रणाली के अनुरूप ही तात्त्विक व्याख्या भी करनी पड़ी है।

अद्वैतवाद और क्षणिकवाद का अनुसरण करने वाली दार्शनिक विचार धाराओं ने अपने-अपने दृष्टिकोण से पदार्थ का चाहे जो कुछ भी रूप निर्धारित किया हो, लेकिन विश्व के समस्त पदार्थों—चेतन और अचेतन में—उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य ये तीन गुण स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं जहाँ हम वस्तु में उत्पत्ति और विनाश का अवलोकन करते हैं, वहीं उन दोनों स्थितियों में अनुस्यूत स्थिरता का भी अविकल

अवस्था के भेद से भिन्न-भिन्न निर्देश होता है और यह निर्देश भी अवस्थान्तर से होता है, न कि द्रव्यान्तर से।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनदर्शन की तरह योग भाष्यकार ने भी धर्म-धर्मी का भेदाभेद स्वीकार किया है।

उक्त भाष्य का और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने धर्म-धर्मी के भेदाभेद को स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है

'अनुभव एव हि धर्मिणो धर्मादीनां भेदाभेदौ व्यवस्थापयति। न ह्यैकान्तिके भेदे धर्मादीनां धर्मिणो धर्मीरूपवद् धर्मादित्वं, नाप्यैकान्तिके भेदे गवाश्ववद् धर्मादित्वं स चानुभवोऽनैकान्तिकत्वमवस्थापयन्नपि धर्मादिषूपजनापाय धर्मकेष्वपि धर्मिणमेकमनुगमयन् धर्मांश्च परस्परतोव्यावर्तयन् प्रत्यात्ममनुभूयत इति तदनुसारिणो वयं न तमतिवर्त्य स्वेच्छया धर्मानुभवान् व्यवस्थापयितुमीश्महे इति।'

अर्थात् अनुभव ही धर्म के भेदाभेद को सिद्ध कर रहा है। धर्म और धर्मी आपस में न तो सर्वथा भिन्न हैं और न ही सर्वथा अभिन्न। इनको यदि सर्वथा अभिन्न मानें तो स्वर्ण धर्मी और कटक, कुण्डल आदि धर्म—इस लौकिक व्यवहार का ही लोप हो जायेगा। मिट्टीरूप धर्मी के घड़ा, प्याला आदि धर्मों में जो पारस्परिक भेद तथा भिन्न-भिन्न कार्य की साधकता देखी जाती है, उसका भी उच्छेद हो जायेगा। सर्वथा भिन्न भी नहीं मान सकते हैं, यदि धर्मी को धर्मों से सर्वथा भिन्न ही स्वीकार किया जाये तो इनका कार्यकारण सम्बन्ध भी सम्भव नहीं हो सकता है और स्वर्ण से कटक, कुण्डल आदि तथा मिट्टी से घड़ा, प्याले आदि कभी उत्पन्न नहीं होने चाहिए और न कटक, कुण्डल आदि तथा घड़े, प्याले आदि स्वर्ण और मिट्टी के धर्म हो सकते हैं, क्योंकि ये दोनों धर्म, धर्मी एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। गाय और घोड़ा आपस में सर्वथा भिन्न हैं। जिस प्रकार इनका धर्म-धर्मी भाव और कार्यकारण भाव सम्बन्ध नहीं है, उसी प्रकार स्वर्ण, कटक-कुण्डल आदि तथा मिट्टी, घड़ा, प्याला आदि का धर्म-धर्मी भाव और कार्यकारण सम्बन्ध भी असत्य हो जायेगा कि स्वर्ण या मिट्टी धर्मी और कटक, कुण्डल या घड़ा, प्याले आदि धर्म हैं तथा स्वर्ण कारण और कटक, कुण्डल आदि कार्य हैं। परन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। स्वर्ण रूप धर्मी से कटक, कुण्डल आदि और मिट्टी से घड़ा, प्याला आदि की उत्पत्ति सभी के अनुभव सिद्ध है। इसलिए धर्म-धर्मी का अत्यन्तिक भेद और अभेद न दिखकर उनका भेदाभेद ही अबाधित रूप से हमारे अनुभव में प्रतीत होता है और जिस अनुभव ने हमारे सामने धर्म-धर्मी की अनेकता को उपस्थित किया वही अनुभव हमारे समक्ष अनुगत रूप से धर्मी के एकत्व और व्यावृत्ति रूप से धर्मों में अनेकत्व के साथ-साथ धर्मी के अविनाशित्व और धर्मों के विनश्वरता को भी उपस्थित करता है। हम तो अनुभव के अनुसार ही पदार्थों की व्यवस्था करने वाले हैं। अनुभव जिसकी स्वीकृति देगा, उसे हम स्वीकार करेंगे।

अनुभव का उल्लंघन करके अपनी स्वतन्त्र इच्छा से वस्तु की व्यवस्था करने के लिए हम तत्पर एवं उत्सुक नहीं हैं।[1]

धर्म-धर्मी के भेदाभेद को स्पष्ट करते हुए वाचस्पतिमिश्र ने विभूतिपाद सूत्र ४३ की व्याख्या[2] के प्रसग में कहा है—

'नैकान्ततः परमाणुभ्यो भिन्नो घटादिरभिन्नो वा भिन्नत्वे गवाश्ववद् धर्म-धर्मिभावानुपपत्तेः। अभिन्नत्वे धर्मिरूपवत्तदनुपपत्तेः। तस्मात् कथंचिदभिन्नः कथंचिद् भिन्नश्चास्थेयस्तथा च सर्वमुपपद्यते।'

अर्थात् परमाणुओं से घटादि पदार्थ एकान्ततया भिन्न अथवा अभिन्न नहीं हैं। इनको यदि सर्वथा भिन्न मानें तो उनके धर्मधर्मी-भाव की उपपत्ति नहीं हो सकती है। जिस प्रकार अत्यन्त भिन्न होने से गाय और अश्व का परस्पर में धर्म-धर्मी भाव नहीं है, उसी प्रकार अत्यन्त भिन्न मानने के कारण परमाणुओं और घटादि का धर्म-धर्मी-भाव होना शक्य नहीं होगा और सर्वथा अभिन्न मानें तो भी धर्म-धर्मी-भाव का उपादान नहीं हो सकता है। इसका प्रथम कारण यह है कि यह धर्म है और यह धर्मी है— इस प्रकार के भिन्न-भिन्न शब्दों का दोनों के लिये निर्देश नहीं हो सकेगा और दूसरा कारण यह है कि जब तक धर्मी के अतिरिक्त धर्म नाम का कोई पदार्थ ही नहीं तो धर्म-धर्मी-सम्बन्ध किसका? अतएव इनको एकान्ततया भिन्न अथवा अभिन्न न मानकर कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानना ही युक्तिसगत है। यानी किसी अपेक्षा से भिन्न और किसी अपेक्षा से अभिन्न। ऐसा मानने पर इनके धर्म-धर्मी भाव और कार्यकारण सम्बन्ध की सम्यक्तया उपपत्ति हो सकती है और किसी भी प्रकार के दूषण आने की सम्भावना नहीं है।

इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी व्याख्या करते हुए वाचस्पतिमिश्र ने अनेकांतवाद की कथन-प्रणाली का आश्रय लिया है। जैसे—'अन्यत्वकारणं यथा सुवर्णस्य सुवर्णकारः' इस योगभाष्य की व्याख्या में आप लिखते हैं कि—

'कटककुण्डलकेयूरादिभ्यो भिन्नाभिन्नस्य सुवर्णस्य भेदविवक्षया सुवर्णस्य कुण्डलादन्यत्वम्। तथा च कटककारीसुवर्णकारः कुण्डलादभिन्नात्सुवर्णात् अन्यत्कुर्व-न्नन्यत्वकारणम्' इत्यादि।

इसका सारांश इतना ही है कि कटक-कुण्डल आदि धर्मों से स्वर्ण रूप धर्मी भिन्न अथवा अभिन्न है। भेद विवक्षा से वह भिन्न है और अभेद विवक्षा से अभिन्न है। इसके सिवाय योगदर्शन की भोजदेव कृत राजमार्तण्ड नामक वृत्ति में भी अनेकांतवाद

---

१ तुलना कीजिये—
यदेतद् स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्? —कुमारिल भट्ट

२ स्मृति परिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासानिर्वितर्का।

उक्त उद्धरण मे प्रधान की प्रवृत्ति मे एकान्तता का निषेध करते हुए कहा है कि यदि प्रधान की स्थिति रूप से ही प्रवृत्ति मानें तब तो वह प्रधान ही नहीं रहेगा क्योंकि उसमें किसीप्रकार की भी विकृति न होने से किसी पदार्थ की भी उत्पत्ति उससे नही होगी और यदि उसकी सर्वथा गतिरूप से ही प्रवृत्ति स्वीकार की जाये तब भी उसमे प्रधानत्व का व्यवहार नही हो सकता है। क्योंकि सर्वथा गतिरूप से ही प्रधान की प्रवृत्ति होते रहने से पदार्थों की उत्पत्ति सदैव होती रहेगी, उनका विनाश कभी नही होगा और इस प्रकार से सदा अविनाशी रूप से स्थित रहने वाले पदार्थ की उत्पत्ति भी सम्भव नही है। इसलिए केवल स्थितिरूप से और सिर्फ गतिरूप से प्रधान की प्रवृत्ति मानना उचित नही है, किन्तु गति-स्थिति उभयरूप से ही प्रधान की प्रवृत्ति मानना युक्तिसंगत है। ऐसा मानने पर ही प्रधानत्व का व्यवहार सुचारु रूप से किया जा सकता है।

प्रधान के लिए सृष्टिनिर्माण के सम्बन्ध में जिस दृष्टिकोण का यहाँ उल्लेख किया गया है, वही दृष्टिकोण दर्शनान्तरों के ब्रह्म, माया आदि सृष्टि कारणों के बारे में भी युक्तिसंगत है। क्योंकि ससारोत्पत्ति के लिए यदि उनकी भी सिर्फ स्थितिरूप से प्रवृत्ति मानी जाय तो उनमें किसी प्रकार की विकृति न होने से जैसे कारण नहीं बन सकते हैं और वैसे ही सर्वथा गतिरूप से ही प्रवृत्ति मानें तब भी वे कारण नहीं बन सकते हैं। गतिरूप से प्रवृत्ति मानने पर उनमें सदा विकृति बनी रहेगी, यानी उत्पत्ति ही सदा होती रहेगी, विनाश नही होगा। इसलिए सृष्टि-उत्पत्ति के लिए दर्शनान्तरों द्वारा माने गये निमित्तों की प्रवृत्ति भी स्थिति-गति उभय रूप से ही मानना चाहिए।

इस प्रकार योगदर्शन (सेश्वरवादी सांख्यदर्शन) मे अनेकान्तवादात्मक आंशिक कथनो के दर्शन होते हैं।

सांख्यदर्शन में स्याद्वाद

सांख्यदर्शन का परिचय

सांख्यदर्शन भी जैन और बौद्ध दर्शनो की तरह वेदों को प्रमाण नहीं मानता है। यह यज्ञयागादि के हिंसामूलक कर्मकांड का भी विरोधी है और मुक्ति के लिए तत्त्वज्ञान एव अहिंसा को मुख्यता देता है। जैनदर्शन के आत्म-बाहुल्यवाद और बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद की तरह परिणामवाद को मानता है।

सांख्यदर्शन के आद्यप्रणेता, प्रवर्तक या व्यवस्थापक महर्षि कपिल माने जाते हैं और इनका जन्म भी जैन और बौद्ध तीर्थंकरों की तरह क्षत्रियकुल में होना माना जाता है। कुछ लोग कपिल को ब्रह्मा का पुत्र बताते हैं और भागवत में इन्हें विष्णु का अवतार कहा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में हिरण्यगर्भ के अवतार के रूप में इनका उल्लेख किया गया है। उपलब्ध प्रमाणो के अनुसार कपिल ईसा पूर्व—६ठी

शताब्दी में हुए होंगे। अश्वघोष ने बुद्ध के जन्मस्थान कपिलवस्तु को कपिल की बसाई नगरी कहकर उल्लेख किया है। कपिल ने सर्वप्रथम अपने दर्शन की शिक्षा आसुरि को दी। आसुरि ने पंचशिख को ज्ञान कराया और पंचशिख ने इस दर्शन का व्यापक रूप से प्रचार किया। तदनन्तर भार्गव, वाल्मीकि, हारीत, देवल ईश्वरकृष्ण आदि विद्वानों ने सांख्यदर्शन का अध्ययन किया और उन्होंने अपने शिष्यों, प्रशिष्यों द्वारा जनसाधारण को शिक्षा दी।

शुद्ध आत्मा के तत्त्वज्ञान को सांख्य कहते हैं।[1] अथवा सम्यग्-दर्शन का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को भी सांख्य कहा गया है।[2] कहीं-कहीं पच्चीस तत्त्वों का वर्णन करने के कारण सांख्यदर्शन को सांख्य कहा है।[3] इन सांख्यों का मत है कि यथेष्ट भोगों का सेवन करने पर या किसी भी आश्रम में रहने पर भी यदि कपिल के बताये पच्चीस तत्त्वों का ज्ञान हो गया, यदि सांख्य मत में भक्ति हो गई तो बिना क्रिया के भी मुक्ति हो सकती है।[4] ये तत्त्वज्ञान को श्रेष्ठ समझते हैं। वेदों तथा वैदिक यज्ञयागादि कर्मकाण्ड को नहीं मानने के कारण वैदिक ग्रन्थों में कपिल को नास्तिक और श्रुत विरुद्ध तंत्र का प्रवर्तक कहकर कपिल प्रणीत सांख्य और पतञ्जलि के योग-शास्त्र को अनुपादेय कहा है।[5]

सांख्यदर्शन में माने गये २५ तत्त्वों के नाम यह है—(१) प्रकृति (२) बुद्धि, (३) अहंकार, (४-८) पाँच बुद्धि-इन्द्रियाँ (कान, आँख, नाक, जीभ, त्वचा) (९-१३) पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाणी, हाथ, पैर, जननेन्द्रिय, मलद्वार) (१४) मन (१५-१९) पाँच तन्मात्रायें (शब्द, स्पर्श, वर्ण, रस, गन्ध) (२०-२४) पञ्चभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु,

---

१ शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते

—न्यायकोश, पृ० ९०४ टिप्पणी

२ न्यायकोश, पृ० ९०४

३ पंचविंशतेस्तत्त्वानां संख्यानं सांख्या। तदधिकृत्य कृतं शास्त्रं सांख्यम्।

—हेमचन्द्र : अभिधान चिन्तामणि टीका ३-५२६

४ पंचविंशति तत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रतः।
शिखी मुण्डी जटी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥

—भावगणेश : तत्त्व याथार्थ्य टीका

५ (क) अतश्च सिद्धमात्मभेदकल्पनयापि कपिलस्य तंत्रं वेदविरुद्धं वेदानुसारि-मनुवचनविरुद्धं च। —ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य २।१।१

(ख) नास्तिक कपिलप्रणीतसांख्यस्य पतञ्जलिप्रणीत योगशास्त्रस्य चानुपादेयत्व-मुक्तं भारते मोक्षधर्मेषु—

सांख्यं योगः पाशुपतं वेदारण्यकमेव च।
ज्ञानान्येतानि भिन्नानि नात्र कार्या विचारणा॥

—गीता मध्यमा० अ० २ श्लोक ३९

द्रव्य मे सर्वत्र उसके गुणों (धर्मो) का पार्यन्य होता है, स्वरूप का नही ? स्वरूप सर्वत्र बना रहता है।

शास्त्रदीपिका के टीकाकार श्री सुदर्शनाचार्य ने उक्त कथन को स्पष्ट करते हुए अपनी टीका मे बताया है कि द्रव्य—मृत्तिकादि रूप का कभी उत्पत्ति-विनाश नहीं होता है किन्तु उसके रूप और आकारादि विशेषों का ही उत्पाद-विनाश होता है।"' उत्पत्ति-विनाशशील धर्मों मे जो अनुस्यूत रहता है, उसे धर्मी कहते हैं।[1] इससे सिद्ध हुआ कि पदार्थ मे उत्पत्ति-विनाश और स्थिति ये तीनो धर्म बराबर रहते हैं।

मीमासा दर्शन के प्रमुख आचार्य महामति भट्ट कुमारिल ने स्वयं पदार्थों के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप को स्वीकार किया है और पूर्वोक्त युक्तियों का समर्थन करते हुए बताया है—

> वर्द्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते यदा।
> तदापूर्वार्थिन शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः॥
> हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम्।[2]
> नोत्पादस्थितिभंगानामभावे स्यान्मतित्रयम्॥
> न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्।
> स्थित्याविना न माध्यस्थ्य तेन सामान्य नित्यता॥[3]

इन श्लोको का आशय सरल और स्पष्ट है कि स्वर्ण के प्याले को तोड़कर जब उसका रुचक बनाया जा रहा था तब जिसको प्याले की जरूरत थी उसको शोक और जिसको रुचक की आवश्यकता थी उसे हर्ष और सिर्फ स्वर्ण के इच्छुक को हर्ष या शोक कुछ भी नही हुआ। इससे प्रतीत होता है कि वस्तु उत्पत्ति, विनाश और स्थिति रूप से त्रयात्मक है। क्योंकि उत्पत्ति, विनाश और स्थिति ये तीनों धर्म यदि

---

१ द्रव्यस्य मृदादेर्नागमः उत्पत्तिः नापायः विनाशः किन्तु रूपादीनामाकारस्य चायमापायौ भवतः।"'उत्पत्तिविनाशशालिषु धर्मेषुयदनुयायि अनुस्यूतं तद् धर्मि।"' आगमापायिषु धर्मेष्वनुस्यूत द्रव्यमस्माभिरुक्तं तादृशस्यैव सर्वस्य द्रव्यस्य गुणादिरेवभिद्यते न स्वरूपमपिभिद्यत इत्यर्थः।

—टीकाकार सुदर्शनाचार्य

२ त्रयात्मकम्—उत्पत्ति-स्थिति-विनाश धर्मात्मकमित्यर्थः।

३ मीमासा श्लोकवार्तिक श्लोक २१, २२, २३
तुलना कीजिए—घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पत्तिस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनोयाति सहेतुकम्॥
—हरिभद्र सूरि : शास्त्रवार्ता समुच्चय श्लोक ७१

वस्तु में न माने जायें तो शोक, प्रमोद और माध्यस्थ भाव की कभी उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

कुमारिलभट्ट के उक्त कथन से यह प्रमाणित हो जाता है कि पदार्थ का स्वरूप उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक ही है। वस्तु उत्पत्ति और विनाश युक्त होने पर भी स्थितिशील एवं स्थितियुक्त होने पर भी उत्पाद-विनाशशील है। वस्तु में उत्पाद, विनाश और ध्रुवता ये तीनों धर्म अबाधित रूप से अपनी सत्ता का अनुभव कराते हैं और उनमें से किसी एक का भी अपलाप नहीं किया जा सकता है। यदि उत्पत्ति न मानी जाये तो विनाश का कोई अर्थ नहीं हो सकता है और उत्पत्ति मानने पर विनाश भी स्वीकार करना ही पड़ेगा तथा उत्पत्ति व विनाश बिना आधार के होते नहीं हैं अतः उत्पत्ति व विनाश को स्वीकार करने पर तदाधारभूत ध्रौव्य को माने बिना और कोई चारा ही नहीं है। अतएव उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ये तीनों धर्म वस्तु में स्वभावतः सिद्ध हैं, यह प्रमाणित हो गया।

वस्तु को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक कहने से उसके दो रूप प्रमाणित होते हैं—एक रूप विनाशी और दूसरा रूप अविनाशी। उत्पाद-व्यय उसका विनाशी रूप है और ध्रौव्य अविनाशी रूप है। लेकिन इन दोनों का अवस्थान एक ही वस्तु में है। जैनदर्शन में वस्तु के विनाशी रूप को पर्याय और अविनाशी स्वरूप को द्रव्य नाम से अभिहित किया है। जिसे दर्शनान्तरों में धर्म-धर्मी आकृति-द्रव्य आदि नामों से परिज्ञात कराया गया है।

अब मीमांसादर्शन के आचार्यों के अनेकांतवादात्मक दृष्टिकोण का दिग्दर्शन कराते हैं।

कुमारिल भट्ट की अनेकांतदृष्टि

भट्ट कुमारिल मीमांसादर्शन के प्रकाण्ड विद्वान आचार्य हैं। उन्होंने महर्षि जैमिनी प्रणीत मीमांसासूत्र पर तन्त्रवार्तिक और श्लोकवार्तिक नामक दो उच्चकोटि के व्याख्या ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें से श्लोकवार्तिक में दार्शनिक विषयों की अधिक चर्चा है। उक्त ग्रन्थ को देखने से ऐसा मालूम पड़ता है कि अन्य विद्वानों की अपेक्षा कुमारिल भट्ट ने कुछ और स्पष्ट शब्दों में अनेकांतवाद का समर्थन किया है। कुमारिल भट्ट का पदार्थों को उत्पाद, व्यय, स्थिति रूप सिद्ध करना, अवयव को अवयवी से भिन्नाभिन्न मानना, वस्तु को स्व-रूप एवं पर-रूप से सत्-असत् स्वीकार करना तथा सामान्य व विशेष को सापेक्ष मानना अनेकांतवाद का समर्थन करना ही माना जायेगा तत्त्व संग्रहकार के कथन से भी यही मालूम होता है कि विप्र मीमांसक भी जैनों की तरह अनेकांतवाद सिद्धान्त को मानते हैं। मीमांसादर्शन में अनेकांतवाद सिद्धांत को किस प्रकार माना गया है, यह नीचे लिखे उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है। सर्वप्रथम कुमारिल भट्ट के अवयव-अवयवी के भेदाभेद विषयक विचारों को उपस्थित करते हैं। वे अपने श्लोकवार्तिक ग्रन्थ में लिखते हैं—

पूर्वोक्तादेव तु न्यायाद्भिन्नोऽवयवानपि ।
तस्याप्यत्यन्त[1] भिन्नस्य नस्यादवयवैः सह ॥
व्यक्तिभ्यो जातिवच्चैव न निष्कृष्टः प्रतीयते ।
केचनात्यतिरिक्तत्व केचिच्चाव्यतिरिक्तता ॥
दूषिता साधिताश्चापि न च तत्र बलाबलम् ।
कदापि निश्चितं कैश्चित्तस्मान्मध्यस्थता परम् ॥
ततोऽन्यानन्यते तस्य स्तोऽनन्तश्चेति कीर्त्यते ।
तस्माच्चित्रवदेवास्य मृषा स्यादेकरूपता ॥
वस्त्वनेकान्तवादाच्च[2] न संदिग्धा प्रमाणता ।
ज्ञानं संदिह्यते यत्र तत्र न स्यात् प्रमाणता ॥
इहानेकान्तिकं वस्त्वित्येव ज्ञानं सुनिश्चितम् ।[3]

अर्थात् अवयवों से अवयवी अत्यन्त भिन्न नहीं किन्तु भिन्नाभिन्न है। कुछ अवयवों से अवयवी को एकान्त रूप से भिन्न मानते हैं और कुछ इनको सर्वथा अभिन्न सिद्ध करते हैं। इन्होंने अपने-अपने पक्ष के समर्थन व पर-पक्ष का खंडन करने के लिए जिन युक्तियों का उल्लेख किया है, उनमें यह निश्चित नहीं हो पाता है कि इन दोनों में किसका पक्ष सबल और किसका पक्ष दुर्बल है। भेदवाद की युक्तियाँ भेद का और अभेदवाद की युक्तियाँ अवयव अवयवी के अभेद का पूर्णरूप से समर्थन करती हैं। अतएव मध्यस्थ भाव का आश्रय करना उचित है। अवयव-अवयवी को एकान्ततया भिन्न अथवा अभिन्न मानने वाले व्यक्ति स्वयं चित्रज्ञान की तरह अनेकांतवाद को सिद्ध कर रहे हैं क्योंकि वहाँ भेद और अभेद दोनों दृष्टिगोचर होते हैं। अनेकान्तवाद की वहाँ प्रमाणता संदिग्ध नहीं है। जहाँ ज्ञान में सन्देह होता है, वहाँ प्रमाणता नहीं होती है। इसलिए यहाँ (अवयव-अवयवी के भेदाभेद में) अनेकान्तता सुनिश्चित है।

---

१ किमत्यन्त भिन्नोऽवयवी—तस्यापीति, कस्मादित्याह व्यक्तिभ्य इति तन्तवएव हि संयोगविशेषवशेन एकद्रव्यत्वमापन्नाः पटोयमित्येकाकारतया बुद्ध्या गृह्यन्ते अतोऽवस्थामात्रादेवावयवेभ्योऽवयविनो भेदो नत्वत्यन्तभेद इति ।

—टीका पार्थसार मिश्र

—क्या अवयव से अवयवी भिन्न है ? हाँ, यह भी सम्भव है क्योंकि जैसे अलग-अलग तन्तुओं के संयोग विशेष से एकरूपता को प्राप्त द्रव्य नाम से जाना जाता है। अतः अवस्था विशेष के कारण अवयव से अवयवी का भेद है किन्तु अत्यन्त भेद नहीं है।

२ 'अनेकांतवादादिति' इति पाठान्तरम् ।

३ श्लोकवार्तिक वनवाद, श्लोक ७५-८०

तथैव तदुपेतव्यं यद्यथैवोपलभ्यते।
नचाप्यैकांतिकं तस्य स्यादेकत्वं च वस्तुनः॥[1]

अर्थात् वस्तु सर्वथा एकांत रूप ही है, ऐसा ईश्वर ने नहीं
वस्तु सर्वदा एक रूप में ही रहती है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है।
अथवा अनेक जिस रूप में प्रतीत हो, उसको उसी रूप में मानना
एकत्व किसी अन्य के द्वारा स्थापित या प्रमाणित नहीं किया गया
अनेकत्व का निषेध माना जाये, किन्तु वस्तु में एकत्व-अनेकत्व
धर्म स्वतःसिद्ध हैं इसलिये वस्तु में एकत्व की तरह अनेकत्व भी स्व

इसी प्रकार से अभाव प्रकरण में अभाववाद का खण्डन
सदसत् उभय रूप मानकर अनेकांतवाद की सिद्धि की गई है—

स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके।
वस्तुनि ज्ञायते कैश्चिद्रूपं किंच न कदाचन।

सर्वं हि वस्तु स्वरूपतः सद्रूपं पररूपतश्चासद्रूपं यथा
घटरूपेणाऽसन् परोऽप्यसद्रूपेण भावान्तरे पटादौ समवेतः ता
पाकारां बुद्धिं जनयति योऽयं घटः स पटो न भवति।[2]

अर्थात् वस्तु स्वरूप से सत् और पररूप से असत् एवं
सदसत् उभयरूप है। वस्तु को इसी रूप में जाना-देखा जाता है
दूसरा रूप नहीं है और न अन्य किसी रूप में उसका ज्ञान होता है

इसी आशय को टीका में स्पष्ट किया है कि घट अपने स्व
है और पर पटादि की अपेक्षा से असत् है। घट की घट रूप से
पट रूप से नहीं। इसीलिये प्रत्येक वस्तु सदसत् उभयरूप है।[3]

---

१ श्लोकवार्तिक, शून्यवाद श्लोक २१९-२०।
२ श्लोकवार्तिक, अभावप्रकरण, श्लोक १२ व्याख्या।
३ तुलना कीजिए—

सर्वभावानां हि भावाभावात्मकं स्वरूपम्। एकान्तभावात्मक
रूप्यं स्यात्। एकान्ताभावात्मकत्वे च निःस्वभावता स्यात्
तस्मात् पररूपेण सत्त्वात् भावाभावात्मकं वस्तु। यदाह—

सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च।
अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसंभवः।

समस्त पदार्थ भाव और अभाव रूप होते हैं। पदार्थ को
स्व-चतुष्टय की अपेक्षा भावात्मक ही माना जाये, पर-चतुष्टय
रूप न माना जाये तो पदार्थ पर-चतुष्टय की अपेक्षा भी अस्ति

इसके अतिरिक्त श्लोकवार्तिक के आकृतिवाद प्रकरण में कुमारिल भट्ट ने वस्तु के भेदाभेद, एकानेक, सामान्य विशेष और नित्यानित्यत्व का निम्न श्लोकों में प्रतिपादन किया है—

> सर्ववस्तुषु बुद्धिश्च व्यावृत्त्यनुगमात्मिका।
> जायते द्व्यात्मकत्वेन विना सा च न सिद्ध्यति॥
> अन्योन्यापेक्षिता नित्यं स्यात्सामान्यविशेषयोः।
> विशेषाणां च सामान्यं ते च तस्य भवन्ति हि॥
> निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्।
> सामान्यरहितत्वाच्च विशेषास्तद्वदेव हि॥
> सदसदात्मकरूपेण हेतू वाच्याविमौ पुनः।
> तेन नात्यन्तभेदोऽपि स्यात् सामान्यविशेषयोः।[1]
>
> एवं च परिहर्तव्या भिन्नाभिन्नत्वकल्पना।
> केनचिद्ध्यात्मनैकत्वं नानात्वं चास्य केनचित्॥[2]

उक्त श्लोकों का मन्तव्य में अभिप्राय यह है कि सभी वस्तुओं का अनुवृत्ति-व्यावृत्ति, सामान्य-विशेष रूप से भान होता है। इसके बिना वस्तु की सिद्धि नहीं होती है। यानी वस्तु का वस्तुत्व-स्वरूप सामान्य-विशेषात्मक है और सामान्य-विशेष, ये दोनों सापेक्ष हैं तथा दोनों ही एक-दूसरे की अपेक्षा से नित्य और अनित्य, भिन्न और अभिन्न हैं। दोनों की सिद्धि परस्पराश्रित है। विशेष से रहित सामान्य और सामान्य से विहीन विशेष शशविषाण (खरगोश के सींग) के समान है। इसके बिना वस्तु का वस्तुत्व भी वैसा ही है अर्थात् वस्तु का कोई रूप ही नहीं रहेगा। अतएव सामान्य-विशेष एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं है।

विश्वरूप—अनेकरूप हो जायेगा। यदि इसे एकान्त रूप से स्व-पर-चतुष्टय की अपेक्षा असदात्मक माना जाये तो वह स्वभाव शून्य हो जायेगा। इसलिये प्रत्येक पदार्थ स्व-रूप की अपेक्षा सत् और पर-रूप की अपेक्षा असत् होने के कारण भाव-अभाव रूप है। कहा भी है—

सभी पदार्थ स्वरूप की दृष्टि से विद्यमान हैं, पर-रूप की दृष्टि से विद्यमान नहीं हैं। यदि पदार्थ स्वभाव से अस्ति रूप और पर-रूप से नास्ति रूप न हों तो सभी पदार्थ सत् मात्र रूप से एक हो जायेंगे और पदार्थों के स्वरूप का अस्तित्व नहीं रह जायेगा। —स्याद्वाद मंजरी, श्लोक १४ की टीका

[1] श्लोकवार्तिक, आकृतिवाद, श्लोक ५, ६, १०, ११

[2] श्लोकवार्तिक श्लोक १२

तथैव तदुपेतव्यं यद्यथैवोपलभ्यते ।
नचाप्येकांतिकं तस्य स्यादेकत्वं च वस्तुनः ॥[१]

अर्थात् वस्तु सर्वथा एकांत रूप ही है, ऐसा ईश्वर ने नहीं कहा है, अर्थात् एक वस्तु सर्वदा एक रूप में ही रहती है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये वस्तु एक अथवा अनेक जिस रूप में प्रतीत हो, उसको उसी रूप में मानना चाहिए। वस्तु में एकत्व किसी अन्य के द्वारा स्थापित या प्रमाणित नहीं किया गया है, जिससे वस्तु में अनेकत्व का निषेध माना जाये, किन्तु वस्तु में एकत्व-अनेकत्व स्वभाव से है, अनेक धर्म स्वतःसिद्ध हैं इसलिये वस्तु में एकत्व की तरह अनेकत्व भी स्वतः प्रमाणसिद्ध है।

इसी प्रकार से अभाव प्रकरण में अभाववाद का खण्डन करते हुए वस्तु को सदसत् उभय रूप मानकर अनेकांतवाद की सिद्धि की गई है—

स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मके ।
वस्तुनि ज्ञायते कैश्चिद्रूपं किंच न कदाचन ॥

सर्वं हि वस्तु स्वरूपतः सद्रूपं पररूपतश्चासद्रूपं यथा घटो घटरूपेण सन् पटरूपेणाऽसन् पटोऽप्यसद्रूपेण भावान्तरे घटादौ समवेतः तस्मिन् स्वीयाऽसद्रूपाकारां बुद्धिं जनयति योऽयं घटः स पटो न भवति ।[२]

अर्थात् वस्तु स्वरूप से सत् और पररूप से असत् एवं स्व-पर रूप से वस्तु सदसत् उभयरूप है। वस्तु को इसी रूप में जाना-देखा जाता है। उसका अन्य कोई दूसरा रूप नहीं है और न अन्य किसी रूप में उसका ज्ञान होता है।

इसी आशय को टीका में स्पष्ट किया है कि घट अपने स्वरूप की अपेक्षा सत् है और पर पटादि की अपेक्षा से असत् है। घट की घट रूप में ही प्रतीति होती है पट रूप से नहीं। इसीलिये प्रत्येक वस्तु सदसत् उभयरूप है।[३]

---

१ श्लोकवार्तिक, शून्यवाद श्लोक २१६-२० ।
२ श्लोकवार्तिक, अभावप्रकरण, श्लोक १२ व्याख्या ।
३ तुलना कीजिए—

सर्वभावानां हि भावाभावात्मकं स्वरूपम् । एकान्तभावात्मकत्वे वस्तुनो वैश्वरूप्यं स्यात् । एकान्ताभावात्मकत्वे च निःस्वभावता स्यात् । तस्मात् स्वरूपेण सत्वात् पररूपेण चासत्वाद् भावाभावात्मकं वस्तु । यदाह—

सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च ।
अन्यथा सर्वसत्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसंभवः ॥

समस्त पदार्थ भाव और अभाव रूप होते हैं। पदार्थ को यदि एकांत रूप से, स्व-चतुष्टय की अपेक्षा भावात्मक ही माना जाये, पर-चतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप न माना जाये तो पदार्थ पर-चतुष्टय की अपेक्षा भी अस्तिरूप हो जाने से

इसके अतिरिक्त श्लोकवार्तिक के आकृतिवाद प्रकरण में कुमारिल भट्ट ने वस्तु के भेदाभेद, एकानेक, सामान्य विशेष और नित्यानित्यत्व का निम्न श्लोकों में प्रतिपादन किया है—

सर्वं वस्तुषु बुद्धिश्च व्यावृत्त्यनुगमात्मिका।
जायते द्व्यात्मकत्वेन विना सा च न सिद्ध्यति॥
अन्योन्यापेक्षिता नित्यं स्यात्सामान्यविशेषयोः।
विशेषाणां च सामान्यं ते च तस्य भवन्ति हि॥
निर्विशेषं न सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्।
सामान्यरहितत्वाच्च विशेषास्तद्वदेव हि॥
सदसामान्यरूपेण हेतू वाच्याविमौ पुनः।
तेन नात्यन्तभेदोऽपि स्यात् सामान्यविशेषयोः॥[1]

× × ×

एवं च परिहर्तव्या भिन्नाभिन्नत्वकल्पना।
केनचिद्ध्यात्मनैकत्वं नानात्वं चास्य केनचित्॥[2]

उक्त श्लोकों का संक्षेप में अभिप्राय यह है कि सभी वस्तुओं का अनुवृत्ति-व्यावृत्ति, सामान्य-विशेष रूप से भान होता है। इसके बिना वस्तु की सिद्धि नहीं होती है। सारी वस्तु का वस्तुत्व-स्वरूप सामान्य-विशेषात्मक है और सामान्य-विशेष, यह दोनों सापेक्ष हैं तथा दोनों ही एक-दूसरे की अपेक्षा से नित्य और अनित्य, भिन्न और अभिन्न हैं। दोनों की सिद्धि परस्पराधीन है। विशेष से रहित सामान्य और सामान्य से विहीन विशेष शशविषाण (खरगोश के सींग) के समान हैं। इनके बिना वस्तु का वस्तुत्व भी वैसा ही है अर्थात् वस्तु का कोई रूप ही नहीं रहेगा। अतएव सामान्य-विशेष एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं है।

विरूपरूप—अनेकरूप हो जायेगा। यदि उसे एकान्त रूप से स्व-पर-चतुष्टय की अपेक्षा अभावात्मक माना जाये तो वह स्वभाव शून्य हो जायेगा। इसलिये प्रत्येक पदार्थ स्व-रूप की अपेक्षा सत् और पर-रूप की अपेक्षा असत् होने के कारण भाव-अभाव रूप है। कहा भी है—

सभी पदार्थ स्वरूप की दृष्टि से विद्यमान हैं, पर-रूप की दृष्टि से विद्यमान नहीं हैं। यदि पदार्थ स्वभाव से अस्ति रूप और पर-रूप से नास्ति रूप न हो तो सभी पदार्थ सत् मात्र रूप से एक हो जायेंगे और पदार्थों के स्वरूप का अस्तित्व नहीं रह जायेगा। —स्याद्वाद मंजरी, श्लोक १४ की टीका

१ श्लोकवार्तिक, आकृतिवाद, श्लोक ५, ६, १०, ११
२ श्लोकवार्तिक श्लोक १५

इसी तरह प्रत्येक वस्तु में अपेक्षा से भेदाभेद, एकत्वानेकत्व आदि अनेक धर्म रह सकते हैं। जैसे कि गोत्व यह सामान्य है और काली, सफेद या अन्य रंग-बिरंगी सभी प्रकार की गायों में वह समान रूप से पाया जाता है, लेकिन यह काली गाय, यह सफेद गाय आदि की अपेक्षा से अलग विलक्षण है। इसी तरह प्रत्येक गौ व्यक्ति, आकार, रंग आदि की अपेक्षा भिन्नता रखती हुई भी गोत्व (गौ जाति) की अपेक्षा से एक रूप है, अभिन्न है। लोक व्यवहार में भी यही बात प्रत्यक्ष देखी जाती है कि परस्पर एक दूसरे के विरोधी माने जाने वाले धर्म एक ही वस्तु में बिना विरोध के रहते हैं। एक ही वस्तु किसी की अपेक्षा छोटी और किसी की अपेक्षा बड़ी मानी जाती है। जैसे कि देवदत्त नामक व्यक्ति भाई, मामा, पिता आदि की अलग-अलग अपेक्षाओं के कारण पृथक् पृथक् माना जाता है, लेकिन स्वरूप की अपेक्षा अभिन्न एक है। वैसे ही प्रत्येक वस्तु स्वरूप की अपेक्षा सदा एक, अभिन्न होते हुए भी भिन्न-भिन्न रूपों की अपेक्षा अनेक कही और मानी जाती है और उसमें किसी प्रकार के विरोध की आशंका नहीं है।

पूर्वोक्त उद्धरणों से यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि मीमांसादर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् कुमारिल भट्ट ने अनेकान्तवाद का पूर्णरूपेण समर्थन किया है एवं वस्तु विवेचन के लिये अनेकान्तवादात्मक शैली का अनुसरण किया है। अतएव दूसरे शब्दों में भट्ट कुमारिल को जैन दार्शनिक कहें तो अनुचित नहीं होगा। उनके उत्तरवर्ती अन्य विद्वान् ग्रन्थकारों ने भी अपने-अपने ग्रन्थों में अनेकान्तवाद के समर्थन में जो विचार व्यक्त किये हैं, अब उनको यहाँ उपस्थित करते हैं।

पार्थसार मिश्र

श्री पार्थसार मिश्र मीमांसादर्शन के एक समर्थ और प्रसिद्ध टीकाकार हैं। उन्होंने शास्त्रदीपिका नामक ग्रन्थ में सामान्य-विशेष, कार्यकारणभाव, अवयव-अवयवी के भेदाभेद आदि को युक्ति पुरस्सर सिद्ध किया है। तत्सम्बन्धी उनके विचार निम्नानुसार हैं—

सर्वप्रथम अवयव-अवयवी अथवा कारण-कार्य के भेदाभेद के बारे में अनेकान्तवादात्मक कथन पर विचार करते हैं।

वैशेषिकदर्शन में अवयव से अवयवी को एकांत भिन्न माना है और वेदांतदर्शन में एकांत अभिन्न। लेकिन अवयवों से अवयवी एकांततया न तो भिन्न है और न अभिन्न ही है, किन्तु भिन्नाभिन्न उभयरूप है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस प्रकार इनका भेद अनुभवसिद्ध है, उसी प्रकार अभेद भी प्रतीतिसिद्ध है। दोनों में से किसी एक की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। पदार्थों का स्वरूप ही कुछ इस प्रकार का है कि वह उभयात्मक सिद्ध होता है, न कि भेदरूप और न अभेदरूप। अतः इन एकांत रूप से भेद या अभेद मानने वाले वादों की अपूर्णता की ओर संकेत करते हुए मीमांसक विद्वान् पार्थसार मिश्र जैनदर्शन के विद्वान की तरह लिखते हैं—

वयं तु भिन्नाभिन्नत्वं नहि तन्तुभ्यः शिरःपाण्यादिभ्यो वा अवयवेभ्यो निष्कृष्ठः[1] पटो देवदत्तो वा प्रतीयते तन्तु पाण्यादयोऽवयवा एव पटाद्यात्मना प्रतीयन्ते विद्यते च देवदत्ते अस्य हस्तः शिरः इत्यादि कियानपि भेदावभास इत्युपपन्नमुभयात्मकत्वम् ।[2]

अर्थात् हम तो अवयवो से अवयवी अथवा कारण (उपादान रूप) से कार्य को एकान्ततया न तो भिन्न मानते हैं और न अभिन्न, किन्तु भिन्नाभिन्न रूप उभय रूप मानते हैं। यानी कारण से कार्य किसी अपेक्षा से भिन्न है और किसी अपेक्षा से अभिन्न भी है। यदि कारण से कार्य को सर्वथा भिन्न ही मान लिया जाये तब तन्तुओ से कपड़े की और हाथ-पैर आदि से व्यक्ति की भिन्न पृथक् रूप मे प्रतीति होनी चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं है। इसलिये यह स्पष्ट है कि जो कपड़े और मनुष्य के अवयव हैं, वे किसी सम्बन्ध के द्वारा सम्मिलित हुए पट और मनुष्य के रूप मे दृष्टिगोचर होते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि कारण से कार्य एकांत रूप से भिन्न नहीं है। किन्तु इस विचार से कि कारण से कार्य भिन्न नही है तो सर्वथा अभिन्न है, ऐसा भी नही कह सकते हैं। क्योंकि अभेद मान लिया जाये तो लोक में यह कारण और यह इसका कार्य तथा व्यक्ति के लिये यह अमुक और इसके यह हाथ-पैर आदि हैं, यह व्यवहार नही बन सकेगा। क्योंकि हाथ-पैर आदि अवयवो से पृथक् स्वतन्त्र रूप से व्यक्ति का अस्तित्व नहीं है। जब हाथ पैर आदि अवयवो से पृथक स्वतन्त्र रूप से व्यक्ति नाम की यदि कोई वस्तु न हो तो व्यक्ति के ये हाथ, ये पैर, ये सिर आदि हैं, यह लोकप्रसिद्ध व्यवहार भी कैसे बन सकेगा। इस प्रकार के व्यवहार मे किसी भी तरह की भ्रांति भी नही है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अवयव-अवयवी अथवा कारण और कार्य का परस्पर मे भेद और अभेद मानना प्रामाणिक एव अनुभवसिद्ध है।

इसी प्रकार से शास्त्रदीपिकाकार को जाति और व्यक्ति का भी एकांत रूप से भेद अथवा अभेद मान्य नहीं है किन्तु भेदाभेद उभयरूप मान्य है। जाति का अभिप्राय सामान्य और व्यक्ति का अर्थ विशेष है। इन दोनो के भेदाभेद उभय रूप मानने के सम्बन्ध मे निम्नलिखित कथन है —

सर्वेष्वपि वस्तुषु इयमपि गौरियमपिगाः अयमपि वृक्षोऽयमपि, इति व्यावृत्तानुवृत्ताकारं प्रत्यक्षं देशकालावस्थान्तरेष्वविपर्यस्तमुदीयमानं सर्वमेवतर्कामासं विजित्यद्व्याकारं (सामान्य विशेषाकारं वस्त्वस्तीति व्यवस्थापयति—टीका-सुदर्शनाचार्य) वस्तु व्यवस्थापयत् केनान्येन शक्यते बाधितुं नहि ततोऽन्यद् बलवत्तरमस्ति प्रमाणं तन्मूलत्वात् सर्व प्रमाणानाम् ।[3]

१ निष्कृष्ठः पृथक्कृतः (अलग-अलग किए हुए)।

२ शास्त्रदीपिका पृ० ४१२ (विद्या विलास प्रेस, काशी)

३ शास्त्रदीपिका पृष्ठ ३८७

नहीं है। उसमें व्यक्ति रूप से अभेद और व्यावृत्ताकार रूप से भेद है। अत: अपेक्षा-भेद से भेदाभेद दोनों की एक ही स्थान में स्थिति निर्विवाद सिद्ध हो जाती है।

इसी प्रकार एक और स्थान पर जाति-व्यक्ति आदि पदार्थों को एकान्ततया भिन्न अथवा अभिन्न, एक या अनेक, नित्य अथवा अनित्य ही मानने वाले अन्य दार्शनिकों के द्वारा पदार्थों की अनेकान्तता पर किये गये आक्षेपों का उल्लेख और समाधान करते हुए लिखते हैं—

नन्वनुवृत्ता नित्याऽनुत्पत्ति विनाशधर्मा च जातिः विपरीतस्वभावा च व्यक्तिः कथं तयोरैक्यम् ? नह्येकमेव वस्तु-अनुवृत्तं व्यावृत्तं नित्यमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकमतद्धर्मकं च सम्भवति, त्रैलोक्यसंकरप्रसंगात्, जातिरप्येवमनित्यधर्मा स्यात् व्यक्तिरपि नित्यत्वादि धर्मा। नैष दोषः नानाकारं हि तद्वस्तु केनचिदाकारेण नित्यत्वादिकं केनचिच्चाऽनित्यत्वादिकं बिभ्रन्न विरोत्स्यते। जातिरपि व्यक्तिरूपेणानित्या व्यक्तिरपि जात्यात्मना नित्येति नानकाचिदनिष्ठापत्तिः।[1]

जाति-व्यक्ति आदि में कथंचित् भेदाभेदात्मक अनेकांतवाद की स्थापना करने के पहले शंकाकार की शंका प्रस्तुत करते हैं—

शंका—जाति-व्यक्ति को एक अथवा अभिन्न स्वीकार करना किसी प्रकार से उचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जाति-व्यक्ति परस्पर भिन्न-भिन्न स्वभाव रखने वाले हैं। जाति-अनुगत सामान्य व्यापक स्वरूप और व्यक्ति-व्यावृत्ति विशेष व्याप्य रूप है। जाति नित्य है और व्यक्ति अनित्य है, जाति उत्पत्ति-विनाश रहित है और व्यक्ति उत्पत्ति-विनाश सहित है। अतः यह दोनों पदार्थ एक या अभिन्न नहीं माने जा सकते हैं। संसार में ऐसा नहीं देखा जाता है कि एक ही वस्तु सामान्य रूप भी हो और विशेष रूप भी हो। वह नित्य भी हो और अनित्य भी, उत्पत्ति-विनाश रहित भी हो और उत्पत्ति-विनाश सहित भी। यह कभी संभव नहीं और होता भी नहीं कि परस्पर विरोधी धर्म एक ही स्थान पर रह सके। यदि ऐसा माना जाता है कि परस्पर विरोधी दो धर्म एक स्थान पर रह सकते हैं तो अग्नि में भी शीतता की प्रतीति होनी चाहिये और ऐसा मानने पर सांकर्यदोष हो जायेगा। जाति भी अनित्य और विनाशी हो जायेगी तथा व्यक्ति भी नित्य एवं अविनाशी माना जायेगा। अत: परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले धर्मों में अभेद मानना युक्तिसंगत नहीं है।

इस प्रकार से व्यक्ति और जाति सामान्य-विशेष आदि को सर्वथा भिन्न मानने वालों की शंका है। जिसका समाधान करते हुए शास्त्रदीपिकाकार कहते हैं—

---

१ शास्त्रदीपिका, पृ० ३६६

हमारे मत में इस प्रकार की शंकाओं को स्थान नहीं है और न दोष ही उपस्थित किया जा सकता है। वस्तु का वस्तुत्व ही यह है कि वह अनेकविध आकारों को धारण किये हुए हैं, अनेक प्रकार के धर्मों का आधार बनना ही वस्तु का वस्तुत्व है। अतएव वस्तु किसी आकार, स्वरूप से नित्य और किसी आकार से अनित्यत्व आदि धर्मों को धारण कर रही है। जब पदार्थ की यह स्थिति है और प्रत्यक्ष दिखाई देता है तब विरोध की आशंका नहीं की जा सकती है। इसलिये आकार भेद से विरुद्ध धर्मों का एक स्थान पर समावेश होना सरल है, जैसे कि देवदत्त व्यक्ति एक अवयव है, लेकिन उसमें अपेक्षा भेद से पितृत्व और पुत्रत्व ये दोनों विरोधी धर्म सुगम रीति से विद्यमान देखने में आते हैं। अपने पिता की अपेक्षा उसमें पुत्रत्व है और अपने पुत्र की अपेक्षा उसमें पितृत्व भी है। एक ही घट पदार्थ में अपने अवयवों की अपेक्षा अनेकता है और अवयवी की अपेक्षा एकता है। इसी प्रकार व्यक्ति और जाति में अपेक्षाभेद से नित्यत्व और अनित्यत्व आदि विभिन्न धर्मों की सत्ता के लिए समझना चाहिए। जाति भी व्यक्ति के रूप से अनित्य एवं विनाशी कही जा सकती है और व्यक्ति भी जाति की अपेक्षा नित्य एवं अविनाशी माना जा सकता है। कार्य भी कारण रूप से सत् है और कारण भी कार्य रूप से असत् है। इसमें किसी प्रकार के अनिष्ट की आशंका नहीं है। इसके सिवाय जाति व्यक्ति आदि में अभेद की तरह भेद भी विद्यमान है, उसमें नित्यानित्यत्व, व्यापकत्व-अव्यापकत्व भी है।

उक्त समस्त स्पष्टीकरण का सारांश यह है कि जाति-व्यक्ति आदि में अपेक्षा-भेद से नित्यानित्यत्व, भेदाभेदत्व, व्याप्य-व्यापकत्व आदि विभिन्न परस्पर विरोधी धर्म सापेक्ष रूप से एक वस्तु में अविकल रूप से रह सकते हैं।

इस प्रकार मीमांसादर्शनकारों ने एक ही वस्तु नित्यानित्य, भिन्नाभिन्न, एकानेक किस प्रकार कही जाती है, इसका तथा एक ही वस्तु में परस्पर विरुद्ध धर्मों की स्थिति को स्वाभाविक एवं नियमानुकूल सिद्ध करने के लिए अपेक्षावाद अनेकान्त-वाद के सिद्धान्त का गम्भीर रूप से विवेचन किया है। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि उन्होंने जैनदर्शन के अनुरूप ही सत्य तथ्यों को प्रस्तुत करने के लिए अपने चिन्तन को व्यापक बनाया है।

वैशेषिकदर्शन में स्याद्वाद

वैशेषिकदर्शन का परिचय

यह दर्शन विशेष (परमाणु) से सृष्टि की उत्पत्ति मानता है, अतः इसका नाम वैशेषिकदर्शन है। न्यायदर्शन की तरह यह दर्शन भी पशुपति-शिव को ईश्वर मानता है। इसलिए इसको पाशुपतदर्शन भी कहते हैं।

इस दर्शन के आद्य प्रवर्तक कणाद ऋषि माने जाते हैं। कणाद को कणभक्ष अथवा औलूक्य के नाम से भी कहा जाता है। इन दोनों नामों के सम्बन्ध में किंवदन्तियाँ

है। पौराणिक मान्यता के अनुसार कणाद ऋषि रास्ते में पड़े हुए चावलों के कणों का आहार कर कापोती वृत्ति से अपना जीवननिर्वाह करते थे। इसीलिए इनको कणाद या कणभक्ष भी कहा जाता था। कणाद का जन्म काश्यप गोत्रीय उलूक ऋषि के घर में हुआ था, अतः इनका नाम औलूक्य भी पड़ा। वायुपुराण में इन्हें द्वारका के पास प्रभास में रहने वाले सोमशर्मा का शिष्य कहा है।

औलूक्य नामकरण के बारे में वैदिक परम्परा का कथन है कि स्वयं ईश्वर ने उलूक (उल्लू) का रूप धारण कर कणाद ऋषि को द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह पदार्थों का उपदेश दिया था। इस उपदेश के आधार से कणाद ऋषि ने जीवों के उपकार के लिए वैशेषिक सूत्रों की रचना की और इसलिए वे औलूक्य नाम से कहे जाने लगे।[१]

चीनी बौद्ध विद्वान चिन्साङ् का कथन है कि उलूक रात्रि में सूत्र रचना और दिन में भिक्षावृत्ति करते थे। इसीलिए उनका नाम उलूक पड़ गया। दूसरी जगह लिखा है कि उलूक के रचे हुए सूत्र सांख्यदर्शन के सूत्रों से बढ़े-चढ़े (विशेष) थे, इसीलिए उलूक का दर्शन वैशेषिकदर्शन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सूत्रालंकार के रचयिता अश्वघोष ने कहा है कि जैसे रात में उल्लू शक्तिशाली होता है वैसे ही संसार में बुद्ध के आने से पहले यह दर्शन भी शक्तिशाली था। बुद्ध के आगमन से यह दर्शन प्रभाहीन हो गया। इसलिए इस दर्शन का नाम औलूक्य दर्शन हो गया।

कणाद ने वैशेषिक सूत्रों की रचना की। प्रशस्तपाद इन सूत्रों के प्रमुख भाष्यकार हैं। वैशेषिक सूत्रों पर रावण भाष्य और भारद्वाज वृत्ति नाम के दो भाष्यों का उल्लेख भी मिलता है, लेकिन वे अप्राप्य हैं। प्रशस्तपाद भाष्य पर व्योमशेखर ने व्योमवती, श्रीधर ने न्यायकन्दली, उदयन ने किरणावली और श्रीवत्स ने लीलावती टीकायें लिखी हैं। नवद्वीप के जगदीश भट्टाचार्य ने भाष्यसूक्ति और शंकर मिश्र ने कणाद रहस्य नामक प्रसिद्ध टीका ग्रन्थों की रचना की है। इसके अतिरिक्त शिवादित्य की सप्तपदार्थी, लौगाक्षि भास्कर की तर्ककौमुदी, विश्वनाथ का भाषापरिच्छेद, तर्कसंग्रह, तर्कामृत आदि ग्रन्थ वैशेषिकदर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

महर्षि कणाद के समय और वैशेषिक दर्शन की उत्पत्ति के विषय में एकमत नहीं है। ईसा की छठी शताब्दी के चित्साङ् नामक चीनी बौद्ध विद्वान वैशेषिकदर्शन के जन्मदाता उलूक का समय बुद्ध से आठ सौ वर्ष पूर्व मानते हैं और श्री यूई वैशेषिक

१ वैशेषिक स्यादौलूक्य नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्य विशेषाः ते प्रयोजनमस्य वैशेषिकं शास्त्रं तद्वेत्त्यधीते वा वैशेषिक उलूकस्यापत्यमिव तज्जन्यत्वादौलूक्यं शास्त्रं उलूक वेषधारिणा महेश्वरेण प्रणीतमिति प्रसिद्धिः।

—अभिधान चिन्तामणि ३।५२६ वृत्ति

कल्पना कीजिये। ऐसा करते-करते जब अविभाज्य अंश प्राप्त हो जाये तब समझ लीजिये कि परमाणु मिल गया। वस्तुतः इस सृष्टि के कर्ता परमाणु ही हैं। क्योंकि इन्हीं के विविध संयोगों से सब चीजें उत्पन्न हुई हैं।

पाँचवाँ द्रव्य आकाश एक है। इसका प्रधान गुण शब्द है। छठा, सातवाँ और आठवाँ द्रव्य क्रमश. काल, दिक्, आत्मा अनुमानगम्य है। नौवाँ द्रव्य मन (भीतरी इन्द्रिय) है। जिसका इन्द्रियों के साथ संयोग होना ज्ञान के लिए आवश्यक है।

वैशेषिकदर्शन मे प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण स्वीकार किये गये हैं।

न्याय और वैशेषिक दर्शन बहुत-सी मान्यताओं में एकमत होने से समानतन्त्री माने जाते हैं। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने वैशेषिक सिद्धांत को न्यायदर्शन का प्रतितन्त्रक सिद्धांत कहा है। बौद्ध विद्वान आर्यदेव और हरिवर्मन ने न्याय और वैशेषिक दर्शन का पृथक्-पृथक् रूप से उल्लेख नहीं किया है। इतना ही नहीं उत्तरवर्ती अनेक वैशेषिक दर्शनकारों ने अपने-अपने ग्रन्थों में न्याय और वैशेषिक दर्शनों के सिद्धांतों का समान रूप से उपयोग किया है। इसके बारे में विद्वानों का मत है कि प्रशस्त पाद भाष्यकार के समय में वैशेषिक सिद्धान्त और उद्योतकर के समय के न्याय-सिद्धान्तों में बहुत कम अन्तर था, किन्तु उत्तरकाल में वैशेषिक दर्शन ने आत्मा और अनात्मा—विशेष की ओर मुख्य रूप से ध्यान दिया और परमाणुवाद का विशेष रूप से अध्ययन किया तथा नैयायिकों ने न्याय और तर्क की वृद्धिगत करने में अपनी शक्ति का उपयोग किया। फलस्वरूप न्याय और वैशेषिक दर्शन में अन्तर बढ़ता गया। उत्तरकाल में तो यह अन्तर अपनी चरमसीमा पर पहुँच गया। नव्य नैयायिक रघुनाथ आदि ने वैशेषिक दर्शन के मान्य पदार्थों का खंडन करने के लिए 'पदार्थ खण्डन' जैसे ग्रन्थों की भी रचना की।

न्याय और वैशेषिक दर्शन में मतभिन्नता के मुख्य बिन्दु निम्न प्रकार हैं—

(१) वैशेषिक को भिन्न प्रमाण नहीं मानते हैं, परन्तु वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं। नैयायिक शब्द को भिन्न प्रमाण मानकर वेदों के अतिरिक्त अन्य ऋषि आप्तजनों को भी प्रमाण मानते हैं।

(२) वैशेषिक तो प्रत्यक्ष और अनुमान को प्रमाण मानते हैं। लेकिन नैयायिक उपमान को भिन्न प्रमाण मानते हैं और अर्थापत्ति, संभव, ऐतिह्य को प्रमाण मानकर उनका प्रत्यक्ष, अनुमान आदि चार प्रमाणों में अन्तर्भाव करते हैं।

(३) वैशेषिक दर्शन में द्रव्य, गुण, कर्म आदि षट् पदार्थों पर विशेष रूप से चर्चा की गई है, जबकि नैयायिक प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों को मानते हैं। न्यायसूत्र में द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष और समवाय के बारे में कोई चर्चा नहीं आती है।

(४) वैशेषिक दर्शन में ईश्वर का नाम नहीं आता है और न्यायसूत्र में ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध किया गया है।

(५) वैशेषिक मोक्ष को निःश्रेयस् अथवा मोक्ष नाम से कहते हैं और शरीर से सदा के लिए सम्बन्ध छूट जाने को मोक्ष कहते हैं। नैयायिक मोक्ष को अपवर्ग नाम से कहते हैं और दुःखक्षय को अपवर्ग मानते हैं।

उक्त प्रकार की वैचारिक भिन्नता होते हुए भी दोनों दर्शनो के साधुओं के वेश, आचार आदि के सम्बन्ध मे गुणरत्नसूरि ने षड्दर्शन समुच्चय टीका मे निम्न प्रकार से वर्णन किया है—

न्याय और वैशेषिक मतानुयायी साधु निरन्तर दण्ड धारण करते हैं। मोटी लंगोटी धारण करते है। अपने शरीर को कंबल से ढके रहते हैं और जटा बढाते हैं, शरीर पर भस्म लपेटते हैं, यज्ञोपवीत रखते हैं, हाथ में जलपात्र रखते हैं, नीरस भोजन करते हैं, प्रायः वृक्षो के नीचे वन मे रहते हैं, तुम्बी रखते हैं, कंदमूल और फल पर जीवन-निर्वाह करते हैं, आतिथ्य कर्म में रत रहते हैं, कोई स्त्री सहित होते हैं और कोई स्त्री रहित होते हैं। दोनों में स्त्रीरहित अच्छे माने जाते हैं, पंचाग्नि तप तपते हैं और संयम की उत्कृष्ट स्थिति में मग्न रहते हैं, प्रातःकाल दाँत, हाथ, पैर आदि को साफ करके अंग में भस्म लगाकर शिव का ध्यान करते हैं। उनके अनुयायी यजमान लोग नमस्कार करते समय 'ॐ नमः शिवाय' बोलते हैं और सन्यासी सिर्फ 'नमः शिवाय' कहते हैं। ये तपस्वी शैव, पाशुपत, महाव्रतधर और कालमुख के भेद से चार प्रकार के होते हैं। नैयायिकों और वैशेषिको का देवता के विषय में मतभेद नहीं है।

इस प्रकार से वैशेषिक दर्शन का संक्षेप मे परिचय देने के बाद अब स्याद्वाद प्रणाली के अनुसरण सम्बन्धी वैशेषिकदर्शन के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

सामान्य विशेष की उभयरूपता

यह तो स्पष्ट किया जा चुका है कि जैनदर्शन किसी भी वस्तु को एकांत रूप से सामान्य या विशेष नहीं मानता है, किन्तु सामान्य-विशेष उभय रूप स्वीकार करता है। इस सिद्धान्त को वैशेषिकदर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद ने भी अपनाया है। किसी स्थान पर तो पूर्णतया स्वीकार किया है, और कहीं पर आंशिक रूप में, किन्तु स्वीकार अवश्य किया है। जैसे उन्होंने स[illegible]और विशेष नाम के दो स्वतंत्र पदार्थ माने हैं और उनमें से सामान्य के 'पर[illegible] र' ऐसे दो भेद करके पर को [illegible] : को तो उन्होंने 'सत्ता' और अपर को 'सामान्य' के [illegible] । सामान्य-विशेष केवल सामान्य रूप से ही स्वीकार [illegible] उभय रूप माना है—

द्रव्यत्वं [illegible]

[illegible]न्यात्व

१ [illegible]

प्रशस्तपाद भाष्य में उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए जैनदर्शन के मंतव्य की तरह सामान्य-विशेष उभय रूप में मानकर स्पष्ट रूप से कहा है—

'सामान्यं द्विविधं परमपर चानुवृत्ति प्रत्ययकारणं । तत्र पर सत्ता महाविषयत्वात् साचानुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव । द्रव्यत्वाद्यपरमल्पविषयत्वात्, तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सद्विशेषाख्यामपि लभते।'

उक्त अंश का सारांश यह है कि सामान्य अनुवृत्ति का हेतु होने से पर-अपर के भेद से दो प्रकार का है। पर सत्ता रूप है और उसका विषय व्यापक एवं अनुवृत्ति का मुख्य कारण होने से तो सामान्य कहलाता है और द्रव्यत्व आदि अपर अल्प-विषय वाला होने और व्यावृत्ति का भी कारण होने [illegible] सामान्य होकर भी विशेष कहा जाता है। यानी सामान्य सिर्फ सामान्य रूप ही नहीं किन्तु विशेष रूप भी है। द्रव्यत्व, गुणत्व आदि यद्यपि सामान्य रूप हैं लेकिन सत्ता की अपेक्षा उनमें विशेषत्व और पृथ्वीत्वादि की अपेक्षा सामान्य रूपता यह दोनों ही धर्म रहते हैं। इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए सूत्रकार लिखते हैं—

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्।[1]

अर्थात् सामान्य और विशेष यह ज्ञान की अपेक्षा से हैं। इसका स्पष्टीकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं—

द्रव्यत्वं पृथ्वीत्वापेक्षया सामान्यं सत्तापेक्षया च विशेष इति।

द्रव्यत्व पृथ्वीत्व की अपेक्षा सामान्य और सत्ता की अपेक्षा से विशेष है। अतएव सामान्य विशेष उभय रूप है।

उक्त कथन का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए उपस्कारकर्ता शंकर लिखते हैं—

परमपिसामान्यमपरमपि तथा। परन्तु सामान्यं विशेष संज्ञामपि लभते यथा द्रव्यमिदमित्यनुवृत्ति प्रत्ययेसत्ययेव नायं गुणो नेदं कर्मेति विशेष प्रत्ययः तथा च द्रव्यत्वादीनां सामान्यानामेव विशेषत्वम्।

अर्थात् सामान्य के दो भेद हैं—पर और अपर। परन्तु सामान्य विशेष भी कहलाता है। जैसे कि यह द्रव्य है, इसमें अनुवृत्ति प्रत्यय होने पर भी यह गुण नहीं है, [illegible] कर्म नहीं है, इस प्रकार का विशेष प्रत्यय भी होते देखा जाता है। इसलिए द्रव्यत्वादि सामान्यों को विशेष भी कह सकते हैं। यानी द्रव्यत्व रूप अनुवृत्ति प्रत्यय होने पर यह गुण नहीं, यह कर्म नहीं आदि विशेष प्रत्यय भी होता है। अतः वस्तु केवल सामान्य अथवा विशेष रूप ही है, ऐसा एकांत नियम नहीं है किन्तु सामान्य रूप होकर विशेष रूप भी है।

---

१ वैशेषिक सूत्र ८।२।३

इस प्रकार महर्षि कणाद ने स्पष्ट रूप से अनेकांतवाद का प्रतिपादन किया है। वस्तु को सामान्य-विशेष उभयात्मक होने के बारे में पहले विशेष रूप से स्पष्ट किया जा चुका है, जिसने पुनरावृत्ति करना उचित नहीं है।

कोई भी पदार्थ एकांतरूप से सत् अथवा असत् नहीं है। वह जैसे सत् है वैसे असत् भी है। इसीलिए जैनदर्शन में वस्तु को सदसत् उभयरूप माना है। उसके मत से पदार्थ में सत्व और असत्व इन दोनों धर्मों की सत्ता है। जैसे घट सत् भी है और असत् भी है अथवा ऐसा कह सकते हैं कि घट में जैसे सत्व मौजूद है, वैसे ही असत्व भी विद्यमान है। यद्यपि ऊपरी तौर से देखने पर यह बात विलक्षण प्रतीत होती है, परन्तु विचार करने पर यह सिद्धान्त व्यवस्थित और वस्तुस्वरूप के सर्वथा अनुकूल प्रतीत होता है। जैसे कि घट है और नहीं है—यह सुनना अटपटा लगता है, लेकिन इसकी गहराई में जाने का प्रयत्न नहीं किया जाता कि यह क्यों कहा गया है? उक्त कथन का यह तात्पर्य नहीं कि घट जिस रूप से, जिस अपेक्षा से, सत् कहा जाता है उसी रूप व अपेक्षा से असत् भी कहा जाता है। घट अपने स्वरूप की अपेक्षा तो है, और पररूप की अपेक्षा 'नहीं', अतः स्वरूप की अपेक्षा अस्तित्व और पररूप की अपेक्षा नास्तित्व यह दोनों धर्म पदार्थ में अपनी सत्ता प्रामाणिक रूप से भान कराते हैं और पदार्थ को सदसत्उभय रूप सिद्ध करते हैं। यदि घट को स्व-रूप की तरह पर-रूप से भी सत् और पर-रूप की तरह स्व-रूप से भी असत् मान लिया जाये तब वह पर-रूप से भी क्रमशः सत्, असत् ही ठहरेगा। इस प्रकार वस्तु का जो प्रतिनियत स्वरूप है वह विकृत हो जायेगा और घट पट में जो भेद की व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है, उसका भी उच्छेद हो जायेगा। अतएव यह सिद्ध हुआ कि स्व-रूप की अपेक्षा सत् और पर-रूप की अपेक्षा असत् एवं सदसत् उभय रूप से वस्तु का कथन करना युक्तियुक्त है।

वस्तु की सदसदात्मकता के बारे में ऊपर जो संकेत किया गया है उसका कुछ उल्लेख अन्योन्याभाव के निरूपण के प्रसंग में महर्षि कणाद ने निम्न प्रकार से किया है—

सच्चासत्। यच्चान्यदसदतस्तदसत्।[१]

उपस्कार एवं भाष्य में उक्त दोनों सूत्रों की व्याख्या क्रमशः इस प्रकार की गई है। उपस्कारकर्ता लिखते हैं—

प्रागभावप्रध्वंसौ साधयित्वाऽन्योन्याभावं साधयितुमाह—सच्चासदिति। यत्र सदेव घटादि असदिति व्यवह्रियते तत्र तादात्म्या भावः प्रती-

---

१ वैशेषिक सूत्र ९।१।४-५

यते। भवति हि असन्नश्वो गवात्मना, असन् गौरश्वात्मना, असन् पटो घटात्मना इत्यादि।[१]

भाष्यकार लिखते हैं—

तदेव रूपान्तरेणासदप्यन्येन रूपेण सद् भवतीत्युक्तम्............
अश्वात्मना सन्नप्यश्वो न गवात्मनास्तीति[२]

ऊपर दिये गये सूत्रों, उपस्कार और भाष्य के कथन का यह आशय है कि घट अपने निजी स्वरूप से तो है और पर रूप से नहीं है। अश्व अपने अश्व स्वरूप से सत् है और गो रूप से असत् है। इसका अर्थ यह हुआ कि घटादि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप की अपेक्षा सत् और पटादि प्रत्येक पर-रूप की अपेक्षा से असत् है। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक पदार्थ में स्व-पर-रूप की अपेक्षा सत्-असत् दोनों रहते हैं।

इसी बात को अनेकान्तवाद भी व्यक्त करता है कि प्रत्येक पदार्थ स्व-पर-रूपापेक्षा सदसदात्मक है। विभिन्न दर्शन भी उक्त कथन का समर्थन करते हैं और यह सब मानते हुए भी उनकी अनेकान्तवाद के खण्डन की प्रवृत्ति को देखकर आश्चर्य होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अनेकान्तवाद का खण्डन करना तत्कालीन युग का एक सामान्य प्रवाह ही बन गया था तथा गतानुगतिको लोकः के अनुसार बिना योग्य विवेक के भी कुछ न कुछ लिखना स्वदर्शन की प्रतिष्ठा का अंग माना जाने लगा था।

वैशेषिक दर्शन में अनेकांतवाद के समर्थन को प्रस्तुत करने के बाद अब न्यायदर्शन की दृष्टि को स्पष्ट करते हैं कि उसने अनेकांतवाद का किस रूप में समर्थन किया है।

न्यायदर्शन में स्याद्वाद

न्यायदर्शन का परिचय

साध्य-साधन के अविरोध को युक्ति कहते हैं। युक्ति द्वारा वस्तु की परीक्षा करना न्याय है। प्रत्येक वस्तु को तर्क की कसौटी पर कसना न्यायदर्शन है। इसका दूसरा नाम नैयायिक दर्शन भी है।

इस दर्शन के आद्य प्रवर्तक महर्षि गौतम हैं। ये ईश्वर (शिव) को भगवान मानते थे। इनके बारे में ऐसी किंवदंती है कि ईश्वरभक्ति में लीन होकर चलते समय ये कई बार कुँए (खड्ड) में गिर जाते थे। अतः ईश्वर ने इनके पैरों में आँखें बना दी थीं। पैरों में आँखें होने से इनका नाम अक्षपाद हो गया। इस मत के अनुयायी न्याय

---

१ उपस्कार (शंकर मिश्र), पृ० ३१३
२ वैशेषिक भाष्य, पृ० ३१५

प्रधान होने से नैयायिक, शिव को भगवान मानने से शैव और अक्षपाद के शिष्य होने से आक्षपाद भी कहलाते हैं।

महर्षि गौतम ने न्यायसूत्रों की रचना की। इनकी रचना के सम्बन्ध में विभिन्न मत मिलते हैं। प्रो० जैकोबी ने २००-४५० ई० सन् में न्यायसूत्रों की रचना का काल माना है। श्री यू० इस समय को ई० सन् १५०-२५० स्वीकार करते हैं। प्रो० ध्रुव ने न्यायसूत्रों की रचना का समय ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी माना है। न्याय सूत्रों पर वात्स्यायन रचित भाष्य प्रमुख है। वात्स्यायन भाष्य पर उद्योतकर (६३५ ई०) ने न्यायवार्तिक की रचना की। वाचस्पति मिश्र, जयन्त भट्ट, [illegible], उदयन आदि विद्वान न्यायदर्शन के समर्थ प्रचारक हुए हैं। न्यायदर्शन में नव्यन्याय के प्रवर्तक मिथिलावासी गंगेश उपाध्याय हैं। गंगेश की सबल रचना तत्त्वचिन्तामणि है। इस ग्रंथ में नैयायिकों के चार प्रमाणों पर चर्चा की गई है। इस तत्त्वचिन्तामणि ग्रन्थ पर मथुरानाथ (ई० स० १५८०), जगदीश (सन् १६६०) और गदाधर (सन् ११५०) ने टीकायें लिखकर नव्यन्याय को विकसित कर दिया है। इस नव्यन्याय प्रणाली को उत्तरवर्ती विभिन्न दर्शनों के व्याख्याताओं ने अंगीकार करके अपने-अपने दर्शन के ग्रंथों की रचना की है।

नैयायिक दर्शन में भगवान शिव (महेश्वर) को जगत का सर्जक और संहारक माना गया है। वे व्यापक, नित्य, एक और सर्वज्ञ हैं। महेश्वर के १८ अवतार कहे गये हैं।

नैयायिक दर्शन में १६ तत्त्व माने जाते हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान। श्री गौतम का कथन है कि इन सोलह तत्त्वों का ही ठीक-ठीक ज्ञान होने से मुक्ति होती है।

नैयायिक दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम इन चार को प्रमाण मानता है। प्रमेय के १२ भेद हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, पुनर्जन्म, फल, दुःख, मोक्ष।

इनकी मान्यता के अनुसार दुःख से अत्यन्त छुटकारा होना ही मोक्ष है। शैवी दीक्षा का महत्त्व बताते हुए ये लोग कहते हैं कि यदि इस दीक्षा को १२ वर्ष पालकर कोई छोड़ भी दे तो वह चाहे दास-दासी भी क्यों न हो, मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। इनका कहना है कि जो शिव का वीतराग भाव से स्मरण करता है, वह वीतराग बन जाता है और जो सरागभाव से ध्यान करता है, वह सरागभाव को प्राप्त होता है।

नैयायिक और वैशेषिक दर्शन में यद्यपि [illegible] मान्यता है लेकिन समानतायें अधिक हैं, जिनका संकेत पहले [illegible] में किया जा चुका है। नैयायिक और वैशेषिक दर्शन [illegible] वेशभूषा, आचार प्रायः समान है।

न्यायदर्शन का संक्षिप्त परिचय देने के बाद अब अनेकांतवाद को इस दर्शन ने अपने ग्रंथों में किस रूप से स्वीकार किया है, यह बतलाते हैं।

वात्स्यायन भाष्य में स्याद्वाद का रूप

महर्षि गौतम के न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने पदार्थ विवेचन में निम्न प्रकार से अनेकांतवाद का आश्रय लिया है—

विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः।[1]

एतच्च विरुद्धयोरेकधर्मिस्थयोर्बोधव्यं, यत्र तु धर्मिसामान्यगतौ विरुद्धौधर्मौ हेतुतः सम्भवतः तत्र समुच्चयः हेतुतोऽर्थस्य तथाभावोपपत्ते इत्यादि।

अर्थात् पक्ष-प्रतिपक्ष द्वारा विचार करके पदार्थ का जो निश्चय किया जाता है, उसे निर्णय कहते हैं। परन्तु यह विचार करने का अवसर तभी आता है जब एक धर्मी में विरुद्ध धर्मों की स्थिति हो अर्थात् किसी एक धर्मी में विरुद्ध अनेक धर्म-पक्ष विद्यमान हों तभी विचार करके निर्णय किया जाता है। लेकिन जहाँ धर्मी सामान्य में धर्मों की सत्ता प्रामाणिक रूप से सिद्ध हो वहाँ पर तो समुच्चय ही मानना चाहिए, क्योंकि प्रामाणिक रूप से ऐसा ही सिद्ध है। वहाँ पर तो परस्पर विरुद्ध दोनों ही धर्मों को स्वीकार करना चाहिए।

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि जहाँ पर प्रमाण, युक्ति न हो वहाँ पर परस्पर विरुद्ध धर्मों की अवस्थिति में विरोध है, लेकिन प्रमाण होने पर परस्पर विरुद्ध धर्मों की एक ही स्थान पर स्थिति मानने में कोई दोष नहीं है।

इसी प्रकार से जाति के लक्षण में भाष्यकार वात्स्यायन स्पष्ट करते हैं—

समानप्रसवात्मिका जातिः।[2]

या समानां बुद्धि प्रसूते भिन्नेष्वधिकरणेषु यया बहूनीतरतो न व्यावर्तन्ते योऽर्थोऽनेकत्र प्रत्ययानुवृत्तिनिमित्तं तत्सामान्यम्। यच्च केषांचित् भेदं कुतश्चिद् भेदं करोति तत्सामान्यविशेषो जातिरिति।

इसका अर्थ यह है कि जाति सामान्य रूप भी है और सामान्य—विशेष उभयरूप भी है। द्रव्यों के आपस में भेद रहते हुए जो समान बुद्धि को उत्पन्न करे, वह केवल सामान्य जाति है और जो किन्हीं का तो आपस में अभेद और किन्हीं के साथ भेद को सिद्ध करे, वह सामान्य-विशेष उभयरूप जाति कहलाती है।

इसी प्रकार न्यायसूत्रों एवं भाष्य के आधार पर अन्य अनेक प्रकारों द्वारा

---

१ न्यायसूत्र १।१।४१

२ न्यायसूत्र २।२।६८

रचित ग्रंथों अथवा स्वतन्त्र रूप से लिखे गये अन्य ग्रन्थों में भी अनेकांतवाद का समर्थन प्राप्त होता है। लेकिन विस्तार भय से उन सब को उपस्थित नहीं करके न्यायसूत्रों पर वैदिक मुनि हरिप्रसाद स्वामी रचित 'वैदिक वृत्ति' के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

यद्यपि स्वामीजी ने अपनी वैदिक वृत्ति में 'नैकस्मिन्न सम्भवात्' (२।२।३३ ब्रह्मसूत्र) इस सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में अनेकान्तवाद का खण्डन शंकराचार्य से भी बढ़कर करने का प्रयत्न किया है और यहाँ तक कह दिया है कि अनेकांत सिद्धान्त किसी प्रकार भी विश्वास करने योग्य नहीं है। लेकिन आगे चलकर स्वामीजी ने अपनी वृत्ति में जो अनेकातता का समर्थन किया है, वह विशेष की अपेक्षा भी बढ़कर है। उन्होंने एक ही वस्तु को सदसत् उभयरूप मानते हुए लिखा है—

ननु कर्मणा यदिदं फलं निष्पद्यते तत्कि निष्पत्तेः प्रागसद् वर्तते किं वाऽसदिति जिज्ञासायां पूर्वं तावत् पूर्वपक्षमाह—

नासन्न सन्न सदसत् सद सतोर्वैधर्म्यात्।'

प्राङ् निष्पत्तेरित्यनुवर्तते। फलमिति प्रकरणाल्लभ्यते तच्च कार्य-मात्रोपलक्षणं नासदिति प्रतिज्ञायां 'उपादाननियमात्' न सदिति प्रतिज्ञायां 'उत्पत्त्यसम्भवात्' इति हेतुद्वयदोषः। असत् निष्पत्तेः प्राक् फलमसत् न भवति कुतः उपादाननियमात् कार्यविशेषनिष्पत्त्यै कारणविशेषोपादानस्य नियमात्। सत्-निष्पत्तेः प्राक् फलं सत् न भवति कुत ? उत्पत्त्यसंभवात् सत् उत्पत्तेः सम्भवाभावात्। सदसत् निष्पत्ते प्राक् फल सदसत् न भवति कुत. ? सदसतोः सतोऽसतश्च द्वयोर्वैधर्म्यात् विरुद्धधर्मकत्वात् मिथो विरोधादिति यावत्।

अर्थात् कर्म से जो फल उत्पन्न होता है, वह उत्पत्ति से पूर्व सत् है अथवा असत् ? इस प्रश्न पर पहले पूर्व पक्ष रूप सूत्र का उल्लेख करके कहा है—नासन्न सन्न—इत्यादि यानि उत्पत्ति से पूर्व फल—कार्य न तो असत् है और न सत् और न सत्-असत्। क्योंकि यदि उत्पत्ति से पूर्व कार्य को सर्वथा असत् रूप ही माना जाये तब तो तंतुओं से घट, मिट्टी से घट और तिलों से ही तेल आदि उत्पन्न होने का जो नियम देखा जाता है, उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती है। जिस प्रकार असत् रूप पट तन्तुओं से, असत् रूप घट मिट्टी से और असत् रूप तेल तिलों से उत्पन्न होना है, उसी प्रकार तन्तुओं से घट, मिट्टी से पट और बालू-रेत से तेल भी उत्पन्न होना चाहिए। क्योंकि जैसे तन्तुओं में पट, उत्पत्ति से पूर्व सर्वथा नहीं है, ऐसे ही मिट्टी में भी नहीं है तथा जिस प्रकार तिलों में पहले तेल का सर्वथा अभाव है, ऐसे बालू आदि में भी उसका

असत् है। फिर क्या कारण है, जो कि तन्तुओं से ही पट, मिट्टी से ही घट और तिलों
से ही तेल उत्पन्न होता है? क्योंकि असत्त्व तो सब जगह पर समान ही है और
यह भी देखा जाता है कि जिसको तेल की जरूरत होती है, वह तिलों को बटोरता है,
घड़ा बनाने वाला कुम्हार मिट्टी को और कपड़ा बनाने वाला जुलाहा सूत को ही ले
है। यदि उत्पत्ति से पूर्व कार्य सर्वथा असत् हो तब तो इस प्रकार का नियम न
रहना चाहिए। इससे मालूम होता है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य सर्वथा असत् नहीं
रहता तथा उसे सत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि यदि सत् रूप ही मान लिया जाये
तब तो उसकी (कार्य की) उत्पत्ति ही नहीं बन सकती है। क्योंकि जो सत् है
कभी उत्पन्न होता नहीं (उत्पत्ति-विनाश से रहित होना ही सत् का स्वभाव है) तथा
कार्य को हम उत्पन्न होता देखते हैं। अतः वह सत् भी नहीं है तथा सदसत् उभय
रूप भी कार्य को नहीं कह सकते हैं, क्योंकि सत्-असत् दोनों आपस में विरोधी हैं।
जहाँ एक तत्त्व की स्थिति हो वहाँ पर दूसरा नहीं रह सकता है। इसलिए उत्पत्ति से
पूर्व कार्य सत्-असत् उभय रूप भी नहीं है।

यह शंकाकार का पूर्व पक्ष है। इसका समाधान करने के लिए वे लिखते हैं—

सिद्धान्तमाह—

उत्पादव्ययदर्शनात्।[1]

प्राङ् निष्पत्तेः सदसदिति चानुवर्तते फलसम्बन्ध पूर्वात्
निष्पत्तेः। प्राक् फलं कार्यं सदसदिति वेदितव्यम्। कुतः? उत्पादव्यय
दर्शनात्। सदुत्पत्तिविनाशयोरुपलभ्यमानत्वात्। 'चेदुत्पत्तेः प्राक् कार्यमसत्
भवेत्—न जातूत्पद्यते। असतः शशशृंगादेरनुत्पन्नस्य दर्शनात्। सच्चेन् न कदा-
चिद् विनश्येत्। पुरस्तात् सत् पश्चादपि सत्त्वनियमेन विनाशासम्भवात्।
उत्पद्यते विनश्यति च कार्यम् तस्मात् भवति प्रतिपत्तिर्नमैतदुत्पत्तेः प्राक्
नासदस्ति नापिसत् किन्तु सदसदिति।

अर्थात् कार्य में उत्पत्ति और विनाश दोनों की उपलब्धि होती है, इस
कार्य सत् और असत् उभयरूप है। यदि उत्पत्ति से पूर्व कार्य को सर्वथा असत् मान
जाये तब तो उसकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है, क्योंकि जो सर्वथा असत् है
कभी उत्पन्न नहीं हो सकता है और न उत्पन्न होना देखा गया है। शश
(खरगोश के सींग) सर्वथा असत् है अतः उसकी उत्पत्ति कभी नहीं होती है।
प्रकार कार्य भी असत् रूप होने से कभी उत्पन्न नहीं होगा और यदि कार्य को सर्व
सत् ही मान लें तो उसका विनाश कभी नहीं होगा, जो उत्पत्ति से पहले सत् है,
बाद में भी सत् रूप ही रहेगा। परन्तु हम देखते हैं कि कार्य उत्पन्न भी होता है

---

१ न्यायसूत्र ४।१।४९

विनष्ट भी। अतः इससे सिद्ध हुआ कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य न तो सर्वथा सत् है न असत् है किन्तु सदसत् उभयरूप है।

इस समाधान पर शंकाकार पुनः अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए कहता है—

ननु सदसतोर्वैधर्म्यात् सहभावाऽसंभवः ?

अर्थात् पहले यह बताया है कि असत् सत् आपस में एक दूसरे के अत्यन्त विरोधी है अतः इनकी एक स्थान पर स्थिति नहीं हो सकती है। फिर उत्पत्ति से कार्य को सदसत् उभयरूप कहना या मानना किस प्रकार उचित समझना चाहिए ?

इसका समाधान करने के लिए सूत्र और स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

बुद्धिसिद्धं तु तदसत्।[1]

अबुद्धि-सिद्धं तु ना व्यवच्छिनत्ति। तदसत्—सदसतोर्यदसदिरयुक्त सदसत्। बुद्धिसिद्धं—बुद्ध्यासिद्धं बुद्धिसिद्धम् बुद्धि सहमिति यावत् परिगृहीतव्यमित्यर्थः। उत्पत्तेः पूर्वं येन रूपेण कार्यं सद् वर्तते तेनैव रूपेण चेदसत् इति ब्रूयाम तदा स्यात् विरोधात्तयोः सह भावासंभवः न च वयं तेनैव रूपेणासदिति ब्रूमः किन्तु येन रूपेण सत् ततो रूपान्तरेणासदति निगदामः। तच्च बुद्धि सहते। कारणरूपेण सतः कार्यरूपेण सत्वस्योत्पत्तेः प्रागुपपन्नत्वात्। न ह्युत्पत्तेः प्राक् कार्यरूपेण सत्वं बुद्ध्या न सिद्ध्यति न च बुद्ध्यासिद्धे विरोधः कथंचिदुपतिष्ठते तस्मादुत्पत्तेः प्राक् कार्यस्य सदसत्वे नास्ति सहभावासंभव इति भावः।

अर्थात् कार्य को सदसत् उभयरूप स्वीकार करना बुद्धिसिद्ध अनुभवसिद्ध है। जो बात अनुभवसिद्ध हो उसको मानने में कोई आपत्ति नहीं। उत्पत्ति से पूर्व कार्य जिस रूप से सत् है, उसी रूप से यदि उसको असत् कहा जाये तब तो सत् और असत् का एक स्थान में रहना न भी बन सके, परन्तु हमारा मतव्य ऐसा नहीं है। हम तो जिस रूप से कार्य को सत् कहते हैं, उसे उसी रूप में असत नहीं किन्तु रूपान्तर से असत् कहते हैं। उत्पत्ति से पूर्व कार्य-कारण रूप से सत् और कार्य रूप से असत् है, यह बात अनुभवसिद्ध है और अनुभवसिद्ध बात का अपलाप-तिरस्कार नहीं किया जा सकता है। इसीलिए उत्पत्ति से पूर्व कार्य को सत् एवं असत् उभयरूप मानने में कोई आपत्ति नहीं है। कारण रूप से सत् और कार्य रूप से असत् एवं सदसत् दोनों ही अपेक्षाभेद से कार्य में उत्पत्ति के पूर्व माने जा सकते हैं, इसमें विरोध की आशंका नहीं है।

---

१ न्यायसूत्र ४।१।५०

वैदिक वृत्तिकार का उक्त कथन स्पष्ट रूप से अनेकान्तवाद का समर्थक है, अत अब अपनी ओर से अन्य कोई स्पष्टीकरण करना पुनरावृत्ति ही माना जायेगा। उन्होंने स्वय एक ही पदार्थ में अपेक्षाभेद से सदसत् उभय रूप स्वीकार किया ही है।

वैदिक वृत्तिकार ने वेदांत सूत्रों और वैशेषिक सूत्रों पर भी वृत्तियाँ लिखी हैं। उनमें भी अनेकांतवाद को अंगीकार करते हुए लिखा है—

न खल्वस्माभिरुत्पत्तेः प्राक् कार्यं सर्वथा कारणतोऽन्यदनन्यद्वाऽभ्युपगम्यते येन तत्र भवदुत्प्रेक्षिता दोषाः प्रसज्येरन् किंतर्हि ? कार्यात्मना कारणतोऽन्यत् सत् कारणात्मनाऽन्यत्।……तदेतद्वयं श्रुति वाक्यावष्टम्भेनाभ्युपगच्छामो न तर्कादिवष्टम्भेन। श्रुतिवाक्यानि च सर्वस्यास्य कार्यवर्गस्य प्रागुत्पत्ते कार्यात्मना कारणतोऽन्यत्वं कारणात्मना चानन्यत्वं व्यक्तमवगमयन्ति। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।'[१] 'असदेवेदमग्र आसीत् तत् सदासीत्'[२] 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नाम रूपाभ्यामेव व्याक्रियत'[३] इत्यादीनि।[४]

उक्त कथन का सारांश यह है कि हम उत्पत्ति से पूर्व कार्य को कारण से सर्वथा भिन्न या अभिन्न नहीं मानते हैं किन्तु कार्य को कारण की अपेक्षा भिन्न और कारण रूप से अभिन्न मानते हैं। यह निर्णय हम युक्ति से नहीं किन्तु श्रुति, वेद वाक्य के आधार से करते हैं। क्योंकि वेद वाक्य भी कार्य को कार्य की अपेक्षा कारण से भिन्न और कारण रूप से अभिन्न मानते हैं।

इसी बात को अधिक स्पष्ट करते हुए आगे कहते है—

एवं हि वैदिकाः पश्यन्ति कार्यं चेदुत्पत्तेः प्रागत्यन्तमसद् भवेत् तदा कारणव्यापारेणापिनोत्पद्येत। नात्यन्तासच्छश्रृंगादयः कारणव्यापारेण कथंचिदुत्पत्तुं पारयन्ते 'सच्चेत् कृतं तत्र कारण-व्यापारेण' नहि सति कार्ये कारणव्यापारस्य कृत्यं किंचिद् विद्यते। तस्य पूर्वमेवसत्त्वात्। पुरस्तात् सतश्च परस्तादपि सत्त्वनियमेन विनाशोपि न स्यादित्यतः प्रागुत्पत्तेः कारणात्मना सद् भवदपि कार्यं कार्यात्मना भवत्य सदित्यभ्युपगन्तव्यम्।"

….यच्चेदं घटपटादि कार्यं कार्यात्मनाऽसद्भवद् कारणात्मना सदित्य-

---

१ छान्दोग्यो० ६।१।४
२ छान्दोग्यो० ३।१६।१
३ बृहदा० १।४।७
४ वेदान्तसूत्र, वैदिकी वृत्ति २।१।१४

म्युद्यते तदेव कार्यात्मना कारणदन्यत् भवत् कारणात्मना ततोऽनन्यदिति प्रणिगद्यते। कार्यमात्रेचैष समानश्चर्चः। तथा च वैदिकानामस्माकं कार्यात्मना कारणतोऽन्यद् भवदप्यस्ति प्रागुत्पत्ते कारणात्मना तदनन्यदिदं पृथिव्यादिकं कार्यं जगदिति ज्ञातव्यम्।[१]

अर्थात वैदिक दार्शनिक देखते हैं कि उत्पत्ति के पूर्व कार्य अत्यन्त असद् रूप है तो कारण व्यापार से भी उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। जैसे कि अत्यन्त असत् शशशृंग अनेक कारणों के मिलने पर भी उत्पन्न नहीं होते हैं। यदि वे सत् हैं तो वहाँ कारण का व्यापार सफल हो सकता है। कार्य के नहीं होने तक कारण व्यापार की आवश्यकता है, बाद में सत् है। सत् के नियम से विनाश होने पर भी नहीं होता है, अत. उत्पत्ति से पूर्व कारण के रूप में कार्य सत् होता है और कार्य के रूप में असत् होता है।""""यह घट आदि कार्य कार्यरूप में असत् होने पर भी कारण के रूप में सत् माने जाते हैं, इसीलिए कार्य से कारण अन्य होता है, ऐसा कहा जाता है। कार्य के लिए भी यही समझना चाहिये। उत्पत्ति से पूर्व यह पृथिवी आदि कार्य कारण से अन्य हैं।

कारण के रूप में जो पहले सत् है वही कार्य के रूप में असत् है। कारण का व्यापार होने पर भी किसी प्रकार से उत्पन्न नहीं होता है तो किसी भी रूप में उत्पत्ति से पूर्व सत् नहीं होता है। इसलिये किसी प्रकार का दोष नहीं है और कार्य कारण सदसत् रूप हैं।

न्यायग्रन्थ तत्त्व चिन्तामणि पर दीधिति टीका के रचयिता तार्किक रघुनाथ शिरोमणि ने भी स्पष्ट किया है कि वस्तु यदि स्वयं सत्वासत्व रूप को अंगीकार करती है तो उसका विरोध बृहस्पति भी नहीं कर सकते हैं। उक्त कथन निम्न प्रकार है—

यदि घटत्वेन पटो नास्तीति प्रत्ययः स्वरसवाही लोकाना तदा व्यधिकरण धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताभाव कारणं गीर्वाणगुरोरप्यशक्यम्।

अर्थात् घट रूप में पट नहीं, यह प्रतीति यदि लोक में है तो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगि जो अभाव (घटत्वेन पटो नास्ति—घटत्व रूप से पट नहीं है) है, उसे बृहस्पति भी नहीं हटा सकते हैं। इसी प्रकार से वृक्ष में कपि संयोग और कपिसंयोगाभाव इस प्रकार भाव और अभाव को अवच्छेदकभेद से एक स्थान पर दीधितिकार ने अन्यत्र भी माना है। उनका यह कथन अनेकांतवाद की सिद्धि के लिए पर्याप्त है।

---

१ वेदांत सूत्र, वैदिकी वृत्ति ३६७-६८

ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात् सर्वशक्तिमत्वात् महामायत्वाच्च प्रवृत्यप्रवृत्ती न विरुध्येते ।[१]

अर्थात् सांख्यमत में गुणत्रय की साम्यावस्था को प्रधान कहा है। इन गुणों के अतिरिक्त प्रधान का प्रवर्तक अथवा निवर्तक दूसरा कोई नहीं है। पुरुष सर्वथा उदासीन है, वह न किसी का प्रवर्तक है और न निवर्तक। तब तो प्रधान निरपेक्ष ठहरा, निरपेक्ष होने से उसका महदादि आकार से कदाचित् परिणत होना और कदाचित् परिणत न होना, यह व्यवस्था नहीं हो सकती है, यानी निरपेक्ष होने से प्रधान में प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति ये दोनों बातें सम्भव नहीं हो सकती हैं। परन्तु ईश्वर में यह दोष नहीं है, क्योंकि वह सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान है और उसकी माया अद्भुत है। उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही हैं। तात्पर्य यह है कि उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दोनों परस्पर विरोधी धर्म विद्यमान हैं।

शंकराचार्य के उक्त कथन का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि सांख्यदर्शन केवल प्रधान को जो जगत का कारण मानता है, वह उन्हें इष्ट नहीं है। उनका अभिमत है कि कारण में प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दोनों बातें होनी चाहिए, परन्तु प्रधान जड़ है, इसलिए उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दोनों बातें सम्भव नहीं हैं। यदि उसमें प्रवृत्ति—महदादि आकार से परिणत होना मानें तो निवृत्ति (साम्यरूप से अवस्थित रहना) उसमें सम्भव नहीं और निवृत्ति यदि स्वीकार करें तो फिर प्रवृत्ति की सम्भावना नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रवृत्ति-निवृत्ति ये दोनों आपस में विरोधी हैं, इनका एक स्थान पर रहना सम्भव बन नहीं सकता है। जगत के कारण रूप प्रधान में इन दोनों में से कोई एक रहेगा, इसलिए प्रधान को जगत का कारण नहीं मान सकते हैं। परन्तु ईश्वर के लिए यह बात नहीं है, उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दोनों ही रह सकते हैं, क्योंकि वह सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिवाला है और अपने में अद्भुत माया रखता है। इसलिए उसमें उक्त दोनों विरोधी धर्म भली-भाँति रह सकते हैं।

प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दोनों विरोधी धर्मों को प्रकृति में नहीं मानकर ईश्वर में स्वीकार करने के लिए शंकराचार्य ने अनेकान्तवाद का ही आश्रय लिया है। परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मों को सापेक्ष रूप से एक वस्तु में स्वीकार करना ही तो अनेकान्तवाद है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य में अनेक स्थलों पर अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर अपने मत को अभिव्यक्त किया है एवं उनका अनिर्वचनीय शब्द तो अनेकान्तवाद के आशय को ही स्पष्ट करता है। अनिर्वचनीय शब्द की व्याख्या इस प्रकार है—

१ ब्रह्मसूत्र शां० भा० २।२।४
२ ब्र० सू० शां० भा० १।१।४, १।३।१९, २।१।१४, ३।२।२१ तथा गी० शां० भा० १३।१२ बृहदा० उ० शां० भा० ३।५।१

अनिर्वचनीय अर्थात् जिसका निर्वचन न हो सके—भावरूप से अभाव रूप से अथवा भेद रूप से या अभेद रूप से – वर्णन न हो सके। शंकराचार्य ने माया के स्वरूप को अनिर्वचनीय[1] बताया है। वे माया अथवा प्रकृति को इस रूप में देखते हैं – तत्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये।

अर्थात् यह माया ब्रह्म से एकान्त भिन्न 'अन्य' नहीं है यानी स्वतन्त्र कोई वस्तु नहीं है, किन्तु एक प्रकार से यह ब्रह्म की ही आत्मभूत शक्ति है तथा यह माया परिणमनशील और जड़ रूप है, जबकि ब्रह्म अपरिणामी और चेतन है। इसलिए यह मायाशक्ति और ब्रह्म दोनों अभिन्न व एक भी नहीं हो सकते हैं एवं भिन्न-भिन्न भी नहीं और क्योंकि भेदाभेद का आपस में विरोध है, इसलिए अनिर्वचनीय है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि शंकराचार्य ने ब्रह्म की आत्मभूत इस माया शक्ति को ब्रह्म से एकान्तरूपेण भिन्न अथवा अभिन्न नहीं बताया किन्तु उसके एकान्त भेद और एकान्त अभेदस्वरूप का निषेध करके कथंचित भेदाभेद का ही बोध कराया है। यदि उसके इस भेदाभेदात्मक (अनेकान्त स्वरूप) का सर्वथा निषेध कर दिया जाये तो उसे किसी प्रकार से पदार्थ कहना या मानना एक भूल होगी और वह ब्रह्म की शक्ति[2] भी सिद्ध नहीं हो सकती है। माया की ब्रह्म के अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र सत्ता[3] नहीं किन्तु ब्रह्म की सत्ता में ही उसकी सत्ता है। अतः वह ब्रह्म का ही स्वरूप है। इस दृष्टि से ब्रह्म के साथ माया का अभेद है—माया और ब्रह्म दोनों एक रूप हैं और वह माया परिणामी व विकारी जगत का कारण होने से स्वयं विकृति और परिणति से युक्त[4] और जड़ है। जबकि ब्रह्म अविकारी और चेतनस्वरूप होने से इससे (माया से) विलक्षण है और इसी के आश्रय से ब्रह्म में जगत का कर्तृत्व है,[5] इसलिए ये दोनों

---

१ सर्वज्ञेश्वरस्यात्मभूत इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसार-प्रपंचबीजभूते सर्वज्ञेश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते।
—ब्रह्मसूत्र शां० भा० २।१।१४

२ प्रकृतिस्तु साम्यावस्थापन्न—सत्वरजस्तमोगुणमयी अव्याकृत नामरूपा पारमेश्वरी शक्तिः।
—वेदान्तपरिभाषा प्रथम परिच्छेद टीका

३ (क) नहि आत्मनोऽन्यत् अनात्मभूतं तत्...... अतो नामरूपे सर्वावस्थे ब्रह्मणैव आत्मवती...... इति ते तदात्मके उच्येते। —तै० उप० शां० भा० २।६।२
(ख) जड़प्रपंचस्यागन्तुक तथा स्वतः सत्ता भावात् इत्यादि। —उपदेश सहस्री

४ अचिन्त्य शक्तिर्मायैषा ब्रह्मण्यव्याकृताभिधा।
अविक्रिय ब्रह्मनिष्ठा विकारं यात्यनेकधा॥ —पंचदशी १३

५ परमेश्वराधीनात्वियमस्माभि प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते न स्वतन्त्रा सा चावश्य-मभ्युपगंतव्या। अर्थवती हि सा न हि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्व सिद्धयति शक्ति रहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्ते। —ब्र० सू० शां० भा० १।४।३

परस्पर विभिन्न हैं। इस दृष्टि से उसका भेद है। माया को ब्रह्म से यदि किसी प्रकार भी भिन्न माना जाये तो माया की भाँति ब्रह्म भी परिणामी व विकारी सिद्ध होगा तथा ब्रह्म की अपेक्षा विवर्त और माया की अपेक्षा परिणाम, इस प्रकार विवर्त और परिणाम को स्वीकार करना[1] भी इनके पारस्परिक भेद का ही बोधक है।

इसके अलावा 'अर्थवती हि सा' इत्यादि भाष्यगत लेख से उसमें किसी प्रकार से स्वतन्त्रता का भी बोध होता है। क्योंकि माया न हो तो ब्रह्म सृष्टि नहीं रच सकता है—नहि तयाविना परमेश्वरस्य स्रष्ट्त्वं नु सिद्ध्यति शक्ति सामर्थ्य के बिना वह कर भी क्या सकेगा—शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। इससे यह सिद्ध हुआ कि माया शक्ति की भी ब्रह्म से स्वतन्त्र सत्ता है और वह ब्रह्म से भिन्न भी है।

इस प्रकार माया में भेद अथवा अभेद दोनों ही प्रामाणिक रूप से उपलब्ध होते हैं और दोनों को स्वीकार करना योग्य है यानी भेद-अभेद दोनों बहुगत हैं, इसको स्वीकृत करना चाहिए।

अब रही परस्पर भेदाभेद के विरोध की बात? सो इसका उत्तर या तो माया दे सकेगी अथवा ब्रह्म ही, क्योंकि वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान परमात्मा की शक्ति है? उसने स्व-शक्तिभूत माया का इस प्रकार का स्वरूप क्यों बनाया कि वह माया ब्रह्म की आत्मभूत होते हुए भी उससे अलग और भिन्न होते हुए भी अभिन्न रूप से रहती है। अग्नि में प्रकाश और प्रताप क्यों है? इसका उत्तर यही होगा कि पदार्थों का स्वरूप ही ऐसा है कि वे अनेकानेक विरोधी धर्मों की सत्ता को सापेक्षतया अपने में धारण किये हुए हैं। माया रूप पदार्थ भी ऐसा ही है, यह भी अनेकानेक विरोधी धर्मों की सत्ता को सापेक्षतया अपने में धारण किये हुए है। भेद और अभेद के विषय में जो विरोध की सम्भावना की जाती है, वह केवल शाब्दिक है किन्तु आर्थिक नहीं है।

इस स्थिति में माया को अनिर्वचनीय क्यों कहा? इसका उत्तर यही है कि माया का एकान्ततया सर्वथा भाव रूप से या अभाव रूप से निर्वचन—कथन नहीं किया जा सकता है। इसीलिए उसे अनिर्वचनीय कहा गया है। इस प्रकार गम्भीरता से विचार करने पर माया की अनिर्वचनीयता में अनेकांतवाद का सम्पूर्णतया दर्शन होता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि अनिर्वचनीय शब्द अनेकांतवाद का ही समानार्थवाची शब्द है।

भास्कराचार्य

आपने महर्षि व्यास प्रणीत ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा है। उसमें आपने 'तत् समन्वयात्'[2] सूत्र के भाष्य में लिखा है—

---

१ अविद्यापेक्षया परिणामः चैतन्यापेक्षया विवर्तः। —वे० परि० भा० प्र० परिच्छेद
२ ब्रह्मसूत्र शा० भा० १।१।४

यदप्युक्तं भेदाभेदयोर्विरोध इति। तदभिधीयते अनिरूपित प्रमाण-प्रमेयतत्त्वस्येदं चोद्यम्—

एकस्यैकत्वमस्तीति प्रमाणादेवगम्यते।
नानात्वं तस्य तत्पूर्वं कस्माद् भेदोपि नेष्यते॥
तत्प्रमाणै: परिच्छिन्नमविरुद्धं हि तत्तथा।
वस्तुजातं गवाश्वादि भिन्नाभिन्नं प्रतीयते॥

अर्थात् ब्रह्म का जगत के साथ भेदाभेद मानने में जो यह कहा जाता है कि भेदाभेद का आपस में विरोध होने से वे दोनों एक स्थान में नहीं रह सकते हैं। लेकिन यह बात वही कह सकता है, जो प्रमाण, प्रमेयतत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ है। वस्तु में एकत्व जिस प्रमाण से हमें प्रतीत होता है, उसी से यदि उसमें नानात्व का भी भान हो तो फिर उसको क्यों न स्वीकार किया जाये? जो बात प्रमाण से सिद्ध है, उसमें विरोध की आशंका भी कैसी? प्रमाण द्वारा गो, अश्व आदि वस्तु में परस्पर भिन्नाभिन्न रूप से प्रतीत होती हैं।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए लिखा है—

नह्यभिन्नं भिन्नमेव वा क्वचित् केनचिद् दर्शयितुं शक्यते। सत्ता ज्ञेयत्व द्रव्यत्वादि सामान्यात्मना सर्वमभिन्नं व्यक्त्यात्मना तु परस्पर वैलक्षण्याद् भिन्नम्। तथा हि—

प्रतीयते तदुभयं विरोधः कोयमुच्यते।
विरोधे चाविरोधे च प्रमाणं कारणं मतम्॥
एकरूपं प्रतीतत्वात् द्विरूपं तत्तथेष्यताम्।
एकरूपं भवेदेकमितिनेश्वर भाषितम्॥

वस्तु एकान्त रूप से भिन्न अथवा अभिन्न रूप ही है, ऐसा कहीं पर भी कोई पुरुष दिखलाने में समर्थ नहीं हो सकता है। सत्ता ज्ञेयत्व और द्रव्यत्व आदि सामान्य रूप से सभी वस्तुएँ परस्पर में अभिन्न हैं तथा व्यक्ति रूप से उनमें भिन्नता है। इस प्रकार भेदाभेद उभय रूप से पदार्थों की प्रतीति होती है। इसमें विरोध क्या है? क्योंकि विरोध और अविरोध में प्रमाण ही तो कारण है। प्रमाण से जैसे वस्तु में एकत्व का भान होता है, वैसे ही उसमें अनेकत्व की प्रतीति होती है। एक वस्तु सदा एक रूप ही रहती है यह कथन किसी प्रकार से भी प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है।

उक्त कथन पर शंकाकार अपनी जिज्ञासा व्यक्त करता है कि—

ननु शीतोष्णयोर्यथा परस्परं विरोधस्तथा भेदाभेदयोः किमिदमुच्यते नास्ति विरोध इति?

जिस प्रकार शीत और उष्ण का आपस में विरोध होने से वे दोनो एक स्थान पर नही रहते, उसी प्रकार भेदाभेद मे भी विरोध है, अतः आप कैसे कहते हैं कि भेदाभेद को एक ही अवस्थान में रहने मे विरोध नही है ?

उक्त जिज्ञासा का समाधान यह है कि—

अत्रोच्यते—भवतः प्रज्ञापराधोयं न वस्तु विरोधः कथं सहानवस्थान छायातपवद् भिन्नदेशवर्तित्व च शीतोष्णवद् विरोधोनाम एतदुभयमिह कार्य-कारणयो ब्रह्म प्रपञ्चयोर्नास्ति तदुपपत्तेस्तत्रैवावस्थितेस्तत्रैव प्रलयात्।'''' ''''अतो भिन्नाभिन्न रूप ब्रह्मेति स्थितम्। संग्रह श्लोक—

> कार्यरूपेणनानात्वमभेदः कारणात्मना।
> हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मनाभिदा ॥इति॥[1]

यह अल्पज्ञताजन्य अपराध आपकी बुद्धि का है जो भेदाभेद मे आपको विरोध प्रतीत होता है, वस्तु का इसमें कोई दोष नहीं है। भेदाभेद का छाया और धूप की तरह विरोधी होना इत्यादि जो कथन किया जाता है वह कार्य-कारण का ब्रह्म प्रपच के लिये उपयुक्त नही है। क्योकि शीत-उष्ण, छाया-आतप मे अधिकरण की भिन्नता है और ब्रह्म-प्रपच रूप कार्य कारण मे वह नही है, अर्थात् वहाँ पर तो उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय-विनाश, इन तीनो का ही आधार ब्रह्म है''''''''इत्यादि। इसलिए ब्रह्म भिन्न और अभिन्न उभय रूप है, यह सिद्ध हो जाता है। क्योकि कार्य रूप से नानात्व—भेद और कारण रूप से एकत्व—अभेद ये दोनों अनुभवसिद्ध हैं। जैसे कि स्वर्ण रूपता की अपेक्षा तो कटक कुण्डल का आपस में अभेद है और कुण्डल, कटक आदि अवस्थाओं की अपेक्षा परस्पर भेद प्रत्यक्षसिद्ध है। इसी प्रकार ब्रह्म में भी भेदाभेद की सिद्धि अनिवार्य है।

उक्त कथन से यह भली-भांति स्पष्ट हो जाता है कि अपेक्षाभेद से भिन्ना-भिन्नता उभयरूपता भास्कराचार्य को स्वीकार है। इसकी स्वीकृति में वही कारण बताया है, जिसे अनेकान्तवाद की कथन शैली मे स्पष्ट किया जाता है। इसके सिवाय भी अन्य स्थानो पर भेदाभेद उभयरूपता की आपने चर्चा की है। जैसे—

> अधिक तु भेदनिर्देशात्।[2]

यथा चात्यन्त भिन्नो जीवो न भवति तथा वक्ष्यामः। ननु भेदाभेदौ कथं परस्पर विरुद्धौ सम्भवतां ? नैप दोषः—

> प्रमाणतश्चेत् प्रतीयेत को विरोधोऽयमुच्यते।
> विरोधे चाविरोधे च प्रमाणं कारणम् मतम् ॥

---

१ ब्रह्मसूत्र भास्कराचार्य, रचित भाष्य, पृ० १७-१८।
२ ब्रह्मसूत्र २।१।२२ व उसका भाष्य

अर्थात् यहाँ सूत्र में जो अधिक पद दिया गया है, वह भेद निर्देश करने के लिए है। इसका अभिप्राय है कि ब्रह्म से जीव अत्यन्त भिन्न नहीं होता है। यद्यपि भेदाभेद परस्पर विरुद्ध हैं किन्तु प्रमाण से ही उनकी प्रतीति होती है तो विरोध कैसे माना जा सकता है, क्योंकि विरोध और अविरोध का दिग्दर्शन कराने के लिए प्रमाण ही प्रमुख कारण है।

अन्यत्र एक और सूत्र के भाष्य में भी इसी प्रकार भेदाभेद को स्वीकार किया है—

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि[1]

'भेदाभेदरूपं ब्रह्मेति समधिगतं इदानीं भेदरूपं अभेदरूपं चोपास्यमुतोभयरूपं समस्तभेदमभिन्नं सल्लक्षणबोधरूपमुपास्यमित्यंशो विचार्यते।

सारांश यह है कि ब्रह्म भेदाभेद रूप है, यह समझ लिया। इसकी भेदरूप से उपासना करें या अभेदरूप से इसका विचार छोड़कर भेदाभेद रूप जो उसका बोधरूप लक्षण है, उसकी उपासना करनी चाहिए—इसका विचार करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रथम भाष्य पृष्ठ २६ और ६२ पर भी भेदाभेद का स्पष्ट समर्थन करते हुए कहा है—

यथा चेश्वरादन्यामन्यासमारित्वं जीवपदयोश्च भेदाभेदौ तयोस्तत्तत्त्वतो नाना व्यपदेशादिरेवमादौ विस्पष्टं वक्ष्याम।

भेदाभेदयोर्हि सर्वं प्रमाणं सिद्धत्वादुपपत्ति।

उक्त दोनों उद्धरणों में ब्रह्म-प्रपञ्च और जीव-ब्रह्म के भेदाभेद का स्पष्ट रूप में उल्लेख किया गया है। तथा—

युक्तेः शब्दान्तराच्च।[2]

अनन्यत्वं तद्वतोऽपि नात्यन्तभेदो नहि शुक्लपटयोर्धर्मधर्मिणो-रत्यन्तं भेदः किन्त्वेकमेव वस्तु नहि निर्गुणं नाम द्रव्यमस्ति नहि निर्द्रव्यो गुणोऽस्ति तयोरलब्धेः उपलब्धिश्च भेदाभेद व्यवस्थायां प्रमाणं प्रमाण-व्यवहारिणां। तथा कार्यकारणयोर्भेदाभेदावनुभूयेते अभेद धर्मश्च भेदो यथा महोदधेरभेदः स एव तरङ्गाद्यात्मना वर्तमानो भेद इत्युच्यते नहि तरङ्गादय. पाषाणादिषु दृश्यन्ते तस्यैव ता शक्तय शक्तिः शक्तिमतोऽनन्यत्वमन्यत्वं चोपलभ्यते। यथाग्नेर्दहनप्रकाशनादि शक्तयो भेदा- यथा च वायोः प्राणादि

१ ब्रह्मसूत्र ३।२।१२ व भाष्य

२ ब्रह्मसूत्र २।१।१८

वृत्ति भेदे न भेद । तस्मात् सर्वमेकानेकात्मकं जात्यन्तमभिन्नमभिन्नं वा। तदेवं प्रत्यक्षमनुमानागमश्चास्मत्पक्षे प्रमाणत्रयं त्वत्पक्षे न किंचिदस्तीति विशेषः।

अर्थात् अवस्था और अवस्था वाले का आपस में अत्यन्त भेद नहीं है। 'शुक्ल पट' यहाँ पर शुक्ल और पट रूप धर्म-धर्मी आपस में अत्यन्त भिन्न नहीं हैं, किन्तु एक हैं। संसार में कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं जो गुणविहीन हो और कोई गुण द्रव्य बिना का (स्वतन्त्र) नहीं, अपितु द्रव्य और गुण साथ ही उपलब्ध होते हैं। यह उपलब्धि ही भेदाभेद की व्यवस्थापक है तथा कार्य-कारण का भेदाभेद अनुभव सिद्ध है। अभेद स्वरूप ही भेद है। जैसे कि समुद्र रूप से जो जल का अभेद देखा जाता है, वही तरंग रूप से भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। तरंग आदि की पाषाणादि में उपलब्धि नहीं होती है, अतः वे सब जल की ही शक्तियाँ हैं। शक्ति और शक्तिमान् का भेदाभेद प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर है ही। इसलिए सभी पदार्थ एक और अनेक तथा परस्पर में न तो अत्यन्त भिन्न हैं और न अभिन्न किन्तु भिन्नाभिन्न हैं। इसको सिद्ध करने के लिए हमारे पास तो प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम यह तीन प्रमाण हैं, किन्तु आपके पास इसका निषेध करने के लिए कुछ भी नहीं है। इत्यादि।

इसके सिवाय भास्कराचार्य जीव-ब्रह्म के भेदाभेद को युक्तिसम्मत ही नहीं आगमसिद्ध भी कहते हैं। इस सम्बन्धी अपने विचारों को उन्होंने भाष्य में जिस प्रकार से स्पष्ट किया —

अत्रोच्यते यथैवेममेवाभेदं दर्शयति तथा पूर्वमुदाहृतं । आत्मनि तिष्टन्निति च भेदं दर्शयति किं न पश्यसि नह्यस्याः श्रुतेर्वचनेमुभगा वचनमिवानादरणीयम् प्रामाण्य तुल्यत्वात् अतो भेदाभेदो गृहीतव्यौ।

यह नहीं हो सकता कि स्त्री के वचन की तरह श्रुति वचन का भी अनादर कर दिया जाये। जबकि एक श्रुति अभेद का प्रतिपादन करती है और दूसरी भेद का, तब यह कहाँ का न्याय है कि एक को मानना और दूसरी का तिरस्कार करना। दोनों को ही स्वीकार करना चाहिए। इसलिए भेद और अभेद दोनों का ग्रहण करना उचित है।

भास्कराचार्य के उक्त सभी कथनों से अनेकांतवाद की सिद्धि होती है और स्पष्ट हो जाता है कि वे स्वयं अनेकांतवाद के प्रतिपादक, व्याख्याता, समर्थक जैसे हैं।

विज्ञानभिक्षु

भास्कराचार्य की भाँति आपने भी ब्रह्म-सूत्रों पर विज्ञानामृत नामक ग्रन्थ लिखा है। उसमें आप लिखते हैं—

शक्तिशक्तिमतोर्भेदं पश्यन्ति परमार्थतः।
अभेदं चानुपश्यन्ति योगिनस्तत्त्वचिन्तकाः॥

इति कूर्मनारदीय वाक्येनान्योन्याभाव सम्मिश्रण रूपयोर्भेदाभेदयोरेव पारमार्थिकत्व वचनाच्चेति। अतएवोक्तम्—

स एते भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकम्।
आत्मनोऽव्यतिरेकेण पश्यन्तो व्यचरन् महीम्॥

एवमेव कार्यकारणयोः धर्मधर्मिणोश्चोभयोरेव लक्षणभेद सत्वेपि सम्मिश्रणरूप एवाभेदो बोध्यः।[1]

अर्थात् 'तत्त्वचिन्तक योगी शक्ति और शक्तिमान का भेदाभेद देखते हैं।' इस कूर्मनारदीय पुराण के वाक्य से प्रतीत होता है कि भेदाभेद ही परमार्थ है। इसीलिए कहा गया है कि सद्सत् रूप विश्व-संसार भगवान का ही रूप है। इसी प्रकार कार्यकारण और धर्मधर्मी का लक्षणरूप भेद होने पर भी सम्मिश्रण रूप से अभेद है।

इसके बाद दूसरे स्थान पर आप लिखते हैं—

ब्रह्मसत्यमिति श्रुत्यैव स्पष्टमुक्तम्।

तथा—

चैतन्यापेक्षया प्रोक्तं व्योमादि सकलं जगत्।
असत्यं सत्यरूपं तु कुम्भकुण्डाद्यपेक्षया॥

इति स्कान्देऽप्युक्त श्रुति समानार्थके ब्रह्मण एव सत्यासत्यत्वं लब्धमिति।[2]

ब्रह्म सत्यं इत्यादि श्रुति ने ही स्पष्ट कहा है और श्रुति के समान ही स्कन्द पुराण में भी लिखा है—चैतन्य की अपेक्षा यह समस्त संसार असत् और घट कुण्ड आदि की अपेक्षा से सत् है। इससे ब्रह्म में सत्त्वत्व और असत्त्वत्व इन दोनों ही धर्मों की उपलब्धि प्रमाणित है।

उक्त कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि विज्ञान भिक्षु को अपेक्षा से पदार्थ में सत्त्वासत्त्व और भेदाभेद का सह-अवस्थान अभीष्ट है। अब भेदाभेद की सह-अवस्थिति के लिए जो विरोध का प्रदर्शन किया जाता है कि एक वस्तु में परस्पर विरुद्ध दो विरोधी धर्म कैसे रह सकते हैं। उसके लिए विज्ञान भिक्षु का समाधान इस प्रकार है—

---

१ विज्ञानामृत भाष्य, पृ० १११ (विद्या विलास प्रेस, वाराणसी)
२ विज्ञानामृत भाष्य, पृ० १६३

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।[1]

सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥[2]

संसार में जितनी भी विभूतियुक्त, कान्तियुक्त आदि वस्तुयें हैं वे सब मेरे अंश से उत्पन्न हुई हैं।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥[3]

मैं ही ब्रह्म का, अमृत का, अव्यय—मोक्ष का, शाश्वत धर्म का, सुख का आश्रय—मूलस्थान हूँ।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।[4]

इस जीव लोक में जितनी सनातन जीव आत्मायें हैं, वे सब मेरी ही अंश हैं।

उक्त कतिपय उद्धरणों को देखने से यह विदित होता है कि गीता में आदि से लेकर अन्त तक अधिकतर परमात्मा के व्यक्त रूप का वर्णन किया गया है, जिससे कुछ लोगों ने यह मत प्रगट किया है कि गीता में परमात्मा का व्यक्त रूप ही अन्तिम साध्य है। किन्तु इसके साथ ही श्रीकृष्ण के मुख से यह भी कहलाया है कि मेरा यह व्यक्त रूप मायिक है और उससे परे जो अव्यक्त रूप है, वही मेरा वास्तविक स्वरूप है। जिसको यह संसारी मूढ़ जीव नहीं जान पाता है।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यते मामबुद्धयः ।
.... ॥
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥[5]

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि परमेश्वर का श्रेष्ठ स्वरूप व्यक्त नहीं किन्तु अव्यक्त है। इन दोनों स्थितियों में अब यह विचार करना है कि परमात्मा का उक्त श्रेष्ठ अव्यक्त स्वरूप सगुण है या निर्गुण। सगुण अव्यक्त के लिए तो हमारे सामने सांख्यदर्शन मान्य प्रकृति का उदाहरण है जो अव्यक्त (इन्द्रियों से अगोचर) होने पर भी सगुण अर्थात् सत्त्व-रज-तम त्रिगुणमय है। इसी प्रकार से परमात्मा का

---

१ गीता १०।२०
२ गीता १०।४१
३ गीता १४।२७
४ गीता १५।७
५ गीता ७।२४-२५

अव्यक्त और श्रेष्ठ रूप भी सगुण माना जाये। जिससे वह अव्यक्त परमात्मा व्यक्त-सृष्टि का निर्माण करे, चाहे फिर वह अपनी माया के द्वारा ही क्यों न करे। जैसे कि—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥[1]

हे अर्जुन ! शरीररूप यन्त्र में आरूढ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी माया से उनके कर्मों के अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियों के हृदय में स्थित है।

इससे यही बात सिद्ध होती है कि वह अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों के अगोचर भले ही हो, तथापि वह सदा, कर्तृत्वादि गुणों से युक्त अर्थात् सगुण अवश्य होगा। परन्तु इसके विरुद्ध श्रीकृष्ण ऐसा भी कहते हैं—मुझे कर्मों का अर्थात् गुणों का कभी स्पर्श नहीं होता है।[2] प्रकृति के गुणों से मोहित होकर मूर्ख लोग आत्मा को (स्वयं को) ही कर्ता मानते हैं।[3] अथवा वह अव्यय, अकर्ता परमेश्वर ही प्राणियों के हृदय में जीवन रूप से निवास करता है फिर भी वह प्राणियों के कर्तृत्व और कर्म से वस्तुतः अलिप्त है।[4] तो भी अज्ञान में फँसे हुए जीव मोहित हो जाया करते हैं।[5] इत्यादि कथनों से यह स्पष्ट होता है कि अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों से अगोचर परमेश्वर के सगुण और निर्गुण ये दो रूप तो हैं ही तथा इनके अतिरिक्त कहीं-कहीं पर इन दोनों रूपों को एक मिलाकर भी अव्यक्त परमेश्वर का वर्णन किया गया है। जैसे कि—

भूतभृन्न च भूतस्थो।[6]

मैं भूतों का आधार होकर भी उनमें नहीं हूँ।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।[7]

वह अनादि मान परमब्रह्म न तो सत् कहा जा सकता है और न असत्।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥

---

१ गीता १८।६१
२ गीता ४।१४ (न मां कर्माणि लिम्पन्ति)
३ प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥—गीता ३।२७
४ गीता १३।३१-३२
५ अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।—गीता ५।१५
६ गीता ६।५
७ गीता १३।१२

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥[१]
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥[२]

वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषय को जानने वाला होने पर भी वास्तव में सब इन्द्रियों से रहित है, आसक्ति रहित होने पर भी सबका धारण-पोषण करने वाला और निर्गुण होने पर भी गुणों को भोगने वाला है।

वह सब भूतों के अन्दर बाहर परिपूर्ण है, वह चर भी है और अचर भी। सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है तथा अति समीप और दूर भी वही स्थित है।

वह परमात्मा विभाग रहित होने पर भी सम्पूर्ण भूतों में विभक्त प्रतीत होता है तथा सम्पूर्ण भूतों का धारण-पोषण, संहार और उत्पन्न करने वाला है।

हे अर्जुन ! मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ और सत् असत् भी मैं ही हूँ।

इस प्रकार से गीता के उक्त उद्धरणों में परमेश्वर को परस्पर विरुद्ध धर्मों का अवस्थान मानकर अपेक्षाभेद से दोनों का समन्वय किया गया है। जिससे प्रतीत होता है कि गीताकार को ब्रह्म का एकान्त स्वरूप मान्य नहीं है किन्तु व्यक्त-अव्यक्त, सगुण-निर्गुण, सगुण-निर्गुण उभय, अमृत-मृत्यु, सत्-असत् आदि रूप से स्वीकार्य है। इन सब विरोधी धर्मों का समन्वय अनेकान्तवादात्मक कथन शैली के द्वारा ही किया जा सकता है।

उपनिषद्

गीता के कथनों का अनुसरण उपनिषदों में भी किया गया है।

तदेजति तन्नैजति तत् दूरे तद्वान्तिके।[३]

वह हिलता भी है और हिलता भी नहीं है, वह दूर भी है और समीप भी है।

अणोरणीयान् महतो महीयान्।[४]

अणु से भी छोटा और महत् (बड़े) से भी बड़ा है। अथवा 'सर्वेन्द्रिय गुणाभास' होकर भी 'सर्वेन्द्रिय विवर्जित' है।[५]

---

१ गीता १३।१४, १५, १६
२ गीता ९।१९
३ ईशा ४।१।१।७
४ कठो० २।२०
५ श्वेता० ३।१७

उपर्युक्त वचनों से यह प्रगट होता है कि उपनिषदों मे भी परमात्मा के स्वरूप को व्यक्त-अव्यक्त आदि रूप से उभयात्मक माना है। इसी तरह भागवत में भी उभय-रूपता को स्वीकार किया गया है।

ब्रह्म या परमात्मा के स्वरूप विषयक भगवद्गीता और उपनिषदों के उक्त संकेतों का सारांश यह है कि वहाँ प्रतिद्वन्द्वात्मक शब्दों में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है और अपेक्षाभेद से ब्रह्म में उक्त सभी विरोधी गुणों का समावेश किया जा सकता है। इसी प्रकार से पुराणों मे भी अपेक्षावाद सिद्धान्त की स्पष्ट प्रतीति कराई गई है—

> ब्रह्मैकं मूर्तिभेदस्तु गुणभेदेन सन्ततम्।
> तद्ब्रह्म द्विविधं वस्तु सगुण निर्गुणं तथा॥
> मायाश्रितो यः सगुणो मायातीतश्च निर्गुणः।
> स्वेच्छामयश्च भगवानिच्छया विकरोति च॥
> इच्छाशक्तिश्च प्रकृतिः सर्वशक्तिः प्रभुः सदा।
> तत्र सक्तश्च सगुणः सशरीरी च प्राकृतः॥
> निर्गुणस्तत्र निर्लिप्तः अशरीरी निरंकुशः।
> सर्वात्मा भगवान्नित्यः सर्वाधारः सनातनः॥
> सर्वेश्वरः सर्वसाक्षी सर्वत्रास्ति फलप्रदः।
> शरीरं द्विविधं शम्भोर्नित्यं प्राकृतमेव च॥
> नित्यं विनाशरहितं नश्वरं प्राकृतं सदा।[1]

अर्थात् ब्रह्म यद्यपि एक है परन्तु गुणभेद से उसके स्वरूप में भेद है। इससे ब्रह्मरूप वस्तु दो प्रकार की है—एक सगुण और दूसरी निर्गुण। जो माया संयुक्त ब्रह्म है वह सगुण कहलाता है और मायारहित को निर्गुण कहते हैं। संसार को उत्पन्न करने वाली, भगवान की इच्छा-शक्ति ही प्रकृति है जो भगवान से भिन्न नहीं है। उस प्रकृति से संयुक्त हुआ भगवान सगुण, शरीरी अथवा प्राकृत कहलाता है। उसमें निर्लिप्त हुआ वह निर्गुण, अशरीरी और निरंकुश-स्वतन्त्र माना जाता है। परमात्मा के नित्य और प्राकृत ये दो स्वरूप हैं। उनमें जो नित्य शरीर है वह तो अविनाशी-विनाशरहित है और प्राकृत का विनाश हो जाता है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण का उक्त उद्धरण तो स्पष्ट ही ईश्वर को सगुण-निर्गुण, शरीरी-अशरीरी, नित्य और प्राकृत रूप से बोधन करता हुआ उसमें अनेकरूपता को सिद्ध कर रहा है। यह सिद्धि अपेक्षाकृत और भेद का आश्रय लिए बिना नहीं हो सकती है। जो सगुण है, वह निर्गुण कैसे ? जो शरीरी है, वह अशरीरी कैसे कहा जा

---

१ ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्ण खण्ड, अध्याय ४३।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥[१]
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥[२]

वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषय को जानने वाला होने पर भी वास्तव में इन्द्रियों से रहित है, आसक्ति रहित होने पर भी सबका धारण-पोषण करने वाला और निर्गुण होने पर भी गुणों को भोगने वाला है।

वह सब भूतों के अन्दर बाहर परिपूर्ण है, वह चर भी है और अचर भी। सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है तथा अति समीप और दूर भी वही स्थित है।

वह परमात्मा विभाग रहित होने पर भी सम्पूर्ण भूतों में विभक्त प्रतीत होता है तथा सम्पूर्ण भूतों का धारण-पोषण, संहार और उत्पन्न करने वाला है।

हे अर्जुन ! मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ और सत् असत् भी मैं ही हूँ।

इस प्रकार से गीता के उक्त उद्धरणों में परमेश्वर को परस्पर विरुद्ध धर्मों का अवस्थान मानकर अपेक्षाभेद से दोनों का समन्वय किया गया है। जिससे प्रतीत होता है कि गीताकार को ब्रह्म का एकान्त स्वरूप मान्य नहीं है किन्तु व्यक्त-अव्यक्त, सगुण-निर्गुण, सगुण-निर्गुण उभय, अमृत-मृत्यु, सत्-असत् आदि रूप से स्वीकार्य है। इन सब विरोधी धर्मों का समन्वय अनेकान्तवादात्मक कथन शैली के द्वारा ही किया जा सकता है।

उपनिषद्

गीता के कथनों का अनुसरण उपनिषदों में भी किया गया है।

तदेजति तन्नैजति तत् दूरे तद्वान्तिके।[३]

वह हिलता भी है और हिलता भी नहीं है, वह दूर भी है और समीप भी है।

अणोरणीयान् महतो महीयान्।[४]

अणु से भी छोटा और महत् (बड़े) से भी बड़ा है। अथवा 'सर्वेन्द्रिय गुणाभासं' होकर भी 'सर्वेन्द्रिय विवर्जितं' है।[५]

---

१ गीता १३।१४, १५, १६
२ गीता ९।१९
३ ईशा ५।३।१।७
४ कठो० २।२०
५ श्वेता० ३।१७

उपर्युक्त वचनों से यह प्रकट होता है कि उपनिषदों में भी परमात्मा के स्वरूप को व्यक्त-अव्यक्त आदि रूप में उभयात्मक माना है। इसी तरह भागवत में भी उभय-रूपता को स्वीकार किया गया है।

ब्रह्म या परमात्मा के स्वरूप विषयक भगवद्गीता और उपनिषदों के उक्त श्लोकों का सारांश यह है कि वहाँ अनेकान्तात्मक शब्दों में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है और अपेक्षाभेद से ब्रह्म में उक्त सभी विरोधी गुणों का समावेश किया जा सकता है। इसी प्रकार से पुराणों में भी अनेकान्तवाद सिद्धान्त की स्पष्ट प्रतीति करायी गई है—

> ब्रह्मैव प्रकृतिभेदस्तु गुणभेदेन सन्ततम्।
> तद्ब्रह्म द्विविधं वस्तु सगुणं निर्गुणं तथा॥
> मायाश्रितो यः सगुणो मायातीतश्च निर्गुणः।
> स्वेच्छामयश्च भगवानिच्छया विकरोति च॥
> इच्छाशक्तिश्च प्रकृतिः सर्वशक्तिः प्रभुः सदा।
> तत्र संसक्तश्च सगुणः सशरीरी च प्राकृतः॥
> निर्गुणश्चात्र निर्लिप्तः अशरीरी निरंकुशः।
> स्वात्मा भगवान्नित्यः सर्वाधारः सनातनः॥
> सर्वेश्वरः सर्वसाक्षी सर्वशान्ति फलप्रदः।
> शरीरं द्विविधं तस्योनित्यं प्राकृतमेव च॥
> नित्यं विनाशरहितं नश्वरं प्राकृतं सदा।[1]

अर्थात् ब्रह्म यद्यपि एक है परन्तु गुणभेद से उसके स्वरूप में भेद है। इसके स्वरूप भी दो प्रकार की हैं—एक सगुण और दूसरी निर्गुण। जो माया संयुक्त ब्रह्म है वह सगुण कहलाता है और मायारहित को निर्गुण कहते हैं। संसार को उत्पन्न करने वाली, भगवान की इच्छा-शक्ति ही प्रकृति है जो भगवान से भिन्न नहीं है। उस प्रकृति से संयुक्त हुआ भगवान सगुण, शरीरी अथवा प्राकृत कहलाता है। उससे निर्लिप्त हुआ वह निर्गुण, अशरीरी और निरंकुश-स्वतन्त्र माना जाता है। परमात्मा के नित्य और प्राकृत ये दो स्वरूप हैं। उनमें जो नित्य शरीर है वह तो अविनाशी-विनाशरहित है और प्राकृत का विनाश हो जाता है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण का उक्त उद्धरण तो स्पष्ट ही ईश्वर को सगुण-निर्गुण, शरीरी-अशरीरी, नित्य और प्राकृत रूप से बोधन करता हुआ उसमें अनेकरूपता को सिद्ध कर रहा है। यह सिद्धि अपेक्षावाद और भेद का आश्रय लिए बिना नहीं हो सकती है। जो सगुण है, वह निर्गुण कैसे? जो शरीरी है, वह अशरीरी कैसे कहा जा

---

१ ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्ण खण्ड, अध्याय ४३।

> बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
> सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥
> अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
> भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥[१]
> अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥[२]

वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषय को जानने वाला होने पर भी वास्तव में सब इन्द्रियों से रहित है, आसक्ति रहित होने पर भी सबका धारण-पोषण करने वाला और निर्गुण होने पर भी गुणों को भोगने वाला है।

वह सब भूतों के अन्दर बाहर परिपूर्ण है, वह चर भी है और अचर भी। सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है तथा अति समीप और दूर भी वही स्थित है।

वह परमात्मा विभाग रहित होने पर भी सम्पूर्ण भूतों में विभक्त प्रतीत होता है तथा सम्पूर्ण भूतों का धारण-पोषण, संहार और उत्पन्न करने वाला है।

हे अर्जुन ! मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ और सत् असत् भी मैं ही हूँ।

इस प्रकार से गीता के उक्त उद्धरणों में परमेश्वर को परस्पर विरुद्ध धर्मों का अवस्थान मानकर अपेक्षाभेद से दोनों का समन्वय किया गया है। जिससे प्रतीत होता है कि गीताकार को ब्रह्म का एकान्त स्वरूप मान्य नहीं है किन्तु व्यक्त-अव्यक्त, सगुण-निर्गुण, सगुण-निर्गुण उभय, अमृत-मृत्यु, सत्-असत् आदि रूप से स्वीकार्य है। इन सब विरोधी धर्मों का समन्वय अनेकान्तवादात्मक कथन शैली के द्वारा ही किया जा सकता है।

उपनिषद्

गीता के कथनों का अनुसरण उपनिषदों में भी किया गया है।

> तदेजति तन्नैजति तत् दूरे तद्वान्तिके।[३]

वह हिलता भी है और हिलता भी नहीं है, वह दूर भी है और समीप भी है।

> अणोरणीयान् महतो महीयान्।[४]

अणु से भी छोटा और महत् (बड़े) से भी बड़ा है। अथवा 'सर्वेन्द्रिय गुणाभासं' होकर भी 'सर्वेन्द्रिय विवर्जितं' है।[५]

---

१ गीता १३।१४, १५, १६
२ गीता ९।१९
३ ईशा ५।३।१।७
४ कठो० २।२०
५ श्वेता० ३।१७

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥[१]
अमृत चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥[२]

वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषय को जानने वाला होने पर भी वास्तव में सब इन्द्रियों से रहित है, आसक्ति रहित होने पर भी सबका धारण-पोषण करने वाला और निर्गुण होने पर भी गुणों को भोगने वाला है।

वह सब भूतों के अन्दर बाहर परिपूर्ण है, वह चर भी है और अचर भी। सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है तथा अति समीप और दूर भी वही स्थित है।

वह परमात्मा विभाग रहित होने पर भी सम्पूर्ण भूतों में विभक्त प्रतीत होता है तथा सम्पूर्ण भूतों का धारण-पोषण, संहार और उत्पन्न करने वाला है।

हे अर्जुन ! मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ और सत् असत् भी मैं ही हूँ।

इस प्रकार से गीता के उक्त उद्धरणों में परमेश्वर को परस्पर विरुद्ध धर्मों का अवस्थान मानकर अपेक्षाभेद से दोनों का समन्वय किया गया है। जिससे प्रतीत होता है कि गीताकार को ब्रह्म का एकान्त स्वरूप मान्य नहीं है किन्तु व्यक्त-अव्यक्त, सगुण-निर्गुण, सगुण-निर्गुण उभय, अमृत-मृत्यु, सत्-असत् आदि रूप से स्वीकार्य है। इन सब विरोधी धर्मों का समन्वय अनेकान्तवादात्मक कथन शैली के द्वारा ही किया जा सकता है।

उपनिषद्

गीता के कथनों का अनुसरण उपनिषदों में भी किया गया है।

तदेजति तन्नैजति तत् दूरे तद्वान्तिके।[३]

वह हिलता भी है और हिलता भी नहीं है, वह दूर भी है और समीप भी है।

अणोरणीयान् महतो महीयान्।[४]

अणु से भी छोटा और महत् (बड़े) से भी बड़ा है। अथवा 'सर्वेन्द्रिय गुणाभासं' होकर भी 'सर्वेन्द्रिय विवर्जितं' है।[५]

---

१ गीता १३।१४, १५, १६
२ गीता ९।१९
३ ईशा ५।३।१।१७
४ कठो० २।२०
५ श्वेता० ३।१७

उपर्युक्त वचनों से यह प्रकट होता है कि उपनिषदों में भी परमात्मा के स्वरूप को व्यक्त-अव्यक्त आदि रूप से उभयात्मक माना है। इसी तरह भागवत में भी उभयरूपता को स्वीकार किया गया है।

ब्रह्म या परमात्मा के स्वरूप विषयक *भगवद्गीता* और उपनिषदों के उक्त कथनों का सारांश यह है कि वहाँ प्रतिद्वन्द्वात्मक शब्दों में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है और अपेक्षाभेद से ब्रह्म में उक्त सभी विरोधी गुणों का समावेश किया जा सकता है। इसी प्रकार से पुराणों में भी अपेक्षावाद सिद्धान्त की स्पष्ट प्रतीति कराई गई है—

ब्रह्मैकः मूर्तिभेदस्तु गुणभेदेन सन्ततम्।
तद्ब्रह्म द्विविधं वस्तु सगुण निर्गुण तथा॥
मायाश्रितो यः सगुणो मायातीतश्च निर्गुणः।
स्वेच्छामयश्च भगवानिच्छया विकरोति च॥
इच्छाशक्तिश्च प्रकृतिः सर्वशक्तिः प्रभुः सदा।
तत्र सक्तश्च सगुणः सशरीरी च प्राकृतः॥
निर्गुणस्तत्र निर्लिप्तः अशरीरी निरंकुशः।
सत्यात्मा भगवान्नित्यः सर्वाधारः सनातनः॥
सर्वेश्वरः सर्वसाक्षी सर्वत्रास्ति फलप्रदः।
शरीरं द्विविधं शम्भोर्नित्यं प्राकृतमेव च॥
नित्यं विनाशरहितं नश्वरं प्राकृतं सदा।[1]

अर्थात् ब्रह्म यद्यपि एक है परन्तु गुणभेद से उसके स्वरूप में भेद है। इससे ब्रह्मरूप वस्तु दो प्रकार की है—एक सगुण और दूसरी निर्गुण। जो माया संयुक्त ब्रह्म है वह *सगुण कहलाता है और मायारहित को निर्गुण कहते हैं। संसार को* उत्पन्न करने वाली, भगवान की इच्छा-शक्ति ही प्रकृति है जो भगवान से भिन्न नहीं है। इस प्रकृति से संयुक्त हुआ भगवान सगुण, शरीरी अथवा प्राकृत कहलाता है। इसमें निर्लिप्त हुआ वह निर्गुण, अशरीरी और निरंकुश-स्वतन्त्र माना जाता है। *परमात्मा के नित्य और प्राकृत ये दो स्वरूप हैं।* उनमें जो *नित्य शरीर है वह तो* अविनाशी-विनाशरहित है और प्राकृत का विनाश हो जाता है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण का उक्त उद्धरण तो स्पष्ट ही ईश्वर को सगुण-निर्गुण, शरीरी-अशरीरी, नित्य और प्राकृत रूप से बोधन करता हुआ उसमें अनेकरूपता को सिद्ध कर रहा है। यह सिद्धि अपेक्षाकृत और भेद का आश्रय लिए बिना नहीं हो सकती है। जो सगुण है, वह निर्गुण कैसे? जो शरीरी है, वह अशरीरी कैसे कहा जा

---

१ ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्ण खण्ड, अध्याय ४३।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥[१]
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥[२]

यह सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषय को जानने वाला होने पर भी वास्तव में सब इन्द्रियों से रहित है, आसक्ति रहित होने पर भी सबका धारण-पोषण करने वाला और निर्गुण होने पर भी गुणों को भोगने वाला है।

वह सब भूतों के अन्दर बाहर परिपूर्ण है, वह चर भी है और अचर भी। सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है तथा अति समीप और दूर भी वही स्थित है।

वह परमात्मा विभाग रहित होने पर भी सम्पूर्ण भूतों में विभक्त प्रतीत होता है तथा सम्पूर्ण भूतों का धारण-पोषण, संहार और उत्पन्न करने वाला है।

हे अर्जुन ! मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ और सत् असत् भी मैं ही हूँ।

इस प्रकार से गीता के उक्त उद्धरणों में परमेश्वर को परस्पर विरुद्ध धर्मों का अवस्थान मानकर अपेक्षाभेद से दोनों का समन्वय किया गया है। जिससे प्रतीत होता है कि गीताकार को ब्रह्म का एकान्त स्वरूप मान्य नहीं है किन्तु व्यक्त-अव्यक्त, सगुण निर्गुण, सगुण-निर्गुण उभय, अमृत-मृत्यु, सत्-असत् आदि रूप से स्वीकार्य है। इन सब विरोधी धर्मों का समन्वय अनेकान्तवादात्मक कथन शैली के द्वारा ही किया जा सकता है।

उपनिषद्

गीता के कथनों का अनुसरण उपनिषदों में भी किया गया है।

तदेजति तन्नैजति तत् दूरे तद्वान्तिके।[३]

वह हिलता भी है और हिलता भी नहीं है, वह दूर भी है और समीप भी है।

अणोरणीयान् महतो महीयान्।[४]

अणु से भी छोटा और महान् (बड़े) से भी बड़ा है। अथवा 'सर्वेन्द्रिय गुणाभासं' होकर भी 'सर्वेन्द्रिय विवर्जितं' है।[५]

---

१ गीता १३।१४, १५, १६
२ गीता ९।१९
३ ईशा ५।३।१।७
४ कठो० २।२०
५ श्वेता० ३।१७

> बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
> सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥
> अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
> भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥[१]
> अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥[२]

वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषय को जानने वाला होने पर भी वास्तव में सब इन्द्रियों से रहित है, आसक्ति रहित होने पर भी सबका धारण-पोषण करने वाला और निर्गुण होने पर भी गुणों को भोगने वाला है।

वह सब भूतों के अन्दर बाहर परिपूर्ण है, वह चर भी है और अचर भी। सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है तथा अति समीप और दूर भी वही स्थित है।

वह परमात्मा विभाग रहित होने पर भी सम्पूर्ण भूतों में विभक्त प्रतीत होता है तथा सम्पूर्ण भूतों का धारण-पोषण, संहार और उत्पन्न करने वाला है।

हे अर्जुन ! मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ और सत् असत् भी मैं ही हूँ।

इस प्रकार से गीता के उक्त उद्धरणों में परमेश्वर को परस्पर विरुद्ध धर्मों का अवस्थान मानकर अपेक्षाभेद से दोनों का समन्वय किया गया है। जिससे प्रतीत होता है कि गीताकार को ब्रह्म का एकान्त स्वरूप मान्य नहीं है किन्तु व्यक्त-अव्यक्त, सगुण-निर्गुण, सगुण-निर्गुण उभय, अमृत-मृत्यु, सत्-असत् आदि रूप से स्वीकार्य है। इन सब विरोधी धर्मों का समन्वय अनेकान्तवादात्मक कथन शैली के द्वारा ही किया जा सकता है।

उपनिषद्

गीता के कथनों का अनुसरण उपनिषदों में भी किया गया है।

> तदेजति तन्नैजति तत् दूरे तद्वान्तिके।[३]

वह हिलता भी है और हिलता भी नहीं है, वह दूर भी है और समीप भी है।

> अणोरणीयान् महतो महीयान्।[४]

अणु से भी छोटा और महत् (बड़े) से भी बड़ा है। अथवा 'सर्वेन्द्रिय गुणाभासं' होकर भी 'सर्वेन्द्रिय विवर्जितं' है।[५]

---

१ गीता १३।१४, १५, १६
२ गीता ९।१९
३ ईशा ५।३।१।७
४ कठो० २।२०
५ श्वेता० ३।१७

होता हुआ उसका त्याग नहीं कर सकता है उसी प्रकार मोक्ष दशा में भी वह [illegible] से किसी भी प्रकार से पृथक् नहीं हो सकता है। इससे मोक्ष का भी [illegible] हो जायेगा।

न्यायदर्शन के सिद्धान्त की दृष्टि का उल्लेख करते हुए टीकाकार [illegible] हैं कि जो नैयायिक सत्त्व के धर्मभूत कर्तृत्व आदि गुणों को आत्मा में [illegible] स्वीकार करते हैं, उनके मत में भी मोक्ष की उपपत्ति नहीं हो सकती है। [illegible] वास्तविक-स्वाभाविक धर्मों का धर्मी के नाश के बिना कभी विनाश नहीं हो [illegible] है। कर्तृत्व आदि धर्म यदि आत्मा में स्वभावसिद्ध हैं तो उनका आत्मा के नाश बिना कभी नाश नहीं होगा।[1] जिससे मोक्ष का होना—आत्मा को कर्तृत्व आदि [illegible] से मुक्ति मिलना—असम्भव हो जायेगा। अतएव सत्त्व और पुरुष में [illegible] से पृथक्त्व भाव—भेद और सहजत्व—अभेद दोनों को ही मानना यथार्थ है। [illegible] प्रकार इनमें एकत्व और नानात्व को स्वीकार करना भी युक्तिसंगत है। जिस प्र[illegible] उदम्बर फल (गूलर का फल) में रहने वाला, उसी में उत्पन्न हुआ मशक ([illegible] छोटा-सा जीव) उससे भिन्न और अभिन्न है, उसी प्रकार सत्त्व और पुरुष भी [illegible] भिन्न और अभिन्न हैं। इत्यादि।

उक्त कथन से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत के [illegible] को प्रकृति और पुरुष का सापेक्ष भेदाभेद ही अभीष्ट है और इसी को वह [illegible] समझते हैं। एकान्त भेद अथवा अभेद उसे ग्राह्य नहीं है। इसलिए महाभारत में [illegible] किसी न किसी अंश में अनेकान्तवाद का समर्थन किया गया है।

मनुस्मृति

यह अन्य स्मृतियों की अपेक्षा अधिक प्राचीन और महत्त्वपूर्ण मानी जाती है [illegible] सभी स्मृतियों में प्रधान है। इसके महत्त्व के बारे में छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है—'यन्मनुरवदत्तद्भेषजं भेषजतायाः—जो कुछ मनु ने कहा है वह औषधि-रूप है।' उक्त स्मृति में भी अनेकान्तवाद का स्पष्ट विधान पाया जाता है। एक उदाहरण [illegible] होगा—

> अनार्यमार्यकर्माणमार्यं चानार्यकर्मिणम्।
> सम्प्रधार्याब्रवीद्धाता न समौ नासमाविति॥[2]

अर्थात् आर्य-अनार्य कर्मों का और आर्य अनार्य कर्म-करने वालों के [illegible] विचार करके ब्रह्मा ने कहा कि ये दोनों न तो समान हैं और न असमान। [illegible] दोनों सर्वथा एक भी नहीं हैं और सर्वथा भिन्न भी नहीं हैं।

---

1. आत्मा का कभी नाश न होने से उसके स्वभावभूत कर्तृत्व आदि गुण भी [illegible] नष्ट नहीं होंगे।
2. मनुस्मृति १०।७३

उक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार श्री कुल्लूक भट्ट लिखते हैं—

शूद्रं द्विजाति कर्मकारिणं द्विजातिं च शूद्र कर्मकारिणं ब्रह्मा विचार्य 'न समौ नासमौ' इत्यवोचत्। यतः शूद्रोद्विजाति कर्माणि, न द्विजाति समः तस्यानधिकारिणो द्विजाति कर्माचरणेऽपि तत्साम्याभावात् एवं शूद्र कर्माणि द्विजातिर्न शूद्रसम निषिद्धसेवनेन जात्युत्कर्षस्यानपायात्। नाप्यसमौ निषिद्धाचरणेनोभयो साम्यात्।

द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिए जिन कर्मों का विधान किया गया है, उनका आचरण करने वाला शूद्र और शूद्रोचित कर्मों का सेवन करने वाला द्विजाति इन दोनों के बारे में विचार करके ब्रह्मा ने कहा कि ये दोनों (आर्य-अनार्य, द्विजाति-शूद्र) आपस में न तो समान हैं और न असमान हैं। क्योंकि द्विजाति का कर्म करने पर भी शूद्र द्विजाति नहीं हो सकता एवं शूद्रोचित कर्म करने पर भी द्विजाति शूद्र नहीं बन जाता है। इस अपेक्षा से ये दोनों सम अर्थात् एक नहीं हो सकते हैं किन्तु दोनों निषिद्ध का आचरण कर रहे हैं अतः ये असम अर्थात् भिन्न भी नहीं हैं।

इसका यह अर्थ हुआ कि ये दोनों किसी अपेक्षा से समान और किसी दृष्टि से असमान भी हैं, किन्तु एकान्ततः ये न सम हैं और न असम हैं। मनुस्मृति के उक्त श्लोक से जो प्रकाश पड़ता है, वह स्पष्ट है कि सम और असम दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म होने पर भी अपेक्षाभेद से यथावसर कथन किया जाता है।

वेद, उपनिषद् आदि को प्रमाण मानने वाले सांख्य योग-आदि दर्शनों में अनेकांतवाद की कथन प्रणाली का दिग्दर्शन कराने के बाद अवशेष रहे अवैदिकदर्शन— बौद्धदर्शन की अनेकान्तवादात्मक दृष्टि के बारे में विचार करते हैं।

बौद्धदर्शन में स्याद्वाद

बौद्धदर्शन का परिचय

बुद्ध की मान्यता बौद्धदर्शन कहलाता है। जैनधर्म में वर्णित १४ गुणस्थानों की भाँति बौद्धधर्म में भी १० पारमिताएँ (भूमिकायें) मानी गई हैं। जैनधर्म के अनुसार जैसे तेरहवें गुणस्थान में पहुँचने पर जीव जिन (अरिहंत) बनता है, वैसे ही बौद्धधर्म के अनुसार दसवीं बोधिसत्व भूमि में जाने के बाद जीव बुद्ध (सर्वज्ञ) बनता है। बौद्धदर्शन को सुगतदर्शन भी कहते हैं। विपश्यी, शिखी, विश्वभू, क्रकुच्छन्द, कांचन, काश्यप और शाक्यसिंह ये सात सुगत बौद्धों ने माने हैं। बुद्धों के कंठ तीन रेखाओं से चिह्नित होते हैं। अन्तिम बुद्ध ने मगध देश में कपिलवस्तु नामक ग्राम में जन्म लिया था। इनके पिता का नाम शुद्धोदन और माता का नाम मायादेवी था। ये गौतम गोत्रीय थे—अतः गौतम बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनका जन्म समय ईसा पूर्व छठी शताब्दी है। गौतम बुद्ध का विवाह यशोधरा नामक राजकुमारी के साथ हुआ था। एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ जिसका नाम राहुल था। किसी एक दिन

संसार की विषमताओं और क्षण-भंगुरता आदि को देखकर इन्हें वैराग्य हुआ और रात्रि के समय पत्नी व नवजात पुत्र एवं परिवारीजनों को बिना कुछ बताये चुपचाप तपस्या के लिये घरबार छोड़ दिया। छह वर्षों तक घोर तपस्या की किन्तु सफलता नहीं मिली। आखिर बोधगया में बोधि पाकर बुद्ध बने। उस समय उनकी आयु ३५ वर्ष की थी। सर्वप्रथम इन्होंने सारनाथ में और फिर उत्तर भारत में ४४ वर्षों तक घूम-घूमकर उपदेश दिया एवं अपना धर्म-प्रचार किया।

बुद्ध ने सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा, मैत्री और त्याग से परिपूर्ण जीवन बिताया। वैशाखी पूर्णिमा को उनका जन्म हुआ था, उसी दिन बुद्धत्व प्राप्त हुआ और ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में इसी वैशाखी पूर्णिमा के दिन इनका निर्वाण हुआ।

तथागत बुद्ध ने तीन तत्त्व माने हैं—स्कन्ध, आयतन और धातु। स्कन्ध के रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान ये पाँच भेद हैं।

पृथ्वी आदि चार महाभूत रूप कहलाते हैं। चेतन या मन को विज्ञान, सुख दुःख आदि के अनुभव को वेदना, स्मृति या अभिज्ञान (पहचान) को संज्ञा तथा मन पर रही छाप या वासना को संस्कार कहते हैं।

आयतन के बारह भेद हैं—स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियाँ, मन और इन छहों के विषय।

धातु के अठारह भेद हैं—आयतन के बारह भेद (मन सहित छह इन्द्रिय और उनके छह विषय) तथा इन्द्रियों और विषयों के सम्पर्क से होने वाले छह विज्ञान (चक्षुविज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान और मनोविज्ञान)।

विश्व की सभी वस्तुयें—स्कन्ध, आयतन, धातु इन तीनों में से किसी एक प्रक्रिया में बाँटी जा सकती हैं। इन तत्त्वों का विवेचन करके बुद्ध ने चार आर्य सत्यों का प्रतिपादन किया है—दुःख, समुदाय, मार्ग और निरोध।

दुःख—परिवर्तनशील स्कन्धों का नाम दुःख है। रूप आदि पाँच स्कन्ध हैं। दुःख का दूसरा नाम हेय है।

समुदाय—जिसके द्वारा राग आदि विकारों का उदय होता है। ममत्व भाव का कारण समुदाय कहलाता है। समुदाय को हेय, दुःखहेतु भी कहते हैं।

मार्ग—विश्व की सभी वस्तुएँ चाहे वे जड़ हों या चेतन, प्रतिक्षण बदलने वाली हैं, क्षणिक हैं। इस प्रकार का ज्ञान होना मार्ग (मोक्ष का मार्ग) है। यह अष्टांग रूप है—सम्यग्दृष्टि, संकल्प, वचन, कर्म, आजीविका, व्यायाम, स्मृति, समाधि। इसे हानोपाय (मोक्ष का उपाय) भी कह दिया जाता है।

निरोध—सम्यग्ज्ञान द्वारा दुःख के कारणों को पूर्णतया रोक देना निरोध, मोक्ष या निर्वाण है। इसका नाम हान भी है।

बौद्धधर्म की मूल दो शाखायें हैं—(१) हीनयान और (२) महायान। हीनयान की दो उपशाखायें हैं—(१) वैभाषिक और (२) सौत्रान्तिक। महायान भी दो उप-विभागों में विभक्त है—(१) योगाचार और (२) माध्यमिक।

वैभाषिक—ये त्रिपिटकों में बताये हुए सभी तत्त्वों को प्रमाण तथा वस्तु को क्षणिक और आत्मसंतानपरम्परा के उच्छेद को मोक्ष मानते हैं।

सौत्रान्तिक—इनकी मान्यता के अनुसार वस्तुओं की प्रामाणिकता का निश्चय अनुमान प्रमाण से होता है। निर्विकल्प होने से प्रत्यक्ष प्रमाण वस्तु की प्रामाणिकता का निश्चय नहीं करवा पाता है।

योगाचार—ये संसार की सभी वस्तुओं को मिथ्या कहते हैं। आत्मा का ज्ञान ही सत्य है, किन्तु वह भी एकान्त क्षणिक है।

माध्यमिक—ये समस्त वस्तुओं का शून्य रूप कहते हैं। शून्य के बारे में बताया गया है कि वह न सत् है, न असत् है, न सदसत् है और न अवक्तव्य है। वह इन सभी विकल्पों से परे है। आत्मा या बाह्य पदार्थ सभी मिथ्या, कल्पित और भ्रम रूप हैं।

बौद्ध साहित्य मूलतः सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक इन तीन पिटक ग्रन्थों में है। सुत्तपिटक में बौद्ध सिद्धान्त और कहानियाँ हैं। विनयपिटक में बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों के नियम बताये गये हैं। अभिधम्मपिटक में तत्त्व ज्ञान की चर्चा है।

बौद्ध भिक्षु चामर रखते हैं, मुण्डन करवाते हैं, चर्म का आसन और कमण्डलु रखते हैं। घुटनों तक गेरुआ रंग का वस्त्र पहनते हैं। ये लोग स्नान आदि विशेष करते हैं तथा भिक्षा में प्राप्त मांस को भी स्वीकार कर लेते हैं। ये लोग जीवों की दया पालने के लिये भूमि को बुहार कर चलते हैं और ब्रह्मचर्य आदि क्रियाओं में दृढ़ रहते हैं। बौद्धमत में धर्म, बुद्ध और संघ इन तीन को रत्न, और सम्पूर्ण विघ्नों को नाश करने वाली तारा को देवी स्वीकार किया गया है। भिक्षु-भिक्षुणी 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि' इस मंगल पद का १०८ मनकों की माला पर जाप किया करते हैं।

बौद्धदर्शन का परिचय देने के अनन्तर अब बौद्ध साहित्य में आगत अनेकान्तवाद सम्बन्धी उल्लेखों का दिग्दर्शन कराते हैं।

बौद्धदर्शन में अनेकान्तवाद को किस रूप में अपनाया है, यह 'आगमकालीन स्याद्वाद' के प्रसंग में बतलाया जायेगा कि तथागत बुद्ध ने अपने आपको विभज्यवादी कहकर अनेक प्रश्नों के उत्तर विभज्यवाद के आधार पर दिये हैं जिससे वे अनेकान्तवाद के निकटतम पहुँचे। लेकिन शाश्वतवाद और उच्छेदवाद को एक एक अन्त मानकर उनका समन्वय नहीं कर सके। अतः उससे दूर भी रहे, फिर भी इतना

स्पष्ट है कि उन्होंने तात्त्विक विषयों की व्याख्या और व्यवस्था के लिए अंशतः [illegible] अवलोकन अवश्य ही लिया है।

त्रिपिटकों में स्याद्वाद सम्बन्धी यत्किंचित् स्थल देखने में आते हैं और [illegible] वर्ती बौद्ध दार्शनिकों ने भी किसी न किसी रूप में अनेकान्तवाद का आश्रय ले[illegible] अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। त्रिपिटकों में आए हुए वर्णन का तो उल्लेख [illegible] कालीन स्याद्वाद में किया जायगा। यहाँ तो अन्य बौद्ध विद्वानों के कथनों [illegible] उपस्थित करते हैं।

आचार्य नागार्जुन

सौत्रांतिक और वैभाषिक बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार तो प्रत्येक पदार्थ [illegible] सत्ता वाला है और उसकी प्रतीति में क्षणिकत्व उसके साथ मिला हुआ है। [illegible] पदार्थ समूह-सन्तान अथवा प्रवाहरूप में नित्य और प्रत्येकरूप से क्षणिक-अनित्य है। विज्ञानवादी योगाचार का आलयविज्ञान भी विकारीनित्य अथवा परिणामी[illegible] पदार्थ होने से कथंचित् नित्यानित्य ही सिद्ध होता है। यह कथन जैनदर्शन के [illegible] कांतवाद (नित्यानित्यत्ववाद) का असंदिग्ध रूप से समर्थन करता है। इसके सिवा माध्यमिक मत—शून्यवाद के प्रधान आचार्य नागार्जुन ने बुद्ध के वास्तविक [illegible] को प्रगट करते हुए माध्यमिक कारिका के प्रारम्भ में जो कारिका लिखी है [illegible] अनेकांतवाद की ही पुष्टि होती है—

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्॥
य प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपंचोपशमं शिवम्।
देशयामास संबुद्धस्तं वन्दे द्विपदांवरम्॥

शिवरूप परमतत्त्व का उपदेश करने वाले सर्वश्रेष्ठ बुद्ध भगवान [illegible] नमस्कार हो, परमतत्त्व उत्पत्ति और विनाश वाला भी नहीं है, तथा उसको नि[illegible] अथवा स्थिर भी कह सकें, ऐसा नहीं है एवं अस्थिर अथवा विनाशशील भी नहीं है और उसे एक अथवा अनेक भी नहीं कह सकते हैं एवं वह गमागम (आना [illegible] जाना) से भी रहित है। तात्पर्य यह है कि उक्त छह विकल्प में से एकान्तरूप [illegible] भी विकल्प परमतत्त्व में सघटित नहीं हो सकता है। अपेक्षाभेद के द्वारा ही [illegible] सभी विकल्प इसमें ग्राह्य माने जा सकते हैं।

इसके सिवाय माध्यमिक कारिका का एक और पाठ देखिये जिसमें नागार्जुन बुद्ध के उपदेश का सार बतलाते हुए लिखते हैं।

आत्मेत्यपि प्रज्ञपितमनात्मेत्यपि देशितम्।
बुद्धैर्नात्मा नचानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम्॥

अर्थात् बुद्ध ने आत्मा है ऐसा उपदेश किया है और अनात्मा है ऐसा [illegible] भी किया है एवं आत्मा भी नहीं और अनात्मा भी नहीं, ऐसा भी कहा है।

उक्त कारिकाओं द्वारा बुद्ध के उपदेश के बारे में जो संकेत किया गया है उसकी सङ्गति अपेक्षावाद के सिद्धांत का अनुसरण किये बिना कभी नहीं हो सकती है। मूल में जो आत्मा है, अनात्मा है आदि का उल्लेख अनेकान्तवाद का आह्वान कर रहा है तथा परमतत्त्व के विषय में—'वह स्थिर भी नहीं, अस्थिर भी नहीं, नित्य भी नहीं और अनित्य भी नहीं'—इत्यादि जो कुछ निर्देश किया है वह भी निषेध रूप से अनेकांतवाद के निषेध पक्ष का समर्थक है। इन शब्दों का यही अर्थ है कि परमतत्त्व एकान्तरूप से नित्य, अनित्य आदि नहीं है। उक्त छह विकल्पों की एकान्त सत्ता का निषेध करना ही बुद्ध को अभीष्ट है। इसका सार यह निकला कि तत्त्व कथन के लिए बौद्धदर्शन में अनेकांतवाद का अवलम्बन लिया गया है। क्योंकि अनेकांतवाद का अवलम्बन लिए बिना वह तत्त्व विचार करने में पूर्णरूपेण असमर्थ है।

इस अध्याय में भारतीय दर्शनों के इतिहास में जैनदर्शन की अनोखी देन स्याद्वाद—अनेकान्तवाद को भारतीय दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थों में कहां और किस रूप में स्थान दिया है, इत्यादि बातों का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया है जिससे यह स्पष्ट है कि अनेकान्तवाद यथार्थ रूप से वस्तुस्वरूप का निर्णय करने वाला सुनिश्चित सिद्धांत है। क्योंकि अनुभव और स्वयं वस्तु का स्वरूप ही एकांतत्व का निषेध करके अनेकांतत्व की व्यवस्था कर रहा है। इसीलिए दर्शनान्तरों में कहीं स्पष्ट रूप से कहीं अस्पष्ट रूप से और कहीं प्रकारान्तर से इसे मान्यता प्राप्त हुई है जिससे यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि अनेकांतवाद—अपेक्षावाद जैनदर्शन का मुख्य सिद्धांत तो है ही, अन्य दर्शनों ने भी इसे अपनाया है, इसी कारण यह कहना उचित है कि—

स्याद्वादं सार्वतांत्रिकम्। □

श्री जैनदर्शनमिति प्रथितोग्ररश्मिः

भस्मी भवन्निखिल दर्शन-विज्ञान पक्षदोषः ।

स्याद्वाद भानुकलितो बुधवन्द्यो

भिन्दन्तमो विमतिजं विजयाय भूयात् ॥

5

स्याद्वाद : सापेक्षवाद

पूर्व में किये गये विवेचन से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि स्याद्वाद भारतीय दर्शनों की एक संयोजक कड़ी और जैन-दर्शन का केन्द्र बिंदु है। इसके बीज आज से हजारों वर्ष पूर्व भगवान महावीर की दिव्य देशना से संभाषित जैन आगमों में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, द्रव्य, गुण, पर्याय, सप्तनय आदि विविध रूपों में यत्रतत्र विद्यमान थे। इनको आचार्य सिद्धसेन, समन्तभद्र आदि महान् मनीषी जैन दार्शनिकों ने सप्तभंगी आदि के रूप में पल्लवित करके एक व्यवस्थित रूप दिया। तदनन्तर अनेक आचार्यों ने अपनी विद्वत्तापूर्ण भाषा और शैली में अगाध वाङ्मय रचा, जो स्याद्वाद के अन्तरंहस्य को स्पष्ट करते हुए उसके गौरव का परिचय देता है।

जैनदर्शन का यही स्याद्वाद सिद्धांत विज्ञान के क्षेत्र में सापेक्षवाद के नाम से अवतरित हुआ है। यह वैज्ञानिक जगत् को बीसवीं सदी की एक महान देन माना जाता है। विज्ञान के क्षेत्र में सापेक्षवाद सिद्धांत के आविष्कर्ता सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो० अलबर्ट आईन्स्टीन हैं, जिन्हें पाश्चात्य देशों में सर्वसम्मति से संसार का सबसे अधिक कुशाग्र बुद्धिशाली व्यक्ति माना गया है। उन्होंने सन् १९०५ में 'सीमित सापेक्षता' शीर्षक एक निबन्ध लिखा था जो 'भौतिक शास्त्र का वर्ष पत्र' नामक जर्मनी की पत्रिका में प्रकाशित हुआ। इस निबन्ध के प्रकाशित होने से वैज्ञानिक जगत में एक अजीब हलचल मच गई। अनन्तर सन् १९१६ के बाद उन्होंने अपने सिद्धांत को व्यापक रूप दिया, जिसका नाम था—'असीम सापेक्षता'। आईन्स्टीन के इस अपेक्षावाद के सिद्धांत ने तत्कालीन वैज्ञानिकों के मस्तिष्कों में उथल-पुथल मचा दी थी। उसने विज्ञान की बहुत-सी बद्धमूल धारणाओं एवं अभी तक निश्चित किये गये नियमों पर प्रहार कर एक नया मानदण्ड स्थापित किया। न्यूटन के समय से वैज्ञानिक जगत में प्रभुत्व जमाकर बैठे हुए गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत का आसन डोल उठा और देश-काल की धारणाओं ने भी एक नया रूप ग्रहण किया।

दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में उद्भूत विरोधों के बावजूद अपनी निर्दोषिता एवं मौलिकता के कारण जैसे स्याद्वाद तत्त्व-चिन्तन का अभीष्ट सिद्धांत मान लिया गया,

5

स्याद्वाद : सापेक्षवाद

पूर्व में किये गये विवेचन से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि स्याद्वाद भारतीय दर्शनों की एक संयोजक कड़ी और जैन-दर्शन का केन्द्र बिंदु है। इसके बीज आज से हजारों वर्ष पूर्व भगवान महावीर की दिव्य देशना से संभावित जैन आगमों में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, द्रव्य, गुण, पर्याय, सप्तनय आदि विविध रूपों में यत्रतत्र विद्यमान थे। इनको आचार्य सिद्धसेन, समन्तभद्र आदि महान् मनीषी जैन दार्शनिकों ने सप्तभंगी आदि के रूप में पल्लवित करके एक व्यवस्थित रूप दिया। तदनन्तर अनेक आचार्यों ने अपनी विद्वत्तापूर्ण भाषा और शैली में अगाध वाङ्मय रचा, जो स्याद्वाद के अन्तर्रहस्य को स्पष्ट करते हुए उसके गौरव का परिचय देता है।

जैनदर्शन का यही स्याद्वाद सिद्धांत विज्ञान के क्षेत्र में सापेक्षवाद के नाम से अवतरित हुआ है। यह वैज्ञानिक जगत् को बीसवीं सदी की एक महान देन माना जाता है। विज्ञान के क्षेत्र में सापेक्षवाद सिद्धांत के आविष्कर्ता सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो० अलबर्ट आईन्स्टीन है, जिन्हें पाश्चात्य देशों में सर्वसम्मति से संसार का सबसे अधिक कुशाग्र बुद्धिशाली व्यक्ति माना गया है। उन्होंने सन् १९०५ में 'सीमित सापेक्षता' शीर्षक एक निबन्ध लिखा था जो 'भौतिक शास्त्र का वर्ष पत्र' नामक जर्मनी की पत्रिका में प्रकाशित हुआ। इस निबन्ध के प्रकाशित होने से वैज्ञानिक जगत में एक अजीब हलचल मच गई। अनन्तर सन् १९१६ के बाद उन्होंने अपने सिद्धांत को व्यापक रूप दिया, जिसका नाम था—'असीम सापेक्षता'। आईन्स्टीन के इस अपेक्षावाद के सिद्धांत ने तत्कालीन वैज्ञानिकों के मस्तिष्कों में उथल-पुथल मचा दी थी। इसने विज्ञान की बहुत-सी बद्धमूल धारणाओं एवं अभी तक निश्चित किये गये नियमों पर प्रहार कर एक नया मानदण्ड स्थापित किया। न्यूटन के समय से वैज्ञानिक जगत में प्रभुत्व जमाकर बैठे हुए गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत का आसन डोल उठा और देश-काल की धारणाओं ने भी एक नया रूप ग्रहण किया।

दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में उद्भूत विरोधों के बावजूद अपनी निर्दोषिता एवं मौलिकता के कारण जैसे स्याद्वाद तत्त्व-चिन्तन का अभीष्ट सिद्धांत मान लिया गया,

वैसे ही बहुत से विरोधों के पश्चात् गणित-सिद्धता के कारण आज वैज्ञानिक
सापेक्षवाद निर्विवाद रूप से एक नया आविष्कार मान लिया गया है। दोनों
अपने क्षेत्र में निर्बाध गति से सम्माननीय हैं। इसीलिये दार्शनिक क्षेत्र में
स्याद्वाद सिद्धांत और वैज्ञानिक जगत् में नवोदित सापेक्षवाद का तुलनात्मक
यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

नामसाम्य

यह पहले ही बताया जा चुका है कि 'स्याद्' और 'वाद' दो शब्दों के
मिलने से स्याद्वाद की रचना हुई। 'स्यात्' संस्कृत भाषा का एक अव्यय है, जिस
अर्थ होता है—'किसी अपेक्षा से', 'किसी प्रकार से' अर्थात् वस्तुतत्त्व के निर्णय में
वाद अपेक्षा की प्रधानता पर आधारित है वह स्याद्वाद कहलाता है। वैसे ही
हम सापेक्षवाद का अक्षरशः अनुवाद करते हैं तो वह होता है—अपेक्षा का
सापेक्षवाद अंग्रेजी शब्द Theory of Relativity का हिन्दी अनुवाद है और
रूपरेखा, विज्ञान हस्तामलक आदि हिन्दी ग्रन्थों में इसे सापेक्षवाद या अपेक्षावाद
कहा है। वास्तव में अपेक्षावाद का भी वही शाब्दिक अर्थ है जो स्याद्वाद का है—
'अपेक्षया सहित सापेक्षं' अर्थात् अपेक्षाओं सहित जो वह सापेक्ष है और
वाद सापेक्षवाद है। इस प्रकार यदि स्याद्वाद को सापेक्षवाद और सापेक्षवाद
स्याद्वाद कहा जाय तो शाब्दिक दृष्टि से कोई अनुचित प्रतीत नहीं होता है।
लिये हिन्दी लेखकों ने जैसे 'थियरी ऑफ रिलेटीविटी' का अनुवाद सापेक्षवाद
वैसे ही सर राधाकृष्णन् आदि अंग्रेजी लेखकों ने अपने ग्रंथों में स्याद्वाद का
अनुवाद 'थियरी ऑफ रिलेटीविटी'[1] किया है। इस प्रकार दो विभिन्न क्षेत्रों में
प्रारम्भ हुए दो सिद्धान्तों के नामों की समानता एक महान् कुतूहल एवं
उत्पन्न करती है।

दोनों सहज व कठिन

स्याद्वाद और सापेक्षवाद दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में सहज भी हैं और
कठिन भी। सबसे पहले हम स्याद्वाद को ही ले लें कि इसकी जटिलता
है। स्याद्वाद सिद्धान्त से अपरिचित जैनेतर दिग्गज विद्वानों ने अपने-अपने
जब और जहाँ इसकी समालोचना का प्रयास किया, वहाँ उनकी समालोचनाएँ
स्वयं इस बात की साक्षी देती हैं कि उन्होंने स्याद्वाद सिद्धान्त की मौलिकता
समझा ही नहीं।

स्याद्वाद के बारे में उसकी जटिलता के कारण यद्यपि ऐसे विवेचनों की
सत्ता यत्र-तत्र दीख पड़ती है जिससे मालूम पड़ता है कि अच्छे से अच्छे
उसके मूल आशय को समझने में असफल रहे हैं और अन्तर्रहस्य को न समझने के
कारण उसे एक काल्पनिक चिन्तन मान लिया है, लेकिन इस जटिलता को भी

---

1 इण्डियन फिलॉसफी, पृ० ३०५

आचार्यों ने इतना सहज एवं सरल बना दिया है कि साधारण से साधारण जन भी स्याद्वाद के हार्द तक पहुँच सकते हैं।

वस्तु के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए कहा गया कि वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। अब आचार्यों के सामने यह प्रश्न आया कि एक ही वस्तु में उत्पाद (उत्पत्ति), व्यय (विनाश) और ध्रुवता जैसे परस्पर विरोधी धर्म एक साथ कैसे ठहर सकते हैं? क्योंकि उत्पत्ति और विनाश परस्पर एक-दूसरे के विरोधी हैं। उन दोनों का एक साथ एक ही समय में रहना सम्भव नहीं है और जब उत्पत्ति व विनाश का क्रम बराबर चालू है, तब वस्तु को ध्रुव कैसे माना जा सकता है? तो स्याद्वादी आचार्यों ने इस स्थिति का समाधान करते हुए कहा—एक सुनार सोने का कलश तोड़कर स्वर्ण-मुकुट बना रहा था, तभी उसके पास तीन ग्राहक आये। उनमें से एक को स्वर्ण कलश चाहिये था, दूसरे को स्वर्ण मुकुट और तीसरे को केवल स्वर्ण। सुनार की प्रवृत्ति को देखकर पहले को दुःख हुआ कि यह स्वर्ण कलश को तोड़ रहा है। दूसरे को हर्ष हुआ कि यह मुकुट तैयार कर रहा है। तीसरा व्यक्ति मध्यस्थ रहा उसे न हर्ष हुआ न विषाद क्योंकि उसे तो सोना चाहिये था। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक ही स्वर्ण में उसी समय एक विनाश देख रहा है, एक उत्पत्ति और एक ध्रुवता देख रहा है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव में त्रिगुणात्मक है।

उक्त स्थिति को और अधिक सरलता से स्पष्ट करने के लिए आचार्यों ने आगे कहा है—यही गोरस दूधरूप से नष्ट हुआ, दधिरूप में उत्पन्न हुआ और गोरस रूप में स्थिर रहा। जो पयोव्रती है, वह दधि (दही) को नहीं खाता है, दधि-व्रती पय (दूध) नहीं पीता है और गोरस-त्यागी दोनों को नहीं खाता-पीता है।[1] ये विरुद्ध धर्मों की सकारण स्थितियाँ हैं। इसीलिये वस्तु में नाना अपेक्षाओं से अनेक विरोधी धर्म रहते ही हैं।

वस्तु में सब विरोधी धर्मों को अविरोध रूप से विद्यमान रहने और स्याद्वाद शैली द्वारा सरलता से समझाने के लिए आचार्यों ने अनेक उदाहरण दिये हैं। जैसे कि किसी आदमी ने पूछा आपका स्याद्वाद क्या है? तो उत्तर में आचार्यों ने कनिष्ठा व अनामिका अंगुलियों को सामने करते हुए कहा—'दोनों में बड़ी अंगुली कौन सी है?' उत्तर मिला—'अनामिका बड़ी है' और जब कनिष्ठा को सिकोड़कर और मध्यमा को फैलाकर पूछा—'अब बताओ कि दोनों अंगुलियों में छोटी कौन-सी है?' उत्तर मिला—अनामिका। इस पर आचार्यों ने कहा—'यही हमारा स्याद्वाद

---

१ उत्पन्नं दधिभावेन नष्टं दुग्धतया पयः।
गोरसत्वात् स्थिरं जानन् स्याद्वादद्विड् जनोऽपि कः॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात् वस्तु –

है जो तुम एक ही अंगुली को बड़ी भी कहते हो और छोटी भी। अंगुली में छोटापन और बड़ापन अपेक्षा दृष्टि से आया है।' स्याद्वाद विभिन्न अपेक्षाओं को लेकर एक ही वस्तु में अनेक धर्मों का अवस्थान मानता है, न कि एक ही दृष्टि से। आपेक्षिक दृष्टि से वस्तु स्वरूप का कथन करना ही स्याद्वाद की सहज गम्यता है।

सापेक्षवाद की भी ठीक यही स्थिति है। इसमें देशकाल की सापेक्षता को मुख्य माना जाता है लेकिन गणित की बहुत सारी पहेलियों के कारण जटिल तो यह इतना बन गया है कि बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी इसको सम्पूर्णतया समझने-समझाने में चक्कर खा जाते हैं। यहाँ देश और काल सम्बन्धी सापेक्षता को समझाने के लिए स्वयं प्रो० आईन्स्टीन के शब्दों को प्रस्तुत करना उचित है। एक स्थान पर वे लिखते हैं—'जिस किसी घटना के बारे में हम कहते हैं कि यह घटना आज या अभी हुई है सकता है कि वह घटना हजारों वर्ष पूर्व हुई हो, जैसे—एक दूसरे से लाखों प्रकाश वर्ष की दूरी पर चक्करदार नीहारिकाओं (क, ख) में विस्फोट हुआ और वहाँ से नये तारे उत्पन्न हुए। इन नीहारिकाओं में उपस्थित दर्शकों के लिए अपने वहाँ की घटना तत्काल हुई मालूम होगी, किन्तु दोनों के बीच लाखों प्रकाश वर्ष की दूरी होने से 'क' का दर्शक 'ख' की घटनाओं को एक लाख वर्ष बाद घटित हुई कहेगा, और दूसरा दर्शक अपनी घटना को तत्काल और 'क' की घटना को एक लाख वर्ष पूर्व घटित होने वाली बतायेगा। इस प्रकार विस्फोट का परमार्थ काल नहीं, सापेक्ष काल ही बताया जा सकता है।'

प्राकृतिक स्थितियों के बारे में प्रो० आईन्स्टीन का अपेक्षाप्रधान कथन इस प्रकार है कि 'प्रकृति ऐसी है कि किसी भी प्रयोग के द्वारा चाहे वह कैसा भी क्यों न हो, वास्तविक स्थिति का निर्णय असम्भव ही है।' ऐसा क्यों है? इसके उत्तर के लिए सर जेम्स के शब्द पथ-प्रदर्शक हो सकते हैं—'गति और स्थिति आपेक्षिक शब्द हैं। एक जहाज जो स्थित है, वह पृथ्वी की अपेक्षा से ही स्थिर है, किन्तु पृथ्वी सूर्य की अपेक्षा से गति में है और जहाज भी इसके साथ। यदि पृथ्वी भी सूर्य के चारों ओर घूमने से रुक जाये तो जहाज सूर्य की अपेक्षा स्थिर हो जायेगा। किन्तु ऐसे उस समय भी आसपास के तारों की अपेक्षा गति करते रहेंगे। सूर्य भी यदि गति-शून्य हो जाये तो भी यह दूर स्थित नीहारिकाओं की अपेक्षा से गतिशील ही दिखेंगे। आकाश में इस प्रकार यदि हम लोग आगे-से-आगे जायेंगे तो हमें पूर्ण स्थिर कोई वस्तु नहीं मिलेगी।'

इस प्रकार से सापेक्षवाद विज्ञान के क्षेत्र में देशकाल की अपेक्षाओं को स्पष्ट बनाता है, लेकिन जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि गणित सम्बन्धी दुरूहता की दुरूहता के कारण इसको सरलता से थोड़े से शब्दों में अभिव्यक्त नहीं कर सकते हैं। यह सरल भी है और जटिल भी है, लेकिन दोनों स्थितियों में अनुभूति ही हो सकती है, अभिव्यक्ति नहीं।

सापेक्षवाद की जटिलता के बहुत से उदाहरणों में से एक उदाहरण यह भी है जो साधारणतया बुद्धिगम्य भी नहीं हो रहा है कि यदि दो मनुष्यों की भेंट कुछ काल के बाद हुई हो तो उन दो भेंटों के बीच का अन्तर एक ही (समान ही) होना चाहिए। यह एक दृष्टिकोण से सत्य है और एक से नहीं। यह सब इस बात पर निर्भर है कि वे दोनों घर पर ही रहे हों या उनमें से कोई एक विश्व के किसी दूर भाग की यात्रा करके इसी बीच में आया हो।[१]

सापेक्षवाद की जटिलता का एक और उदाहरण है जिसे प्रो० मैक्सवोर्न ने अत्यन्त विनोदपूर्ण ढंग से समझाया है। वे लिखते हैं—'मेरा एक मित्र एक बार किसी डिनर पार्टी में गया। उसके पास बैठी किसी महिला ने कहा—'प्राध्यापक महोदय! क्या आप थोड़े से शब्दों में यह बताने का कष्ट करेंगे कि वास्तव में सापेक्षवाद क्या है?' उसने विस्मित मुद्रा में उत्तर दिया—'क्या तुम चाहोगी कि उससे पूर्व मैं तुम्हें एक कहानी सुना दूं। मैं एक बार अपने एक फ्रांसीसी मित्र के साथ सैर करने के लिये गया। चलते-चलते हम दोनों प्यासे हो गये। इतने में हम एक खेत पर आये। मैंने अपने मित्र से कहा—यहाँ हमें कुछ दूध खरीद लेना चाहिये। उसने कहा—दूध क्या होता है? मैंने कहा—तुम नहीं जानते? पतला-पतला, सफेद-सफेद। उसने कहा—सफेद क्या होता है? मैंने कहा—सफेद होता है जैसा बतक। उसने कहा—बतक क्या होता है? मैंने कहा—एक पक्षी जिसकी गर्दन मोड़दार होती है। उसने कहा—मोड़ क्या होती है? मैंने अपनी बाँह को इस प्रकार से टेढ़ी करके उसे दिखाया—मोड़दार इसे कहते हैं। तब उसने कहा—अच्छा अब मैं समझ गया, दूध क्या है?' इस कहानी को सुन लेने के बाद उस भद्र महिला ने कहा—सापेक्षवाद क्या है, अब मुझे यह जानने की कोई दिलचस्पी नहीं रही है।[२]

सापेक्षवाद की कठिनता के इन उदाहरणों की तरह सरलता के उदाहरणों की भी कमी नहीं है, परन्तु यहाँ मात्र एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। जिसे स्वयं प्रो० आईन्स्टीन ने प्रस्तुत किया है। जब आईन्स्टीन की पत्नी ने उनसे पूछा—सापेक्षवाद क्या है, मैं कैसे बतलाऊँ?' तब आईन्स्टीन ने एक दृष्टांत में उत्तर दिया—'जब कोई पुरुष एक सुन्दर लड़की से बात करता है तो उसे एक घन्टा एक मिनट जैसा लगता है और उसे ही गर्म चूल्हे पर बैठा दिया जाये तो उसे एक मिनट एक घण्टे के बराबर लगने लगेगा यही सापेक्षवाद है।' इसीलिए कहा गया है कि स्याद्वाद और सापेक्षवाद दोनों कठिन भी हैं और सहज भी हैं।

दोनों की परीक्षा-प्रणाली

स्याद्वाद में नयों की बहुमुखी विवक्षा है। जितने वचन के प्रकार हो सकते

१ Cosmology—Old and New, p. 200
२ Cosmology—Old and New, p. 191

हैं, उतने ही नय भी हो सकते हैं परन्तु यहाँ केवल व्यवहारनय व निश्चयनय को ही लेते हैं। आचार्यों ने इनकी व्याख्या करते हुए कहा है—निश्चयनय वस्तु के तात्त्विक (वास्तविक) अर्थ का प्रतिपादन करता है और व्यवहारनय केवल लोक-व्यवहार का।[1]

आगमों में इनके उदाहरण यत्र-तत्र देखने में आते हैं। एक बार गणधर गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा 'भगवन् ! फाणित-प्रवाही गुड़ में कितने वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श होते हैं ?' भगवान महावीर ने कहा—'मैं इन प्रश्नों का उत्तर दो नयों से देता हूँ। व्यवहारनय की अपेक्षा से तो वह मधुर कहा जाता है परन्तु निश्चयनय की अपेक्षा से उसमें ५ वर्ण, २ गंध, ५ रस व ८ स्पर्श हैं।[2] इसी प्रकार से गौतम स्वामी ने भ्रमर, राख, शुक-पिच्छि (तोते की पूँछ) आदि के रंगों के बारे में पूछा, जिनका उत्तर भगवान महावीर ने निश्चय और व्यवहार नय की अपेक्षा से दिया कि व्यवहारनय से तो भ्रमर काला है अर्थात् एक वर्ण वाला है परन्तु निश्चय नय की अपेक्षा से उसमें सफेद, काला, नीला आदि पाँच वर्ण हैं। इसी प्रकार राख और शुक-पिच्छि भी व्यवहार नय की अपेक्षा रूक्ष और नील हैं परन्तु निश्चयनय की अपेक्षा से पाँच वर्ण, दो गंध, पाँच रस व आठ स्पर्श वाले हैं।[3]

पूर्वोक्त कथन का तात्पर्य यह है कि वस्तु का इन्द्रियग्राह्य स्वरूप कुछ और होता है और वास्तविक स्वरूप कुछ और। हम सिर्फ बाह्य-स्वरूप को देखते हैं जो इन्द्रिय ग्राह्य है और सर्वज्ञ बाह्य एवं आन्तरिक (नैश्चयिक) दोनों स्वरूपों को यथार्थ जानते व देखते हैं। सापेक्षवाद के प्रस्तोता प्रो० आईन्स्टीन भी यही कहते हैं—हम केवल आपेक्षिक सत्य को ही जान सकते हैं, सम्पूर्ण सत्य तो सर्वज्ञ के द्वारा ही ज्ञात होता है।[4] गुड़, राख, भ्रमर आदि के उदाहरणों से स्याद्वाद में जिस प्रकार परमार्थ सत्य (निश्चय सत्य) व व्यवहारसत्य को समझाया गया है उसी प्रकार आईन्स्टीन ने भी अपने सापेक्षवाद में ऐसे ही विविध उदाहरणों का प्रयोग किया है।

स्याद्वाद की सप्तभंगी प्रत्येक वस्तु को स्व-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से अस्ति (है) स्वीकार करती है और पर-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से नास्ति

---

१ तत्त्वार्थं निश्चयो वक्ति व्यवहारश्च जनोदितम्।

—द्रव्यानुयोग तर्कणा ८।१

२ फाणियगुले णं भन्ते ! कई वण्णे, कई गन्धे, कई रसे, कई फासे पण्णत्ते ! गोयमा! एत्थणं दो नया भवन्ति ते निच्छइयणए य, वावहारियणए य। वावहारियणयस्स गोड्डे फाणियगुले निच्छइयणयस्स पंचवण्णे, दुगंधे, पंचरसे, अट्ठफासे!

—भगवती १८-६

३ भगवती १८-६

४ Cosmology— Old and New, p. 201

(नहीं है) मानती हैं। उदाहरण के लिए जैसे हम एक घड़े के बारे में कहते हैं कि यह मिट्टी का घड़ा है, यह राजस्थान का बना है, यह ग्रीष्म ऋतु मे बना हुआ है, यह सफेद रंग का अमुक नाप वाला है, उसी समय उसी घड़े के बारे में दूसरा व्यक्ति कहता है—यह सोने का घड़ा नहीं है, यह मध्यप्रदेश का घडा नहीं है, यह शीतकाल का घड़ा नहीं है, यह श्यामवर्ण व अमुक प्रकार का घडा नहीं है। यहाँ 'है' और 'नहीं है' देशकाल सापेक्ष हैं। इसी प्रकार सापेक्षवाद में भी स्याद्वाद की तरह ऐसे ही सापेक्ष उदाहरणों की बहुलता है, जिनका नयवाद व सप्तभंगी द्वारा समर्थन होता है। प्रो० एडिंगटन ने दिशा की सापेक्ष स्थितियों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—'सापेक्ष स्थिति को समझने के लिए सबसे सहज उदाहरण किसी पदार्थ की दिशा का है। एडिनबर्ग की अपेक्षा से केम्ब्रिज की एक दिशा है और लन्दन की अपेक्षा से दूसरी दिशा है। इसी तरह अन्यान्य अपेक्षाओं से हम यह कभी नही सोचते कि उसकी वास्तविक दिशा क्या है।'[1]

स्याद्वाद के क्षेत्र मे भगवान महावीर ने सैकड़ों प्रश्नों का उत्तर अपेक्षाओ के आधार पर विभिन्न प्रकार से दिया है। सृष्टि के मूलभूत सिद्धांतो को भी उन्होंने सापेक्ष बताया है। 'परमाणु नित्य है या अनित्य है—प्रश्न के उत्तर में उन्होंने बताया कि वह नित्य भी है और अनित्य भी। द्रव्यत्व की अपेक्षा से वह नित्य है और वर्ण आदि पर्याय (बाह्य स्वरूप) की अपेक्षा से अनित्य है, प्रतिक्षण परिवर्तनशील है।[2] आत्मा के विषय में भी यही उत्तर दिया है।[3] इसी प्रकार प्राकृतिक स्थितियो के विषय में आईन्स्टीन भी अपेक्षा-प्रधान बात कहते हैं। अपने सापेक्षवाद के पहले सूत्र में उन्होंने कहा है—'प्रकृति ऐसी है कि किसी भी प्रयोग के द्वारा चाहे वह कैसी ही क्यों न हो, वास्तविक गति का निर्णय असम्भव ही है।'[4] ऐसा क्यो है ? इसका उत्तर सर जेम्स जीन्स ने दिया है—'गति और स्थिति आपेक्षिक धर्म हैं।' तात्पर्य यह हुआ कि सापेक्षवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु चर भी है और स्थिर भी है। स्याद्वादी भी तो यही कहते हैं कि परमाणु नित्य भी है और अनित्य भी है, संसार शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है। हमें यह देखने की आवश्यकता नहीं है कि स्याद्वाद के निर्णय सापेक्षवाद को और सापेक्षवाद के निर्णय स्याद्वाद को मान्य हैं या नहीं; किन्तु देखना यह है कि दोनों की वस्तु तत्त्व को परखने की पद्धति कितनी समान है और दोनो ही वाद कितने अपेक्षानिष्ठ हैं।

'अस्ति नास्ति' की बात जैसे स्याद्वाद मे पद-पद पर मिलती है वैसे ही 'है'

---

१ The Nature of Physical World, p. 26.

२ भगवती १४-१४

३ भगवती ७-२

४ Mysterious Universe, p. 78

'नाप का भी यही हाल है। लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई के द्वारा हम जिस बिन्दु, रेखा, धरातल आदि की व्याख्या करते हैं, उन्हें हम उनकी वास्तविक सापेक्ष स्थिति में न लेकर एक आदर्श मान के रूप में लेते हैं। लम्बाई नापने के लिए कोई स्थिर आदर्श मानदण्ड नहीं मिल सकता है। ठोस से ठोस धातु का ठीक से नापा हुआ मानदण्ड लोहे या पीतल का तार या छड़ का भी एक दिशा से दूसरी दिशा में घूमने मात्र से उसकी लम्बाई का करोड़वाँ हिस्सा घट या बढ़ जाता है। एक ही जमीन की भिन्न-भिन्न समय में या भिन्न-भिन्न आदमियों द्वारा की गई जितनी नापें (पैमाइशें) होती हैं, वे सूक्ष्मता में जाने पर एक-सी नहीं उतरती हैं। शीशे या प्लेटिनम का खूब सावधानी से निशान लगाया जाये, करीब से नापा जाये तो भी नापियों में कुछ न कुछ अन्तर रह ही जाता है। फिर दिशा बदलने से लम्बाई का फर्क होता है, यह अभी कह चुके हैं। साथ ही तापमान के परिवर्तन से धातुओं का फैलना-सिकुड़ना अनिवार्य है और समयान्तर में भीतरी परमाणुओं की स्थिति में जो लगातार अन्तर पड़ रहा है, वह भी मान में अन्तर डालता है। खुद नापी जाने वाली जमीन के बारे में तो यह बात और भी सच है, क्योंकि वह प्लेटिनम जैसी दृढ़ता नहीं रखती है और नापने वाला तो यदि अपने औजारों की बात को न माने तो 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' की कहावत के अनुसार हर एक नापने वाला अपना-अपना अलग ही परिणाम बतलायेगा। किसी नापी (मापदण्ड) को सच्चा मानने के वक्त हम उसे परमार्थ की कसौटी पर नहीं कसने लगते, क्योंकि वह कसौटी मनुष्य की कल्पना के सिवाय और कहीं है ही नहीं। हम मापदण्ड के परिणाम को बिल्कुल झूठ कहकर उसे व्यवहार से बहिष्कृत नहीं कर सकते हैं। हमारा सच्चा मान वह है जो कि भिन्न-भिन्न नापियों (मापदण्डों) का औसत है। सावधानी के साथ जितनी अधिक नापियाँ की जायेंगी, माध्य (औसत) उतना ही ठीक होगा और जो नापी इस माध्य के समीप होगी, वही सत्य होगी। इन बातों से यह तो पता लग गया कि तार्किकों ने वास्तविकता की अच्छी तरह छानबीन किये बिना जो सिर्फ तर्क से किसी बात को स्वयंसिद्ध कह डाला है, वह उन्हीं के शब्दों में मान लेने योग्य नहीं है। हमारी उक्त परिभाषाएँ ठीक हो सकती हैं यदि उन्हें परमार्थ सत्य मानने की जगह हम सापेक्ष सत्य कहें। अधिक वक्र की अपेक्षा कोई रेखा सरल हो सकती है। अधिक मोटे बिन्दुओं या अत्यन्त क्षुद्र रेखाओं की अपेक्षा किसी बिन्दु की लम्बाई, चौड़ाई को हम नगण्य समझ सकते हैं। हमारे सभी माप-तौल सापेक्ष हैं।'[1]

स्याद्वाद भी उक्त प्रकार की अपेक्षात्मक समीक्षाओं से भरा है। इसीलिए स्याद्वाद कहता है—वस्तु अनन्त धर्मात्मक है अर्थात् वस्तु अनन्त गुणों व विशेषताओं को धारण करने वाली है। जब हम किसी वस्तु के विषय में कुछ भी कहते हैं तो एक धर्म को प्रमुख और अन्य धर्मों को गौण कर देते हैं। हमारा यह सत्य आपेक्षिक होता

१ विश्व की रूपरेखा, अध्याय १, सापेक्षवाद

है। अन्य अपेक्षाओं से वही वस्तु अन्य प्रकार की भी होती है। जैसे कि निंबू के सामने नारंगी को रखने पर नारंगी को बड़ी कहते हैं किन्तु पदार्थ धर्म की अपेक्षा से नारंगी में जैसे बड़ापन है वैसे ही छोटापन भी है, लेकिन वह प्रकट तब होता है जब खरबूजे के साथ उसकी तुलना करते हैं। बड़ापन व छोटापन जो हमारे व्यवहार में आते हैं वे मात्र व्यावहारिक या आपेक्षिक हैं। वास्तविक बड़ापन (गुरुत्व) तो लोकव्यापी महास्कन्ध में है और छोटापन (लघुत्व) परमाणु में। इसी बात को सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक एडिंगटन के शब्दों में यों कह सकते हैं—'मैं सोचता हूँ हम बहुधा सत्य व वास्तविक सत्य के बीच एक रेखा खींचते हैं। एक वक्तव्य जो कि केवल पदार्थ के बाह्य स्वरूप से ही सम्बन्ध रखता है, कहा जा सकता है कि वह सत्य है। एक वक्तव्य जो कि केवल बाह्य स्वरूप को ही व्यक्त नहीं करता परन्तु उसकी सतह में रही सचाई को भी प्रगट करता है, वह वास्तविक सत्य है।'

जैन आगम श्री पन्नवणासूत्र में सत्य के दस भेद कर दिये गये हैं—(१) जनपद सत्य (देश सापेक्ष सत्य), (२) सम्मत सत्य, (३) नाम सत्य, (४) स्थापना सत्य[1], (५) रूप सत्य, (६) प्रतीति सत्य, (७) व्यवहार सत्य, (८) भावसत्य, (९) योगसत्य, (१०) उपमासत्य। जहाँ सापेक्षवादी व्यावहारिक माप-तोल आदि को तुच्छ करते हुए से सत्य में समाविष्ट करते हैं वहाँ स्याद्वाद में लगभग सभी प्रकार का आपेक्षिक सत्य उक्त दस भेदों में विभक्त कर दिया गया है।

जैन आगम मान्य स्थापना सत्य में सापेक्षवाद के माप-तोल, गणित आदि के सारे विचार समा जाते हैं। ये सब सापेक्ष सत्य हैं। एक मापदण्ड में सूक्ष्म दृष्टि से चाहे प्रतिक्षण कितना ही अन्तर पड़ता हो, वह जब तक व्यवहार्य है तब तक वह सत्य ही माना जायेगा। वास्तविक दृष्टि से सापेक्षवाद के अनुसार जिस प्रकार मानदण्ड आदि में प्रतिक्षण परिवर्तन माना है, स्याद्वाद शास्त्र में उस परिवर्तन का विवेचन और भी गम्भीर व सूक्ष्म मिलता है। स्याद्वाद के अनुसार वस्तु ही वह है जिसमें प्रतिक्षण नये स्वरूप की उत्पत्ति, प्राचीन स्वरूप का नाश और मौलिक स्वरूप की ध्रुवता (निश्चलता) हो। प्रतिक्षण परिवर्तन के विषय में स्याद्वाद और सापेक्षवाद का एक-सा सिद्धान्त एक-दूसरे की सत्यता का पोषक है। स्याद्वाद और सापेक्षवाद की इस प्रकार की विस्मयोत्पादक समता को देखकर यह तो मानना ही पड़ता है कि स्याद्वाद अधूरे तथ्यों का संग्रह नहीं है, अपितु वस्तुतथ्य को पाने का एक यथार्थ मार्ग है जो आज से हजारों वर्ष पूर्व जैन दार्शनिकों ने खोज निकाला था। उसके तथ्य

---

१ स्थापनासत्य—किसी वस्तु के विषय में कल्पना कर लेना। जैसे १०० सेमी० का एक मीटर, १००० मीटर का एक किलो मीटर। १००० ग्रामों का एक किलोग्राम आदि। यह स्थापना देश-काल की दृष्टि से भिन्न-भिन्न होती है, परन्तु अपनी-अपनी अपेक्षा से जब तक व्यवहार्य है तब तक सब सत्य है।

जितने दार्शनिक हैं उतने ही वैज्ञानिक भी। वह केवल कल्पनाओं का पुलिन्दा नहीं अपितु जीवन का व्यावहारिक मार्ग है।

कुछ एक विचारकों ने स्याद्वाद को केवल लोकव्यवहार तक सीमित माना है और जैनदर्शन में प्रतिपादित निश्चयनय को पूर्ण सत्य बताने का प्रयत्न किया है।[1] किन्तु यह यथार्थ नहीं कि स्याद्वाद केवल लोकव्यवहार मात्र है क्योंकि 'स्यादस्त्येव सर्वमिति' और 'स्यान्नास्त्येव सर्वमिति' अर्थात् 'स्व-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से सब कुछ है ही' और 'पर-द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव की अपेक्षा से सब कुछ नहीं ही है' यह जो स्याद्वाद का हृदय सप्तभंगी तत्त्व है, उसका विषय लोकव्यवहार ही नहीं अपितु द्रव्यमात्र है। इसीलिए तो आचार्यों ने कहा है—'दीप से लेकर आकाश तक वस्तुमात्र स्याद्वाद का उल्लंघन नहीं करती है, वे सभी स्याद्वाद की मुद्रा से अंकित हैं।'[2] केवली (सर्वज्ञ) व निश्चयनय के द्वारा बताया गया तत्त्व भी पूर्णरूपेण निरपेक्ष नहीं है। क्योंकि 'स्यादस्ति' 'स्यान्नास्ति' से परे वह भी नहीं है। अतः स्याद्वाद का यह डिंडिमनाद कि 'सत्य मात्र सापेक्ष है व पूर्ण सत्य या वास्तविक सत्य [illegible] कुछ नहीं' स्वयंसिद्ध है और तर्क की कसौटी पर आधुनिक [illegible] समर्थित है।

स्याद्वाद व सापेक्षवाद दोनों ही सिद्धान्तों को अपने-अपने क्षेत्र में [illegible] आलोचकों के आक्षेप सहन करने पड़े हैं। विचारों की जटिलता को न [illegible] कारण दोनों की ही कटु-आलोचनायें हुई हैं किन्तु उन आलोचनाओं का [illegible] तत्त्ववेत्ताओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है।

स्याद्वाद कोई कल्पना की उड़ान नहीं, बल्कि जीवन [illegible] गम्य सिद्धान्त है। लोगों ने 'है' और 'नहीं है' के रहस्य को न [illegible] या संशयवाद कह डाला, किन्तु चिन्तन की यथार्थ दिशा में आने के [illegible] सत्य लगता है जैसे दो और दो चार। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल व [illegible] प्रत्येक पदार्थ 'है' और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से [illegible] है' यही स्यादस्ति और स्यान्नास्ति का हार्द है।

यह सत्य है कि सापेक्षवाद आज वैज्ञानिक जगत् के [illegible] सिद्धान्त बन गया है, परन्तु इसकी जटिलता को न समझने के [illegible] क्या रुख रहा है यह एक दिलचस्प विषय है। एक सुप्रसिद्ध [illegible] सिडने ए० रीव ने कहा है—'आईन्स्टीन का सिद्धान्त [illegible] सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् गगन हेमर ने लिखा है—'[illegible] मूर्खतापूर्ण मौलिक भूल की है।'[3] इसी प्रकार की [illegible]

---

१ स्याद्वाद मंजरी, जगदीशचन्द्र [illegible] ए० [illegible]

२ Cosmology

३ Cosmology—Old

की अपेक्षा भी मानता है। द्रव्य और भाव-यानी उत्पाद, विनाश और उन दोनों स्थितियों में भी पदार्थ के अस्तित्व का बोध कराने वाली ध्रुवता के बिना क्षेत्र और काल की सापेक्षता अपूर्ण ही रहेगी। पदार्थ के अस्तित्व के बिना क्षेत्र और कालगत सापेक्षता का कथन नहीं किया जा सकता है। अतएव सही मायने में पदार्थ की सापेक्षता का कथन करना है तो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चारों अभिधाओं को संयोजित करना पड़ेगा। जब तक इन चारों को संयोजित नहीं किया जायेगा तब तक प्रतिपादन अधूरा रहेगा और जब इन चारों को संयोजित करके प्रतिपादन किया जायेगा तब कथंचित् मुद्रा में अंकित होकर पदार्थ स्याद्वाद की परिधि में समा जायेगा। वहाँ पदार्थ में विद्यमान सभी विरोधी युगलों—अस्ति-नास्ति आदि रूप की सह अवस्थिति स्वतः ही अपनी यथार्थता सिद्ध कर देगी।

इस प्रकार सापेक्षवाद का सिद्धान्त यद्यपि पूर्णरूपेण स्याद्वाद को प्राप्त नहीं कर सका है, लेकिन निकटतम तो है ही। आज विज्ञान ने जैसे देश और काल की सापेक्षता को स्वीकार कर लिया, तो आगे अपने प्रयोगों द्वारा द्रव्य और भाव की अपेक्षा भी सापेक्षता को मानने के लिए निश्चय करेगा और तब विज्ञान का विद्यार्थी सापेक्षवाद की तरह स्याद्वाद को भलीभाँति समझकर अन्वेषण में उपयोग करेगा। इसके साथ ही आज जो दर्शन और विज्ञान के बीच चौड़ी खाई दिखाई दे रही है, वह भी पट सकेगी, और उस खाई को पाटने का श्रेय स्याद्वाद को, केवल स्याद्वाद को ही प्राप्त होगा।

परमागमस्य बीजं

निषिद्ध जात्यंधसिन्धुरविधानाम् ।

सकलनयविलसितानां

विरोधमथन नमाम्यनेकान्तम् ॥

षष्ठम अध्याय

६. आगमयुग में स्याद्वाद का रूप

- वेद से उपनिषद् पर्यन्त
- तथागत बुद्ध का अनात्मवाद
- जैन विचार दृष्टि की प्राचीनता
- दार्शनिक चिन्तन मे महावीर की देन
- भगवान महावीर के प्रश्नोत्तर
- भगवान महावीर के स्याद्वाद का आधार
- भगों का इतिहास और सप्तभंगी
- स्याद्वाद के भगों की विशेषता
- स्याद्वाद के भगों का आगमिक रूप
- विरोध परिहार का माध्यम : नय
- अव्याकृत प्रश्न—महावीर का समाधान
- भगवान महावीर द्वारा स्व-सिद्धान्त प्रतिपादन हेतु स्याद्वाद का प्रयोग

वेद से उपनिषद् पर्यन्त

वैदिक युग में विश्व के मूल कारण और उसके स्वरूप सम्बन्धी जिज्ञासा के दर्शन ऋग्वेद मे होते हैं। महर्षि दीर्घतमा विश्व के मूल कारण और स्वरूप की खोज में लीन होकर प्रश्न करते हैं—'इस विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई है ? इसे कौन जानता है। कोई विज्ञ जो विद्वानो से पूछकर उसका पता लगाये।'[1] वे स्वयं भी विचार करते हैं किन्तु अपने चिन्तन में भी उसके कारण को न जान सकने से पुनः जिज्ञासु [illegible] कर उत्सुकतापूर्वक आह्वान करते हैं कि 'मैं तो नही जानता किन्तु इधर-उधर अपनी जिज्ञासा के समाधान के लिए प्रयत्नशील हूं, फिर भी सत्य के दर्शन नही होते हैं।'[2] क्योंकि उनके विचारो मे विभिन्नता है, प्रत्येक का अपना-अपना दृष्टिकोण है, भिन्न-भिन्न मतव्य है और इन विचारो से भी जब आत्मसंतोष नही होता तो अन्त मे कहते है कि 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति'[3]—सत् तो एक ही है किन्तु विद्वान उसका वर्णन विविध प्रकार से करते हैं। अर्थात् एक ही तत्त्व के विषय में नाना प्रकार के वचन प्रयोग देखे जाते हैं। इस प्रकार ऋग्वेद के ऋषि विश्व के स्वरूप और कारण की जानकारी के लिए विभिन्न विचारो के जाल में फँसे हुए थे। लेकिन दीर्घतमा के उद्गारों से हमें मनुष्य स्वभाव की उस विशेषता का भी स्पष्ट दर्शन होता है, जिसे हम समन्वयशीलता कह सकते हैं और इसी समन्वयशीलता का समर्थ और सर्वव्यापक रूप जैनदर्शन सम्मत स्याद्वाद या अनेकान्तवाद है।

विश्व के कारण की जिज्ञासा मे से अनेक परस्पर विरोधी मतवाद उत्पन्न हुए, जिनका उल्लेख उपनिषदो मे मिलता है। अपने विचार चिन्तन से जिनको जो कुछ सूझ पड़ा और मानसिक सन्तोष का कारण बना, उसने उसी को लोगों मे प्रचलित करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार मतों का एक अच्छा-खासा जाल बन गया। जैसे एक ही पहाड़ में से निकली हुई नदियाँ विभिन्न दिशाओं में बहती हैं, वैसे ही एक प्रश्न में से विचारो की अनेक धारायें बहने लगीं और जैसे-जैसे वे देश और काल में आगे बढ़ीं, वैसे-वैसे उनका विस्तार भी बढ़ता गया।

विश्व का मूल कारण क्या है ? वह सत् है या असत् है ? किसी ने विश्व के मूल कारण को सत् कहा तो किसी ने असत् बताया। सत् है तो वह पुरुष है या पुरुष से इतर—जल, वायु, अग्नि, आकाश आदि मे से कोई एक ? इन प्रश्नों का उत्तर उपनिषदों के ऋषियों ने अपनी प्रतिभा से दिया और इस विषय मे नाना मतवादों की सृष्टि का निर्माण कर दिया। किसी के मत मे असत् से सत् की उत्पत्ति हुई है।[4]

---

१ ऋग्वेद १।१६४।४
२ ऋग्वेद १।१६४।६
३ ऋग्वेद १।१६४।४६
४ असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत। —तैत्तिरी० २।७

और किसी ने कहा कि आरम्भ में मृत्यु का ही साम्राज्य था, अन्य कुछ नहीं था। उसी में से सृष्टि उत्पन्न हुई है।[1] किसी ऋषि के मत से असत् से सत् की उत्पत्ति हुई और वही अंड बनकर सृष्टि का उत्पादक बना।[2] इन मतों के विपरीत सत्कारणवादियों का यह मंतव्य था कि असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? सबसे पहले एक और अद्वितीय सत् ही था, उसी ने सोचा—मैं अनेक होऊँ और इस अनेक होने की इच्छा द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति हुई।[3] लेकिन इन सत्कारणवादियों में भी मतैक्य नहीं था और पुरुषेतर—जल, अग्नि आदि को कारण मानने वालों में से किसी ने जल को, किसी ने वायु को, किसी ने अग्नि को, किसी ने आकाश को और किसी ने प्राण को विश्व का मूल कारण बताया।[4] इन सभी वादों का सामान्य तत्त्व यह है कि विश्व के मूल कारण के रूप में कोई आत्मा या पुरुष नहीं है। किन्तु इन सब वादों के विरुद्ध अन्य ऋषियों का मत था कि जड़ तत्त्वों में से सृष्टि उत्पन्न नहीं हो सकती है, अतः सर्वोत्पत्ति के मूल में कोई चेतन तत्त्व कर्ता होना चाहिए।

पिप्पलाद ऋषि के मत से प्रजापति से सृष्टि की उत्पत्ति हुई।[5] किन्तु बृहदारण्यक में आत्मा को मूल कारण मानकर उसी में से स्त्री-पुरुष की उत्पत्ति के द्वारा क्रमशः सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि होना माना है।[6] ऐतरेयोपनिषद् में भी सृष्टि क्रम में भेद होने पर भी मूल कारण तो आत्मा ही माना गया है।[7] यही बात तैत्तिरीयोपनिषद् में भी कही गई है।[8] किन्तु वहाँ विशेषता इतनी है कि आत्मा को उत्पत्ति का कर्ता नहीं बल्कि कारण माना गया है। अर्थात् अन्यत्र तो आत्मा या प्रजापति में सृष्टि कर्तृत्व का आरोप है जबकि इसमें आत्मा को सिर्फ मूल कारण मानकर पंचभूतों की संभूति उस आत्मा से हुई, इतना ही प्रतिपादन किया गया है। मुण्डकोपनिषद् में जड़

---

१ नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्। —बृहदा० १।२।१

२ आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः। तस्योपाख्यानम्। असदेवेदमग्र आसीत्। तत् सदासीत्। तत् समभवत्। तदाण्डं निरवर्तत। —छान्दो० ३।१९।१

३ सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तस्मादसतः सज्जायत। कुतस्तु खलु सोम्य एवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम् तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति। —छान्दो० ६।२

४ बृहदा० ५।५।१। छान्दो० ४।३। कठो० २।५।९। छान्दो० १।९।१, १।११।५, ७।१२।१।

५ प्रश्नो० १।३।१३

६ बृहदा० १।४।१-४

७ ऐतरेय० १।१।३

८ तैत्तिरी० २।१

का आदि कारण है, उसे आत्मस्थ देखने को कहा गया है।[१] उपनिषदों का ब्रह्म और आत्मा पृथक्-पृथक् नहीं किन्तु आत्मा ही ब्रह्म है, आत्मा और ब्रह्म दोनों एक हैं—अयमात्मा ब्रह्म।[२]

उपनिषदों में आत्मवाद को प्रमुख माना गया है—ऐसा जो कहा जाता है उसका तात्पर्य यह है कि तत्कालीन दार्शनिकों का आत्मवाद के प्रति विशेष आकर्षण था और उसी को ध्यान में रखकर उपनिषदों में आत्मवाद की विवेचना मुख्य रूप से हुई है। इस आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व को उपनिषदों के ऋषियों ने शाश्वत, सनातन, नित्य, अजन्म एवं ध्रुव माना है।[३]

इसी आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व को जड़ और चेतन जगत् का उपादानकारण निमित्तकारण या अधिष्ठान मानकर दार्शनिकों ने केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत या शुद्धाद्वैत का समर्थन किया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सभी वादों के बीज उपनिषदों में विद्यमान थे और उन वादों के अनुकूल वाक्यों की उपलब्धि उपनिषदों में होती है।

वेद और उपनिषद्कालीन स्थिति के उक्त दर्शन से यह फलितार्थ निकला कि विश्व की उत्पत्ति और कारण के रूप में किसी के मत से असत् से सत् की उत्पत्ति होती है। किसी के विचार से विश्व का मूल कारण सत् है। किसी के विचार में वह सत् जड़ था तो कोई उसे चेतन कहता था। किन्हीं-किन्हीं ने काल, स्वभाव आदि में से किसी एक को कारण माना। इनके अतिरिक्त पृथ्वी, जल आदि भूतों के संयोग से चेतन की उत्पत्ति मानने वाले विचारक भी थे। ये सभी अपने-अपने चिन्तन और युक्तियों से अपने पक्ष को सिद्ध करते थे लेकिन इन सबके अन्त में आत्मा को विश्व का मूल कारण माने जाने का विचार सर्वोपरि माना गया और आत्मा के आधार से उत्तरवर्ती काल में अनेक अद्वैत दर्शनों की उत्पत्ति हुई। लेकिन इन सभी वादों के

---

१ (क) तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।
—श्वेताश्वतर० ६।१२

(ख) अथातः आत्मादेश: आत्मैवाधस्तात् आत्मोपरिष्टात्, आत्मा पश्चात्, आत्मा पुरस्तात्, आत्मा दक्षिणतः, आत्मोत्तरतः आत्मैवेदं सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन् एवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवतितस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। —छान्दो० ७।२५

(ग) न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्। —बृहदारण्यक० २।४।५

२ बृहदा० २।५।१९

३ कठो० १।२।१८। २।६।१ १।३।१५, श्वेता० २।१५, मुण्डको० १।६ इत्यादि।

साथ वेदो मे एक और विचारधारा के दर्शन होते हैं कि नासदीय सूक्त[1] का ऋषि विश्व के आदि कारण रूप तत्त्व को न सत् कहना चाहता है और न असत्। ऋषि के उक्त कथन का अर्थ यह है कि उसके पास उस परम तत्त्व की अभिव्यक्ति करने वाले शब्द नही थे। वह ऋषि न तो संशयवादी था और न अज्ञानी किन्तु इतनी बात अवश्य है कि शब्द की अपनी मर्यादा है, शब्द में इतनी शक्ति नही है कि वह परम तत्त्व को सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित कर सके, इसीलिए ऋषि को कहना पडा कि उस समय न सत् था, न असत्। शब्दशक्ति की इस मर्यादा की स्वीकृति का आधार अनेकान्तवाद था और अस्वीकृति से एकान्तवादों की उत्पत्ति हुई।

विद्वानो ने उपनिषदों का काल ई० पू० १२०० से ६०० तक माना है। जो भगवान महावीर और तथागत बुद्ध के समय से पूर्व का है। अतः उन दोनों महापुरुषों के पहले भारतीय दर्शन की स्थिति जानने का साधन उपनिषदों के सिवाय अन्य कुछ नही है। उनके परिशीलन से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उस काल में एकान्त अद्वैत की विचारधारा प्रबल रूप से दार्शनिक क्षेत्र में प्रवहमान थी। चाहे फिर वह अद्वैत पुरुषेश्वर अथवा भूतो के विचार के आधार पर ही क्यों न निर्मित हुआ हो।

उपनिषद् कालीन उक्त विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में यदि हम जैन और बौद्ध दर्शनो के विचारों का विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि दर्शनक्षेत्र को उनकी क्या देन रही। यहाँ मुख्य रूप से जैनदर्शन के विषय मे कहा जायेगा, लेकिन तुलना के लिए जहाँ-तहाँ बौद्धदर्शन के बारे मे भी संकेत है, अतः जैनदर्शन की देन का विवेचन करने के पूर्व बौद्धदर्शन के विचारो का संक्षेप में दिग्दर्शन कराना उपयुक्त होने से पहले तथागत बुद्ध के विचारों को प्रस्तुत करते हैं।

तथागत बुद्ध का अनात्मवाद

तथागत बुद्ध और भगवान महावीर समकालीन थे। यदि भगवान महावीर और बुद्ध के निर्वाण के बारे मे जैन-बौद्ध अनुश्रुतियो को प्रमाण माना जाये तो उनसे यह फलित होता है कि बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ५४४ में हुआ था अर्थात् उन्होंने भगवान महावीर से पहले अपनी इह जीवन लीला समाप्त कर दी थी तथा अपने विचारों का प्रचार भी भगवान महावीर से पहले प्रारम्भ कर दिया था। उपनिषद् काल में जितने वेग से आत्मवाद का प्रचार हुआ और सभी तत्त्वों के मूल मे एक मात्र तत्त्व शाश्वत आत्मा माना जाने लगा, उतने ही वेग से बुद्ध ने अपने अनात्मवाद का प्रचार किया और आत्मवाद के आडंबर को अनात्मवाद के उपदेश द्वारा निःसार एवं निस्तेज बनाया। उपनिषद् का आत्मवाद अद्वैत एकान्त दर्शन से अभिभूत था और बुद्ध विभज्यवादी थे। अपनी विभज्यवादी विचारधारा के द्वारा उन्होंने रूप आदि सब वस्तुओं को एक-एक करके क्रम-क्रम से अनात्म सिद्ध किया। रूप आदि को अनात्म सिद्ध करने के बारे मे उनके तर्कों का क्रम इस प्रकार है—

१ ऋग्वेद १०।१२९

क्या रूप नित्य है या अनित्य ?

अनित्य।

जो अनित्य है, वह सुख है या दुःख ?

दुःख।

जो वस्तु अनित्य है, दुःख है, विपरिणामी है क्या उसके विषय में इस प्रकार के विकल्प करना ठीक है कि—यह मेरा है, यह मैं हूं, यह मेरी आत्मा है ?

नहीं।[1]

इसी क्रम से वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान आदि को[2] भी प्रश्न करके तथा चक्षुरादि इन्द्रियों, उनके विषय, तज्जन्य वर्ग, मन, मानसिक धर्म और मनोविज्ञान आदि[3] सबको भी अनात्म सिद्ध किया।

जब कोई तथागत बुद्ध से पूछता कि 'जरा-मरण क्या है ? और किसे होता है ? जाति क्या है और किसे होती है ? आदि तो वे कहते हैं—'यह प्रश्न ठीक नहीं है। क्योंकि इन प्रश्नों से ऐसा प्रतीत होता है कि जरा आदि अन्य हैं और जिसके जरा आदि होती है वह अन्य है। अर्थात् शरीर अन्य है और आत्मा अन्य है। परन्तु ऐसा मानने पर धर्माचरण संगत नहीं बनता है।' उक्त प्रश्नकर्ता से वे कहते हैं कि प्रश्न का आकार ऐसा होना चाहिए—'जरा कैसी होती है ? जरा-मरण कैसा होता है ? जाति कैसी होती है ? भव कैसा होता है ? आदि।' इन प्रश्नों के उत्तर में बुद्ध कहते कि 'ये सब प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं। मध्यममार्ग का अवलम्बन लेकर वे समझाते कि शरीर ही आत्मा है, ऐसा मानना एक अन्त है और शरीर से भिन्न आत्मा है, ऐसा मानना दूसरा अन्त है। अतः मैं इन दोनों अन्तों को छोड़कर मध्यम मार्ग से उपदेश देता हूं।' मध्यममार्ग से उपदेश देने का रूपक इस प्रकार है—

'अविद्या के होने से संस्कार, संस्कार के होने से विज्ञान, विज्ञान के होने से नामरूप, नामरूप के होने से छह आयतन, छह आयतनों के होने से स्पर्श, स्पर्श के होने से वेदना, वेदना के होने से तृष्णा, तृष्णा के होने से उपादान, उपादान के होने से भव, भव के होने से जाति, जाति के होने से जन्म और जन्म के होने से जरा-मरण है। यही प्रतीत्यसमुत्पाद—या मध्यममार्ग है।'[4]

आनन्द के एक प्रश्न का बुद्ध ने जो उत्तर दिया, उससे उनकी अनात्मवाद

---

१ संयुत्तनिकाय १२।७०।३२-३७

२ दीघनिकाय, महानिदानसुत्त १५

३ मज्झिमनिकाय, छक्कसुत्त १४८

४ संयुत्तनिकाय १२।३५; अंगुत्तरनिकाय ३

विषयक मान्यता स्पष्ट हो जाती है। आनन्द ने पूछा कि 'आप बार-बार कहते हैं कि लोक शून्य है, इसका क्या तात्पर्य है?' इसके उत्तर में बुद्ध ने कहा—

'यस्मा च खो आनन्द सुञ्ञ अत्तेन वा अत्तनियेन वा तस्मा सुञ्ञो लोकोति वुच्चति। किं च आनन्द सुञ्ञं अत्तेन वा अत्तनियेन वा' चक्खु खो आनन्द सुञ्ञं अत्तेन वा अत्तनियेन वा······ रूपं रूपविञ्ञाणं इत्यादि।'[1]

उक्त प्रश्नोत्तर व विचार से यह स्पष्ट हो जाता है कि तथागत बुद्ध के अनात्मवाद का तात्पर्य क्या है? उन्हें शरीरात्मवाद ही नहीं किन्तु सर्वव्यापी शाश्वत आत्मवाद भी अमान्य था। उनके अभिमतानुसार न तो आत्मा शरीर से अत्यन्त भिन्न ही है और न आत्मा शरीर से अभिन्न ही। यदि उन्हें चार्वाकसम्मत भूतात्मवाद भी एकान्त प्रतीत होता है तो उपनिषदों का कूटस्थ आत्मवाद भी एकान्त दिखाई देता है। शाश्वत कूटस्थ आत्मा मरकर पुन जन्म लेती है और संसार में परिभ्रमण करती है, यदि ऐसा मानें तो शाश्वतवाद का प्रसंग बनता है और यदि ऐसा माना जाये कि माता-पिता के संयोग से चार या पाँच महाभूतों से आत्मा उत्पन्न होती है और इसीलिए शरीर के नष्ट होने पर आत्मा भी उच्छिन्न-विनष्ट और लुप्त हो जाती है तो वह उच्छेदवाद होता है। इसीलिए इन दोनों का निषेध करते हुए बुद्ध ने मध्यममार्ग—अशाश्वतानुच्छेद-प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश दिया।

अशाश्वतानुच्छेदवाद के सम्बन्ध में बुद्ध का निम्नलिखित संवाद द्रष्टव्य है—

क्या दुःख स्वकृत है?

ऐसा नहीं है।

क्या दुःख परकृत है?

नहीं?

क्या दुःख स्वकृत और परकृत है?

नहीं।

तब क्या है? आप तो सभी प्रश्नों का उत्तर नकार में देते हैं, ऐसा क्यों?

सभी प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक देने पर जिज्ञासा होना स्वाभाविक था कि ऐसा क्यों है? तब उक्त प्रश्नों का नकारात्मक उत्तर देने के कारण को स्पष्ट करते हुए बुद्ध ने कहा—'यदि दुःख स्वकृत है, ऐसा मानते हैं तो जिसने किया वह भोग करता है और तब शाश्वतवाद का आश्रय लेना पड़ेगा और यदि कहें कि परकृत है तो ऐसा कहने पर उच्छेदवाद हो जाता है। यानी परकृत—किया किसी दूसरे ने और भोग करता है कोई दूसरा। इसीलिए मैं दोनों अन्तों (शाश्वतवाद और उच्छेदवाद) को छोड़कर मध्यममार्ग-प्रतीत्यसमुत्पादवाद का आश्रय लेकर उपदेश देता हूँ कि अविद्या से संस्कार होता है, संस्कार से विज्ञान······स्पर्श से दुःख ······इत्यादि[2]।'

---

१ संयुत्तनिकाय ४।८५

२ संयुत्तनिकाय १२।१७, १२।२४

उक्त कथन में तथागत बुद्ध के समस्त दार्शनिक चिन्तन का आधार यह है कि संसार में सुख-दुःख आदि अवस्थायें हैं, कर्म है, जन्ममरण हैं, बन्ध-मुक्ति है—विश्व में ये सभी अवस्थायें हैं, लेकिन इन सबके होते हुए भी इन सबका स्थिर आधार आत्मा है ऐसा नहीं है। किन्तु ये होने वाली सभी अवस्थायें पूर्व-पूर्व कारण से उत्तर-उत्तर काल में होती रहती है और एक नए कार्य को, एक नई अवस्था को उत्पन्न करके नष्ट हो जाती हैं, जिससे संसार का चक्र चलता रहता है। न तो पूर्व का सर्वथा उच्छेद ही इष्ट है और न ध्रौव्य ही इष्ट है। उत्तर पूर्व से सर्वथा असम्बद्ध नहीं है किन्तु पूर्व कारण से उत्तर कार्य होने का क्रम चलता रहता है। यानी पूर्व कारण है तथा उत्तर कार्य और इस पूर्व-उत्तर की परम्परा में पूर्व का सार उत्तर में अवतरित हो जाता है। उत्तर पूर्व से सर्वथा भिन्न भी नहीं है और अभिन्न भी नहीं है किन्तु अव्याकृत है। क्योंकि भिन्न कहने पर उच्छेदवाद होता है और अभिन्न कहने पर शाश्वतवाद का भय रहता है। सारांश यह है कि बुद्ध को ये दोनों वाद मान्य न थे, अतएव ऐसे प्रश्नों को अव्याकृत कहकर वे प्रतीत्यसमुत्पादवाद से उत्तर देते थे।

संसार चक्र के परिचालन के लिए बुद्ध ने पूर्व कारण और उत्तर कार्य रूप परम्परा का क्रम बतलाया है, वैसे ही संसार चक्र के उन्मूलन के लिए भी कारण-कार्य परम्परा की दृष्टि रखी है कि कारण के निरुद्ध हो जाने पर कार्य उत्पन्न नहीं होता। अर्थात् अविद्या के निरोध से तृष्णा का निरोध, तृष्णा के निरोध से उपादान का निरोध, उपादान के निरोध से भव का निरोध, भव के निरोध से जन्म का निरोध, जन्म के निरोध से मरण का निरोध हो जाता है। किन्तु मरणानन्तर तथागत बुद्ध का क्या होता है? इस प्रश्न को बुद्ध ने अव्याकृत कहकर समाप्त कर दिया। इसके अव्याकृत कहने का भी यही पूर्व कारण है कि यदि कहा जाये मरणानन्तर तथागत बुद्ध होते हैं तो शाश्वतवाद और नहीं होते हैं तो उच्छेदवाद का प्रसंग आ जाता है। इसीलिए मरणोत्तर तथागत बुद्ध को अव्याकृत कहा जाता है। इसके लिये एक उदाहरण है कि जैसे गंगा की बालू का नाप नहीं, जैसे समुद्र के पानी का नाप नहीं वैसे ही मरणोत्तर तथागत भी गम्भीर है, अप्रमेय हैं, अतएव अव्याकृत हैं। जिस रूप, वेदना, संज्ञा आदि के कारण तथागत का बोध होता था, पुकारा जाता था, वह रूप आदि तो नष्ट हो गये हैं, इसलिए अब तथागत की प्रज्ञापना का कोई साधन नहीं बचता है—इसलिये वे अव्याकृत हैं।[1]

जैसे उपनिषदों में आत्मवाद या ब्रह्मवाद की पराकाष्ठा के समय आत्मा या ब्रह्म को 'नेति नेति' शब्द के द्वारा अवक्तव्य प्रतिपादित किया और सब विशेषणों से परे बताया[2], ठीक उसी प्रकार बुद्ध ने भी उपनिषदों से विपरीत दृष्टि को लेकर

१ संयुत्तनिकाय ११।४

२ (क) अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।

—माण्डूक्यो० ६।७

आत्मा को अव्याकृत माना है। फिर भी जैसे उपनिषदों में परम तत्त्व को अवक्तव्य मानते हुए भी अनेक प्रकार से वर्णन हुआ है और उसे व्यवहारिक माना है, वैसे ही बुद्ध ने भी आत्मा को अवक्तव्य-अव्याकृत कह कर आत्मा का वर्णन किया है। बुद्ध ने आत्मा का वर्णन लोक-सज्ञा, लोक निरुक्ति, लोक व्यवहार, लोक प्रज्ञप्ति का आश्रय लेकर करने का सकेत किया है। लोकसज्ञा आदि के आश्रय से ही तो यह कहा जाता है कि मैं पहले था, नही था, ऐसा नही, मैं भविष्य में होऊँगा नही होऊँगा, ऐसा नही, मैं अब हूँ, नही हूँ। लेकिन बुद्ध के वर्णन की यह विशेषता है कि वे अपने भाषा व्यवहार से कही भी बन्धन मे नही आते हैं।[१]

पूर्वोक्त वैदिक और बौद्धदर्शन की भूमिका के आधार से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस काल मे तत्त्वचिन्तन की शैलियाँ क्या थी। अब इसी क्रम में जैनदर्शन की आगम वर्णित भूमिका के विषय मे विचार करते हैं। जैनदर्शन की भूमिका के जानने के प्रसंग में सबसे पहले यह जानना उचित होगा कि उस समय चिन्तन के मुख्य-मुख्य विषय क्या थे ? इसकी कुछ प्रतीति श्रमण भगवान महावीर और इन्द्रभूति गौतम आदि के वैदिक विद्वानो के प्रव्रजित होने के पूर्व के प्रश्नों और उनके मन में समाई हुई शकाओ से होती है। जैसे कि—'आत्मा शरीर से भिन्न है या अभिन्न है ? आत्मा प्रत्यक्ष है ? कर्म है या नही ? पृथ्वी जल आदि भूत हैं या नही ? पुनर्जन्म परलोक है या नही ? जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है या सादि ? पुण्य और पाप हैं या नही ? ससार और मोक्ष हैं या नही ? लोक नित्य है या अनित्य, सान्त है या अनन्त ? जीव नित्य है या अनित्य ? द्रव्य और पर्याय भिन्न हैं या अभिन्न ? वस्तु एक है या अनेक ? परमाणु नित्य है या अनित्य ? आदि।' जगत, आत्मा, आत्मा के परिणाम, आचार-विचार आदि के बारे मे चिन्तन-मनन प्रायः सभी दार्शनिक किया करते थे।

इस प्रकार के चिन्तन का कारण यह था कि तत्कालीन वैचारिक जगत में एक प्रकार की उत्क्रान्ति व्याप्त थी। साधारण जन से लेकर बड़े-बड़े विद्वान तक विश्व के बारे मे जिज्ञासु थे और सभी अपने-अपने दृष्टिकोण को यथाबुद्धि प्रकट करते थे। जिसने जो जाना, समझा, उसे प्रगट किया। लेकिन वे विचार इतने एकाकी थे, उन दृष्टियों मे इतनी भिन्नता थी कि उनका एक-दूसरे से सामंजस्य नही हो पाता था और न सामजस्य करने का प्रयास ही किया जाता था, न मुख्य-गौण मानने की तत्परता प्रदर्शित की जाती थी। अगर उनका यथास्थान सुमेल किया जाता, प्रत्येक विचार के बलाबल का ध्यान रखा जाता तो दार्शनिक क्षेत्र में विचारो का नया ही रूप देखने को मिलता। इस वैचारिक समन्वय और दृष्टियों की भिन्नता मे समन्वय

(ख) स एव नेति नेति इत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते। —बृहदा० ४।४।२२

१ दीर्घनिकाय, पोट्ठपादसुत्त ६

का कार्य किया श्रमण भगवान महावीर ने। इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी विचार क्रान्ति स्याद्वाद सिद्धान्त के रूप मे दर्शन जगत को एक नई देन बन गई। स्याद्वाद द्वारा उन्होंने तत्कालीन वादो का समन्वय किस प्रकार किया, समन्वय के लिए उन्होंने क्या दृष्टि दी, यह यथास्थान ज्ञात होगा।

जैन विचारदृष्टि की प्राचीनता

जैन आगमो मे जो तत्व विचार है वह सामयिक विचार भूमिका से सर्वथा अछूता रहा होगा, इस बात को अस्वीकार करते हुए भी उनके बारे में जैन अनुश्रुतियों के आधार पर यह मानकर चलना होगा कि उन विचारों का मूल श्रमण भगवान महावीर के समय से बहुत प्राचीन है। भगवान महावीर ने किसी नये तत्व विचार का प्रचार नही किया था, अपितु अपने से २५० वर्ष पूर्व होने वाले तीर्थंकर पार्श्वनाथ के विचारो का प्रचार किया। पार्श्वनाथसम्मत आचार मे जो कुछ भी थोड़ा-बहुत संशोधन किया, वह तो समयानुसार होने से अवश्य किया था लेकिन तत्व विचार के बारे मे मतभिन्नता नही थी। तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने भी जो तत्व विचार प्रगट किया वह अपने से पूर्व होने वाले तीर्थंकर अरिष्टनेमि के विचारो के अनुरूप था और अरिष्टनेमि भी अपने पूर्ववर्ती तीर्थंकर नमिनाथ के विचारों के समर्थक थे। इस प्रकार पूर्व-पूर्व के तीर्थंकरो की धारा के अन्त मे हम इस युग के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के निकट पहुँच जाते हैं।

यद्यपि इस जैन अनुश्रुति की प्रमाणसिद्धता के लिए ऐतिहासिक तथ्य अवश्य ही उपलब्ध नही है, फिर भी जैन तत्व विचार की स्वतन्त्रता इसी आधार से सिद्ध हो जाती है कि उपनिषदों मे अन्य दर्शनों के बीज तो अवश्य मिलते हैं, जिनमें से कुछ का संकेत पूर्व मे किया गया है लेकिन जैन तत्व विचार के नही मिलते हैं। भगवान महावीर प्रतिपादित आगमों मे द्रव्य, कर्म, गुणस्थान, मार्गणा, लोक व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में जिस व्यवस्थित रूप से विचार किया गया है, उससे स्वतः सिद्ध हो जाता है कि जैन तत्त्वविचारधारा भगवान महावीर से बहुत पहले की है और उपनिषदों मे प्रतिपादित अनेक विचारो से अपना पार्थक्य एवं स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है।

दार्शनिक चिन्तन मे महावीर की देन

दार्शनिक चिन्तन की तत्कालीन विचारधारा और स्थिति का संक्षेप में दिग्दर्शन कराने के बाद अब हम भगवान महावीर के चिन्तन का रूप और उनकी देन पर संक्षेप में प्रकाश डालते है। इसके लिए हमारे मार्गदर्शक आगम ग्रन्थ हैं। आगमों में बंध-मोक्ष, जीव-अजीव, गुणस्थान, कर्म, लोक रचना आदि के जो विचार मिलते हैं, वे पूर्व तीर्थंकरों के विचारों के अनुसरण रूप भी माने जा सकते हैं। वे विचार महावीर को विरासत में मिले हैं। उन्हें हम एक बार गौण भी मान लें लेकिन तत्कालीन दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र मे तत्व स्वरूप के बारे मे उठने वाले नये-नये

दर्शनों का समन्वीकरण [illegible] दार्शनिकों के विचारों के प्रकाश में किया, जिसका संकेत आगमों में यत्र-तत्र प्रकीर्ण देखने को मिलता है। यही उनकी दार्शनिक क्षेत्र में नई देन है। अनन्तर आगमों के आधार पर यह उन नई देन के बारे में विचार करते हैं।

महावीर युगीन दार्शनिकों ने तत्त्वों का जो चिन्तन रूप पूर्व में रक्खा था और इनके सम्बन्ध में जो उनके समक्ष अन्य तत्त्वों का जो समाधान और समन्वीकरण किया वह तर्क का आश्रय नहीं था किन्तु [illegible] निर्धारित करके उन्हें [illegible] किया, [illegible] आश्रय दिया, उनका समन्वय किया और आगम के मत को विराट करके विश्लेषित व देखने, परखने का बोध दिया कि विराट का पूर्णतः चेतन और अचेतन अनन्त धर्मों का भंडार है। उसके विराट स्वरूप को साधारणतः ज्ञानपूर्ण रूप से नहीं जान सकता। उसका अंश मात्र वस्तु के एक-एक अंश को जानकर अपने में पूर्णता का दुरभिमान कर बैठता है। विराट वस्तु में नहीं है किन्तु विचार तो देखने वालों की बुद्धि और दृष्टि में है। यही उनकी दार्शनिक खोज का अद्भुत देन है, जिसे परवर्ती आचार्यों ने अपने परिश्रम से पल्लवित कर विराट रूप दे दिया।

भगवान महावीर को केवलज्ञान होने से पहले जिन दस महास्वप्न देखने का उल्लेख आगमों में किया गया है[1] उनमें तीसरा स्वप्न इस प्रकार बतलाया है—

'एगं च णं महं चित्त-विचित्तपक्खगं पुंसकोइलगं सुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धे।'

अर्थात् एक बड़े चित्र-विचित्र पंखों वाले पुंस्कोकिल को स्वप्न में देखकर वे प्रतिबुद्ध हुए। इस महास्वप्न का फल बताते हुए कहा—

'जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं चित्त-विचित्त जाव पडिबुद्धे तण्णं समणे भगवं महावीरे विचित्तं ससमयपरसमइयं दुवालसंगं गणिपिडगं आघवेति पन्नवेति परूवेति···।[2]

अर्थात् इस स्वप्न का फल यह है कि श्रमण भगवान महावीर विचित्र ऐसे स्व-पर सिद्धान्त को बतलाने वाले द्वादशांग का उपदेश देंगे, प्ररूपणा करेंगे। उक्त उल्लेख में विचित्र विशेषण विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करता है। आगमों में प्रत्येक शब्द सार्थक है और सूत्र के इस शब्द द्वारा यह ध्वनित किया गया है कि भगवान का उपदेश अनेक रंगी—अनेकांतवादात्मक होगा। उत्तरवर्ती आचार्यों ने चित्रज्ञान और चित्रपट को लेकर जो बौद्ध और नैयायिक वैशेषिक दर्शन के समक्ष अनेकान्तवाद सिद्ध किया है, उससे चित्र-विचित्र शब्द की सार्थकता स्वयमेव सिद्ध हो जाती है और यदि

---

१ भगवती १६।६।५७८

२ भगवती १६।६।५७८

चित्र-विचित्र शब्द से अनेकान्तवाद अर्थ ही ग्रहण किया जा सकता है क्योंकि अनेकान्तवाद भी तो विविध अपेक्षाओं के आधार पर विविधात्मक कथन करता है। विचित्र और अनेकान्तवाद इन दोनों शब्दों का मेल बैठाया जाये तो विचित्र शब्द की सार्थकता अभिप्राय सिद्ध हो जाती है।

अनेकान्तवाद को ध्वनित करने वाले विचित्र शब्द की तरह एक दूसरा शब्द 'विभज्यवाद' भी आगमों में देखने को मिलता है। भिक्षु कैसी भाषा का प्रयोग करे, इस सम्बन्ध में सूत्रकृताग में कहा गया है कि भिक्षु को विभज्यवाद का प्रयोग करना चाहिए—

> संकेज्जयाऽसंकितभाव भिक्खू विभज्जवायं च वियागरेज्जा।
> भासादुयं धम्मसमुट्ठितेहिं वियागरेज्जा समया सुपन्ने ॥[1]

'विभज्यवाद' यह 'विभज्य' और 'वाद' इन दो शब्दों का यौगिक रूप है जिसका साधारण अर्थ होता है कि विभाग करके वचन व्यवहार करना। लेकिन विभज्यवाद का यथार्थ अर्थ समझने के लिए हमें जैन टीका ग्रंथ तो सहायक होते ही हैं, साथ ही बौद्ध ग्रन्थ भी इसका स्पष्ट आशय समझाने में विशेष सहायक बनते हैं। बौद्ध ग्रन्थ मज्झिमनिकाय (सुत्त ९९) में शुभ माणवक के प्रश्न के उत्तर में बुद्ध ने अपने को विभज्यवादी बताया है एकांशवादी नहीं। उन्होंने शुभ माणवक को बताया है—'हे माणवक! मैं विभज्यवादी हूँ एकांशवादी नहीं हूँ।' किस प्रसंग पर बुद्ध ने अपने को विभज्यवादी कहा, उसका संक्षेप में सार यह है—माणवक ने तथागत बुद्ध से पूछा था कि—मैंने सुन रखा है कि गृहस्थ ही आराधक होता है, प्रव्रजित आराधक नहीं होता है। इसमें आपकी क्या सम्मति है?' इस प्रश्न का बुद्ध ने एकांगी हाँ या ना में उत्तर नहीं देकर कहा कि 'यदि गृहस्थ मिथ्यात्वी है तो निर्वाण मार्ग का आराधक नहीं हो सकता है तथा त्यागी भी यदि मिथ्यात्वी है तो वह भी आराधक नहीं है किन्तु यदि दोनों सम्यक् प्रतिभा सम्पन्न हैं, तभी आराधक होते हैं।'[2] ऐसे उत्तरों के आधार पर बुद्ध अपने को विभज्यवादी कहते हैं और एकांशवादी नहीं मानते हैं। यदि वे कहते कि गृहस्थ आराधक नहीं होता, त्यागी आराधक होता है या ऐसा कहते कि त्यागी आराधक नहीं होता है, गृहस्थ आराधक होता है, तब उनका वह उत्तर एकांशवादी होता।[3] किन्तु उन्होंने त्यागी या गृहस्थ की आराधकता और अनाराधकता में जो अपेक्षा या कारण था उसे बताकर दोनों को आराधक या अनाराधक बताया है। अर्थात् प्रश्न का उत्तर विभाग करके दिया है, अतएव वे अपने आपको विभज्यवादी कहते हैं। लेकिन यहाँ पर ध्यान

---

१ सूत्रकृतांग १।१४।२२
२ मज्झिमनिकाय सुत्त ९८
३ दीघनिकाय ३३, संगीति परियाय

रखना चाहिये कि बुद्ध सर्वदा सभी प्रश्नों के उत्तर विभज्यवाद से नहीं देते थे। उन्होंने उन प्रश्नों का उत्तर विभज्यवाद के आधार से दिया है, जिनका उत्तर विभज्यवाद से संभव था। वे कुछ प्रश्नों का उत्तर देते समय ही विभज्यवाद का अवलंबन लेते थे, किन्तु सभी प्रश्नों के बारे में विभज्यवादी नहीं थे। तथागत बुद्ध के विभज्यवाद का क्षेत्र सीमित था। यही कारण है कि बौद्धदर्शन कतिपय प्रश्नों में विभज्यवादी होते हुए भी एकांतवाद की ओर अग्रसर हुआ और भगवान महावीर के विभज्यवाद का क्षेत्र व्यापक था जिससे जैनदर्शन आगे जाकर अनेकान्तवाद में परिणत हो गया।

मज्झिमनिकाय सूत्र ९९ से तथागत बुद्ध के एकान्तवाद और विभज्यवाद का परस्पर विरोध स्पष्ट सूचित हो जाता है और जैन टीकाकारों ने विभज्यवाद का अर्थ स्याद्वाद, अनेकांतवाद किया है। उनका यह अर्थ करना उपयुक्त भी है, क्योंकि एकान्तवाद और अनेकांतवाद का परस्पर विरोध स्पष्ट है। इसीलिये अपेक्षाभेद से स्यात् शब्दांकित प्रयोग आगमों में देखे जाते हैं। एकाधिक भंगों का स्याद्वाद भी आगमों में देखने को मिलता है, जिनके उल्लेख यथास्थान दिये जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में सूत्रकृतांगगत विभज्यवाद का अर्थ अनेकांतवाद, नयवाद या अपेक्षावाद या पृथक्करण करके, विभाजन करके किसी तत्त्व के विवेचन का वाद भी लिया जाये तो ठीक ही होगा और आगमकालीन विभज्यवाद को स्याद्वाद, अनेकांतवाद कहा जाना उचित ही माना जायेगा।

भगवान महावीर ने विभज्यवाद का उपयोग किस प्रकार किया, प्रत्येक तत्त्व के चिन्तन में उनकी क्या दृष्टि रही और जटिलतम माने जाने वाले प्रश्नों का अपेक्षाभेद से किस प्रकार समाधान किया आदि का रूप विभिन्न आगमों तथा विशेषरूप से भगवती सूत्र में आगत प्रश्नोत्तरों से स्पष्ट हो जाता है। भगवती सूत्र में अनेक प्रश्नोत्तर हैं, जिनमें भगवान् महावीर की विभज्यवादी शैली के दर्शन होते हैं, लेकिन उनमें से यहाँ कुछ एक प्रश्नोत्तरों को प्रस्तुत करते हैं। अधिकांश प्रश्नों के कर्ता गणधर गौतम हैं। लेकिन अन्य विज्ञ स्त्री-पुरुषों ने भी अपनी-अपनी जिज्ञासा के समाधान के लिए प्रश्न किये हैं। इन सब प्रश्नोत्तरों से भगवान महावीर के विभज्यवाद की तथागत बुद्ध के विभज्यवाद से तुलना करने में सरलता होगी।

भगवान महावीर के प्रश्नोत्तर

किसी समय गणधर गौतम ने प्रत्याख्यान के सुप्रत्याख्यान और दुष्प्रत्याख्यान होने के बारे में अपनी जिज्ञासा व्यक्त की। वह प्रश्नोत्तर इस प्रकार है—

गौतम—कोई यदि ऐसा कहे कि मैं सर्व प्राण, सर्वभूत, सर्व जीव, सर्व सत्त्व की हिंसा का प्रत्याख्यान करता हूँ तो क्या उसका वह प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है या दुष्प्रत्याख्यान है?

भगवान महावीर—गौतम ! जीव सकम्प भी है और निष्कम्प भी।

गौतम—इसका क्या कारण है ?

भगवान महावीर—जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और मुक्त। मुक्त जीव दो प्रकार के हैं—अनन्तर सिद्ध और परम्परा सिद्ध। परम्परा सिद्ध तो निष्कम्प हैं और अनन्तर सिद्ध सकम्प। संसारी जीव के भी दो भेद हैं—शैलेशी और अशैलेशी। शैलेशी जीव निष्कम्प होते हैं और अशैलेशी सकम्प होते हैं।

—भगवती २५।४।७१।

गौतम—जीव सवीर्य हैं या अवीर्य हैं ?

भगवान महावीर—जीव सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं।

गौतम—इसका क्या कारण है ?

भगवान महावीर—जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और मुक्त। मुक्त तो अवीर्य हैं। संसारी जीव के दो भेद हैं—शैलेशीप्रतिपन्न और अशैलेशीप्रतिपन्न। शैलेशीप्रतिपन्न जीव लब्धि वीर्य की अपेक्षा से सवीर्य हैं किन्तु करण वीर्य की अपेक्षा से अवीर्य है और अशैलेशी प्रतिपन्न जीव लब्धिवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य है किन्तु करणवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं। जो जीव पराक्रम करते हैं, वे करणवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य हैं और जो अपराक्रमी हैं वे करणवीर्य की अपेक्षा से अवीर्य हैं।

—भगवती १।८।७२

तथागत बुद्ध के विभज्यवाद से तुलना करने के लिये इसी प्रकार के और भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनमें भगवान महावीर ने विभज्यवादी शैली द्वारा प्रश्नों के उत्तर दिये हैं। भगवान महावीर के विभज्यवाद का मूलाधार भी विभाग करके उत्तर देना है जो ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है। ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं उनमें दो विरोधी बातों को एक सामान्य में स्वीकार करके उसी एक को विभक्त करके दोनों विभागों में विरोधी धर्मों को संगत बताना इतना अर्थ विभज्यवाद का फलित होता है। किन्तु यहाँ एक बात की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है कि भगवान महावीर ने उक्त उदाहरणों में जो विरोधी धर्मों को घटाया है वे दो विरोधी धर्म एक काल में किसी एक व्यक्ति के नहीं बल्कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के हैं या भिन्न काल में एक व्यक्ति के हैं। भगवान महावीर ने इस विभज्यवाद का क्षेत्र व्यापक बनाया है। उन्होंने विरोधी धर्मों को अर्थात् अनेक अंतों को एक ही काल में और एक ही व्यक्ति में अपेक्षाभेद से घटाया है। इसी कारण उनके विभज्यवाद का अर्थ अनेकान्तवाद या स्याद्वाद हुआ। आगे चलकर उनका दर्शन अनेकान्त के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

विभज्यवाद का मूलाधार तो तिर्यंक् सामान्य की अपेक्षा से जो विशेष व्यक्ति हो उन्हीं व्यक्तियों में विरोधी धर्मों का स्वीकार करना है, लेकिन अनेकान्तवाद का

मूलाधार है तिर्यक् और ऊर्ध्वता दोनो प्रकार के सामान्यों के पर्यायों मे विरोधी धर्मों को स्वीकार करना। इस प्रकार अनेकांतवाद विभज्यवाद का विकसित रूप है, जिससे वह विभज्यवाद तो है ही, परन्तु विभज्यवाद को अनेकातवाद के समकक्ष नही माना जा सकता।

भगवान महावीर के स्याद्वाद का आधार

भगवान महावीर द्वारा की गई अनेकातवाद-स्याद्वाद की प्ररूपणा मे तत्कालीन दार्शनिकों के चिन्तन और उनमें भी तथागत बुद्ध के निषेधात्मक दृष्टिकोण का महत्वपूर्ण स्थान है। स्याद्वाद के भंगो की रचना मे सजय वेलट्ठीपुत्त के विक्षेपवाद से भी मदद ली गई हो यह भी संभव है। किन्तु प्रतीत होता है कि बुद्ध ने जो तत्कालीन वादो से अलिप्त रहने की दृष्टि अंगीकार की थी उसी मे अनेकातवाद के बीज निहित हैं। तथागत बुद्ध की अलिप्तता के कारण का पहले सकेत किया जा चुका है कि वे शाश्वत और उच्छेद इन दोनो अतों से अलिप्त रहने में ही अपने दृष्टिकोण को सीमित रखना चाहते थे। उनके निश्चय मे अनिश्चय का अश रहता था और अनिश्चय मे निश्चय का अश। इसीलिये वे दृढता के साथ किसी बात को नही कहते थे। तत्कालीन दार्शनिक जगत मे जीव और लोक तथा ईश्वर के नित्यत्व-अनित्यत्व, जीव और शरीर के बारे मे भेदाभेद के प्रश्न होते थे, उनको उन्होंने अव्याकृत बता दिया और उत्तर न देकर मौन रहे। लेकिन भगवान महावीर ने प्रत्येक प्रश्न का समाधान किया जो सयुक्तिक था, उसमें किसी प्रकार से सदेह करने का अवकाश नही था। तथागत बुद्ध ने जिन प्रश्नों को अव्याकृत (विवेचन करने के योग्य नही) मानकर मौन साध लिया, उनकी उपेक्षा करदी, उन्ही प्रश्नों का व्याकरण (विवेचन) भगवान महावीर ने अपनी तार्किक दृष्टि से किया, अनेकातवाद का आश्रय लेकर उनका समाधान किया। उन प्रश्नों के स्पष्टीकरण मे से जो दृष्टि प्रतिफलित हुई, उसी का सार्वभिक और सार्वकालिक विस्तार करके अनेकांतवाद को सर्ववस्तु व्यापी बना दिया। तथागत बुद्ध तो दो विरोधी वादो को देखकर उनसे बचने के लिए अपना तीसरा मार्ग उनकी अस्वीकृति में ही सीमित कर लेते थे जबकि भगवान महावीर उन दोनों विरोधी वादों का समन्वय करके उनके स्वीकार में ही अपने नये मार्ग—अनेकांतवाद, स्याद्वाद की स्थापना करते थे।

भगवान महावीर के अनेकांतवाद की दृष्टि को विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि तथागत बुद्ध के उन प्रश्नो को जान लिया जाये, जिनको उन्होंने अव्याकृत माना है। तथागत बुद्ध के अव्याकृत प्रश्नों को मज्झिमनिकाय चूलमालुक्य सुत्त ६३ मे निम्न प्रकार से बतलाया है—

(१) लोक शाश्वत है ?
(२) लोक अशाश्वत है ?
(३) लोक अंतवान है ?

(४) लोक अनंत है ?

(५) जीव और शरीर एक है ?

(६) जीव और शरीर भिन्न है ?

(७) मरने के बाद तथागत होते हैं ?

(८) मरने के बाद तथागत नहीं होते हैं ?

(९) मरने के बाद तथागत होते भी हैं, नहीं भी होते हैं ?

(१०) मरने के बाद तथागत न होते हैं और न नहीं होते हैं ?

तथागत बुद्ध के उक्त दस अव्याकृत प्रश्नों का निम्नलिखित तीन बातों में समावेश हो जाता है—

(१) जीव की नित्यता-अनित्यता और सान्तता निरन्तता।

(२) जीव-शरीर का भेदाभेद।

(३) तथागत की मरणोत्तर स्थिति-अस्थिति अर्थात् जीव की नित्यता अनित्यता।

तथागत बुद्ध के समय यही प्रश्न महान और जटिल माने जाते थे जिनके बारे में बुद्ध ने एक तरह से अपना मत देते हुए भी वस्तुतः निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा। वे सदैव दुविधाग्रस्त मानस वाले रहे। उन्हें सदैव यह भय रहता था कि लोक या जीव को नित्य कहते हैं तो उपनिषद्मान्य शाश्वतवाद स्वीकार करना पड़ेगा और यदि अनित्य पक्ष को स्वीकार करते हैं तब चार्वाक जैसे भौतिकवादी सम्मत उच्छेदवाद को मानना पड़ेगा। इसका स्पष्ट कारण यह है कि उनको शाश्वतवाद में दोष प्रतीत हुआ, उसी प्रकार उच्छेदवाद को भी वे उचित नहीं समझते थे। इसीलिए अपने वाद का कुछ भी नामकरण किये बिना दोनों वाद ठीक नहीं हैं, यह कहकर ऐसे प्रश्नों को अव्याकृत बना दिया। लेकिन इसके साथ यह कहा कि लोक शाश्वत हो या अशाश्वत, जन्म है ही, मरण है ही। मैं तो इन्हीं जन्म-मरण के विनाश को बताता हूँ। मेरा यही व्याकृत (विवेचन) है और इसी से तुम्हारा भला होने वाला है। इसीलिये लोकादि की शाश्वतता आदि के प्रश्न अव्याकृत है, जिनका मैंने उत्तर नहीं दिया, ऐसा समझो।

तथागत बुद्ध ने अपने समय के सर्वसाधारण में चर्चा के विषय बने हुए प्रश्नों को अव्याकृत क्यों कहा? उनके विचारों में स्थिरता क्यों नहीं थी? इसका कारण स्पष्ट है। उन्होंने तत्कालीन वादों में विद्यमान दोषों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उनमें विद्यमान अंशों की सत्यता को परख न सके। इसीलिए उनमें से किसी वाद का अनुयायी होना उन्होंने पसन्द नहीं किया। अपने मन्तव्य को विविक्त रखकर अशाश्वतानुच्छेदवाद को स्वीकार किया। अर्थात् उपनिषद् मान्य नेति, नेति की तरह वस्तुस्वरूप का निषेधपरक व्याख्यान करने का प्रयत्न किया। दूसरे शब्दों में कहें कि अशाश्वतानुच्छेदवाद को स्वीकार करके प्रकारान्तर से उन्होंने अनेकान्त का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

तथागत बुद्ध की दृष्टि के विपरीत भगवान महावीर ने बुद्ध की शैली से दूर रहकर, विचार दृष्टि को एकांगी न रखकर, पूर्वाग्रहों से दूर रहकर खुले मानस से प्रचलित वादों के दोषों और गुणों की मीमांसा की। प्रत्येक वाद में विद्यमान गुणों का दर्शन तो उन-उनके दार्शनिकों ने प्रगट कर ही दिया था और दोषों का संकेत तथागत बुद्ध ने। इस प्रकार भगवान महावीर के सामने उन सभी वादों के गुण और दोष दोनों सामने आ गये और दोनों पर मध्यस्थ दृष्टि रखने पर अनेकान्त-वाद—स्याद्वाद स्वयमेव प्रस्फुटित हो गया। उन्होंने उनके गुण-दोषों की परीक्षा की और जिस-जिस वाद में, जिस सीमा तक यथार्थता थी, उसे उसी मात्रा में स्वीकार करके सभी वादों का समन्वय करने का प्रयास किया। इस प्रकार के निष्कर्ष का नाम ही भगवान महावीर का अनेकान्तवाद-स्याद्वाद सिद्धांत या विकसित विभज्यवाद है।

भगवान महावीर को विभिन्न वादों के समन्वय से जो सूत्र मिले, उसका उपयोग उन्होंने विकटतम माने जाने वाले विचारों को सुलझाने में किया। परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले वाद ३६ से ६३ जैसे मित्रवत् दिखने लगे। तथागत बुद्ध जिन प्रश्नों का उत्तर विधिरूप से नहीं देना चाहते थे, उनका उत्तर देने में भगवान महावीर अनेकांतवाद का आश्रय लेकर समर्थ हुए। उन्होंने प्रत्येक वाद की पृष्ठभूमि, उनकी मर्यादा, उत्पन्न होने की अपेक्षा को समझा और फलितार्थ को नयवाद के रूप में दार्शनिकों के समक्ष रख दिया। यही नयवाद अनेकांतवाद का मूलाधार बन गया।

तथागत बुद्ध द्वारा अव्याकृत माने गये धर्म आपेक्षिक हैं और अनेकांत द्वारा आपेक्षिक धर्मों का अपेक्षा दृष्टि से कथन होता है। तथागत बुद्ध के अव्याकृत प्रश्नों का समाधान भगवान महावीर ने किन अपेक्षाओं का आधार लेकर किया, यह आगे बताया जायेगा। इससे पूर्व अपेक्षाओं से निर्मित भंगों के बारे में विचार करना उपयुक्त होगा।

भंगों का इतिहास और सप्तभंगी

पूर्वोक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो गया है कि भगवान महावीर ने परस्पर विरोधी धर्मों को एक ही धर्मी में स्वीकार किया है और उनके स्वीकार करने में समन्वय की दृष्टि है। इस समन्वयात्मक भावना से अनेकांतवाद का जन्म हुआ।

किसी भी विषय में समन्वय के लिए परस्पर विरुद्ध दो पक्ष होते हैं। उनमें से प्रथम-अस्ति विधि पक्ष होता है तब कोई दूसरा उस पक्ष का नास्ति-निषेध पक्ष लेकर खण्डन करता है। हम अपने लोक व्यवहार की प्रक्रिया में भी यही रूप देखते हैं। अतएव समन्वयकर्ता के समक्ष जब तक दोनों पक्ष उपस्थित न हों, तब तक समन्वय का प्रश्न ही नहीं उठता है। इस प्रकार अनेकांतवाद-स्याद्वाद के मूल में अस्ति और नास्ति इन दो पक्षों का होना आवश्यक है। इसलिये स्याद्वाद के भंगों में सर्वप्रथम अस्ति-नास्ति इन दो भंगों (पक्षों) को स्थान मिलना स्वाभाविक है।

अस्ति और नास्ति यह दो पक्ष कपोल-कल्पित नहीं हैं, लेकिन स्वाभाविक हैं। हमारी जीवन प्रणाली में अस्ति और नास्ति यह दो रूप अथवा पक्ष नीर-क्षीर की तरह एकमेक होकर समाये हुए हैं। 'हाँ' और 'नहीं' का प्रयोग हम अपने दैनिक व्यवहार, वार्तालाप आदि के प्रसंग पर करते रहते हैं फिर भी यदि दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में भंगों के साहित्यिक इतिहास की ओर ध्यान दें तो ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में भंगों का कुछ आभास मिलता है। उक्त सूक्त के ऋषि के समक्ष दो मत-दृष्टिकोण थे। विश्व स्वरूप को लेकर कोई जगत के आदि कारण को सत् कहते थे और कोई असत्। इस प्रकार ऋषि के समक्ष परस्पर विरुद्ध दो पक्ष थे। जब इन दोनों के समन्वय का प्रश्न आया और उनकी युक्ति, पक्षापक्ष का विचार किया तब उन्होंने कह दिया कि वह सत् भी नहीं है और असत् भी नहीं है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि उनका यह निषेधपरक समन्वय का उत्तर भी एक पक्ष में परिणत हो गया, यानी सत्, असत् और अनुभय (अन्+उभय—न सत् और न असत्) यह तीन पक्ष हमारे सामने आ गये जो ऋग्वेद जितने प्राचीन सिद्ध हो जाते हैं।

वेद के अनन्तर अब हम उनके उत्तरवर्ती उपनिषदों पर दृष्टिपात करते हैं। उपनिषद् युग में जब आत्मा या ब्रह्म को परम तत्त्व मानकर विश्व को उसी का प्रपंच मानने की दृष्टि प्रारम्भ हुई तब यह स्वाभाविक था कि अनेक विरोधों की भूमि ब्रह्म या आत्मा ही बने। इसका परिणाम यह हुआ कि आत्मा या ब्रह्म और ब्रह्मरूप विश्व को ऋषियों ने अनेक विरोधी धर्मों से अलंकृत किया। परन्तु जब उन विरोधों के तात्त्विक समन्वय से भी उन्हें सन्तोष नहीं मिला, तब उसे वचनागोचर-अवक्तव्य बताकर अनुभवगम्य कह दिया। इस सम्बन्धी उनकी वचन-प्रक्रिया का रूप यह है—

तदेजति[1] तन्नैजति।[2]

अणोरणीयान् महतो महीयान्।[3]

संयुक्तमेतत क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं चं भरते विश्वमीशः। अनीशश्चात्मा।[4]

सदसद्वरेण्यम्।[5]

---

१ सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तत् पश्यति कश्चन॥ —छान्दोग्यो० ३।१४
—यह सब ब्रह्म का ही स्वरूप है, इसमें नाना रूप नहीं हैं। ब्रह्म के प्रपंच (पर्यायों) को सब लोग देखते हैं, परन्तु ब्रह्म को कोई नहीं देखता है।

२ ईशा० ५

३ कठो० १।२।२० श्वेता० ३।२०

४ श्वेता० १।८

५ मुण्डको० २।२।१

उक्त उपनिषद् वाक्यों में परस्पर विरुद्ध दो धर्मों को किसी एक ही धर्मी में स्वीकार किया गया है। यह दो विरुद्ध धर्म अपेक्षाभेद से ही एक धर्मी में माने गये हैं और विधि व निषेध दोनों पक्षों का विधिमुख से समन्वय हुआ है।

ऋग्वेद के ऋषि ने तो न वह सत् है और न असत् है, इस प्रकार दोनों विरोधी पक्षों को अस्वीकृत करके निषेधमुख से अनुभय पक्ष को उपस्थित किया है, लेकिन उपनिषदों के उक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि औपनिषदिक ऋषियों ने दोनों विरोधी धर्मों का एक धर्मी में अवस्थान मानकर विधिमुख से उभय पक्ष के समन्वय द्वारा चौथे उभय भंग का आविष्कार किया है। लेकिन जब परमतत्त्व को इन धर्मों का आधार मानने पर भी विरोध की गंध आने लगी कि यह परस्पर विरुद्ध धर्म उस परमतत्त्व में कैसे माने जायें? दो विरोधी धर्मों का एक में अवस्थान कैसे माना जा सकता है? और यह मानना युक्तिसंगत भी नहीं है तो अन्त में उन्होंने दो मार्ग ग्रहण किये। उनमें से प्रथम मार्ग यह था कि जिन धर्मों को दूसरे लोग स्वीकार करते हैं, उनका निषेध कर देना चाहिए कि 'न सन्नचासत्' (श्वेता० ४।१८) न वह सत् है और न असत् है। यानी ऋग्वेद के ऋषि की तरह अनुभय पक्ष का आश्रय लेकर निषेधमुख से उत्तर दे दिया। दूसरा मार्ग यह था कि इसी निषेध को 'स एष नेति नेति' (बृहदा० ४।४।७) वह यह नहीं है, वह यह नहीं है की अन्तिम मर्यादा तक पहुँचा देना। इसी नेति-नेति की अन्तिम मर्यादा का फलितार्थ यह निकला कि वह तत्त्व अवक्तव्य है, उसका किसी प्रकार से विवेचन, वर्णन नहीं किया जा सकता है और उसके कथन के लिए निम्न प्रकार से प्रयोग किये जाने लगे—

यतो वाचो निवर्तन्ते।[1]

यद्वाचानभ्युदितम्।[2]

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो:।[3]

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यते स आत्मा स विज्ञेयः।[4]

उक्त चर्चा और उद्धरणों का यह फलितार्थ हुआ कि जब दो विरोधी धर्म उपस्थित होते हैं तब उसके उत्तर से तीसरा पक्ष तीन प्रकारों से हो सकता है—

(१) दोनों विरोधी पक्षों को स्वीकार करने वाला (उभय)।

---

१ तैत्तिरी० २।४

२ केन० १।४

३ कठो० २।६।१२

४ माण्डूक्यो० ७

(२) दोनों विरोधी पक्षों का निषेध करने वाला (अनुभय)।

(३) अवक्तव्य— दो पक्षों का विवेचन करना शक्य नहीं है।

उक्त तीन प्रकारों में से तीसरा प्रकार दूसरे प्रकार का विकसित रूप है। अतः अनुभय और अवक्तव्य यह दोनों एक ही भंग समझना चाहिए। अनुभय (अन्+उभय) यानी उभय नहीं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वस्तु उभय रूप से वाच्य नहीं है। अर्थात् उसका विवेचन न तो सत् रूप से कर सकते हैं और न असत् रूप से किन्तु वस्तु में उक्त धर्म विद्यमान अवश्य हैं। इसीलिए अनुभय का दूसरा नाम अवक्तव्य हुआ।

अब इस अवक्तव्य शब्द पर थोड़ा विचार कर लें। अवक्तव्य शब्द में दो प्रकार का अवक्तव्य गर्भित है—(१) वस्तु की सर्वथा अवक्तव्यता यानी वस्तु का किसी भी शब्द द्वारा कथन नहीं किया जा सकता है और (२) उभय पक्ष की निषेधक अवक्तव्यता यानी वस्तु में दो विरोधी धर्म विद्यमान अवश्य हैं लेकिन उनके कथन करने के योग्य दोनों धर्मों के अस्तित्व का बोध कराने वाले योग्य शब्द का अभाव है। कथन और ज्ञापक योग्य शब्द नहीं है, इसीलिए वह वस्तु अवक्तव्य है। इन दोनों अवक्तव्यों में से दूसरे प्रकार का अवक्तव्य सापेक्ष है और पहला वस्तुगत अवक्तव्य निरपेक्ष है। वस्तुगत निरपेक्ष अवक्तव्य से वस्तु के पारमार्थिक रूप का बोध होता है जो शब्द का गोचर नहीं है और सापेक्ष अवक्तव्य से उन सभी विवक्षित धर्मों का बोध है जो शब्द के क्रमिक प्रयोग से ग्राह्य नहीं हो पाते हैं। इस कथन का सारांश यह हुआ कि जब हम किसी वस्तु के दो या अधिक धर्मों को मन में रखकर उनको व्यक्त करने वाले योग्य शब्द की खोज करते हैं तब प्रत्येक धर्म के वाचक भिन्न-भिन्न शब्द तो मिल जाते हैं किन्तु उन शब्दों के क्रमिक प्रयोग से विवक्षित सभी धर्मों का एक साथ बोध नहीं हो पाता है। शब्दों की अभिव्यक्ति करने की एक सीमा होने से हम वस्तु को अवक्तव्य कह देते हैं तथा वस्तु का पारमार्थिक रूप ही ऐसा है जो शब्द का गोचर नहीं है। अतएव उसका वर्णन शब्द से हो ही नहीं सकता है। अर्थात् सापेक्ष अवक्तव्यता का आधार वचन प्रयोग है और निरपेक्ष अवक्तव्यता का आधार वस्तु का पारमार्थिक रूप।

जैनाचार्यों ने दोनों प्रकार की अवक्तव्यता को ग्रहण किया है। स्याद्वाद के भंगों में जो अवक्तव्य भंग लिया है, वह सापेक्ष अवक्तव्य है और वक्तव्य-अवक्तव्य ऐसे दो विरोधी धर्मों को लेकर स्वतन्त्र सप्तभंगी की रचना की है। उसमें निरपेक्ष अवक्तव्य को ग्रहण किया गया हो ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रकार अवक्तव्य शब्द का प्रयोग संकुचित और विस्तृत ऐसे दो अर्थों में हुआ है। जब विधि और निषेध रूप से वस्तु की अवाच्यता अभिप्रेत हो तब वहाँ सापेक्ष अवक्तव्य को ग्रहण किया गया है और जब सभी प्रकारों का निषेध करना हो तब निरपेक्ष अवक्तव्य अभिप्रेत है।

सापेक्ष अवक्तव्यता का प्रयोग दार्शनिक क्षेत्र में नया नहीं है। ऋग्वेद में हमें

इसका प्रयोग देखने को मिलता है। वहाँ ऋषि ने जगत के आदि कारण को सद्रूप से और असद् रूप से अवक्तव्य माना है। क्योंकि उसके सामने सद् रूप और असद् रूप यह दो ही पक्ष थे। लेकिन माण्डूक्योपनिषद् के ऋषि ने आत्मा को अन्त प्राज्ञ (विधि) बहिः प्राज्ञ (निषेध) और उभयप्राज्ञ (उभय) इन तीन रूपों से अवाच्य कहा है। क्योंकि उनके सामने आत्मा की कथन प्रणाली के उक्त तीनों प्रकार थे। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने वस्तु को चतुष्कोटि-विधि, निषेध, उभय और अनुभय विनिर्मुक्त कहकर अवाच्य माना है। क्योंकि उनके समय तक विचार करने के यह चार पक्ष स्थिर हो चुके थे। निरपेक्ष अवक्तव्यता उपनिषद् कालीन—'यतो वाचो निवर्तन्ते' जैसे वचनों में देखने को मिलती है। इसी प्रकार के वचन प्रयोग जैन आगमों में भी दृष्टिगोचर होते हैं— 'सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ मईतत्थ न गाहिया[1]—आत्मा का वर्णन करने में समस्त शब्द समाप्त हो जाते हैं, वह शब्द का विषय नहीं है, तर्क का भी उसमें स्थान नहीं है और न बुद्धि ही उसे ठीक तरह से ग्रहण करने में समर्थ होती है। इस प्रकार जैसे सापेक्ष अवक्तव्यता दार्शनिक इतिहास में प्रसिद्ध है वैसे ही निरपेक्ष अवक्तव्यता का भी प्रतिपादन किया गया है।

इतनी चर्चा से यह भली-भांति स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषद् काल तक वस्तु के विचार के लिए—(१) सद् (विधि), (२) असद् (निषेध) (३) सदसत् (उभय) और (४) अवक्तव्य (अनुभय), ये चार पक्ष स्थिर हो चुके थे। इन चार पक्षों की परम्परा बौद्ध त्रिपिटिकों में भी देखने को मिलती है। जैसे कि—

(१) होति तथागतो परंमरणाति ?
(२) न होति तथागतो परंमरणाति ?
(३) होति च न होति च तथागतो परंमरणाति ?
(४) नेव होति न न होति तथागतो परंमरणाति ?[2]

यह तो हुए तथागत बुद्ध के अव्याकृत प्रश्नों में से कुछ प्रश्न। अन्य प्रश्न भी त्रिपिटकों में देखने को मिलते हैं, जो विधि, निषेध आदि पूर्वोक्त चार पक्षों को सिद्ध करते हैं—

(१) सयंकत दुक्खति ?
(२) परंकतं दुक्खंति ?
(३) सयंकतं परंकत च दुक्खंति ?
(४) असयंकारं अपरकारं दुक्खति ?[3]

---

१ आचारांग १।५।६
२ संयुत्तनिकाय
३ संयुत्तनिकाय १२।१७

उक्त उद्धरणों से यह ज्ञात हो जाता है कि भगवान बुद्ध के समय तक एक ही विषय में चार विरोधी पक्ष उपस्थित करने की शैली दार्शनिकों में प्रचलित थी और उसका रूप भी ठीक वैसा था जैसा कि उपनिषदों में पाया जाता है। पिटक से आगत सञ्जयवेलट्ठिपुत्त के मतवर्णन से भी यही प्रतीत होता है कि उस युग में वस्तुतत्त्व के विचार के लिए चार पक्षों को उपस्थित करने की परम्परा प्रचलित थी। यह बात दूसरी है कि संजय के विक्षेपवादी होने से वह किसी भी विषय में कोई निश्चित मत प्रकट नहीं करता था। जैन आगमों में भी ऐसा वर्णन मिलता है, जिसमें विधि, निषेध, उभय और अनुभय के आधार पर चार-चार विकल्प किये गये हैं।

विधि आदि चारों पक्ष सम्बन्धी आगम पाठ इस प्रकार हैं—

(क) (१) आत्मान्तकर,
(२) परान्तकर,
(३) आत्मपरान्तकर
(४) नोआत्मान्तकर—परान्तकर।[१]

(ख) (१) आत्मारम्भ,
(२) परारम्भ
(३) तदुभयारम्भ
(४) अनारम्भ।[२]

× × ×

(ग) (१) एक मार्ग प्रारम्भ में भी ऋजु और अन्त में भी ऋजु,
(२) एक मार्ग प्रारम्भ में सरल किन्तु अन्त में वक्र,
(३) एक मार्ग प्रारम्भ में वक्र किन्तु अन्त में सरल,
(४) एक मार्ग प्रारम्भ में वक्र और अन्त में भी वक्र।[३]

× × ×

---

१ चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा—
आयंतकरे नामेगे नोपरंतकरे,
परंतकरे नामेगे नोआयंतकरे,
एगे आयंतकरे वि परंतकरे
एगे नोआयंतकरे नोपरंतकरे —स्थानांग ४।

२ "किं आयारंभा, परारंभा, तदुभयारंभा, अनारम्भा? गोयमा! अत्थेगइया आयारंभा वि परारंभा वि तदुभयारंभा वि नो अणारंभा अत्थेगइया जीवा नो आयारंभा, परारंभा नोतदुभयारंभा अणारंभा। —भगवती १।१।१

३ चत्तारि मग्गा पण्णत्ता तं जहा—उज्जूनामेगेउज्जू, उज्जूनामेगे वंके, वंकेनामेगे उज्जू, वंके नामेगे वंके। —स्थानांग ४।२८१

में अधिक से अधिक इन चार पक्षों द्वारा वस्तु का विचार किया जाता था। उपनिषदों में देखते हैं कि माण्डूक्य को छोड़ कर अन्य ऋषियों ने चारों पक्षों को स्वीकार नहीं किया है। किसी ने सत् पक्ष को, किसी ने असत् पक्ष को, किसी ने उभय पक्ष को और किसी ने अवक्तव्य पक्ष को स्वीकार किया है, लेकिन माण्डूक्य ने चारों पक्षों को स्वीकार किया है।

यह तो हुई वेद और उपनिषद के ऋषियों की चिन्तनधारा की स्थिति। बुद्ध के अव्याकृत प्रश्नों में भी यही विधि आदि चार पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु उन्होंने प्रश्नों का उत्तर न तो 'हां' में दिया है और न 'न' में ही। किन्तु भगवान महावीर ने चारों पक्षों का समन्वय करके सभी पक्षों को अपेक्षाभेद से स्वीकार किया है। संजयवेलट्ठिपुत्त ने भी विधि आदि चार पक्ष स्वीकार किये हैं, लेकिन संजय के मत और स्याद्वाद में यह भेद है कि स्याद्वाद प्रत्येक भंग को स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है जबकि संजय सिर्फ भंगजाल की रचना करके उन भंगों के विषय में अपना अज्ञान ही प्रगट करता है। भगवान महावीर प्रत्येक भंग को स्वीकार करने की आवश्यकता बताकर विरोधी भंगों के स्वीकार के लिए अपेक्षा का समर्थन करते हैं।

इस प्रकार ऋग्वेद से लेकर तथागत बुद्ध के संजय तक प्रवाहित विचारधारा के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी ने वस्तु विचार के लिये एक पक्ष उपस्थित किया सत् या असत् का। उसके विरोध में दूसरा पक्ष उत्पन्न हुआ असत् या सत् का। जब यह दो परस्पर विरोधी पक्ष उपस्थित हुए तो उन दोनों पक्षों का समन्वय करने के लिए कह दिया कि तत्त्व को न सत् कहा जा सकता है और न असत्, वह तो अवक्तव्य है। किसी ने दोनों विरोधी पक्षों को मिलाकर कह दिया कि वह सदसत् है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विचारधारा के तीन पक्ष बन गये—(१) पक्ष (२) विपक्ष (३) समन्वय।

वस्तुतः विचारधारा के उपर्युक्त पक्ष, विपक्ष और समन्वय यही तीन सोपान होते हैं और समन्वय बिन्दु पर आ जाने के बाद अन्य कुछ विचार के लिये अवकाश नहीं रह जाता है। लेकिन इस समन्वय को भी एक पक्ष बनाकर विचारधारा आगे चली तो समन्वय का भी एक विपक्ष बन गया और जब समन्वय को माध्यम बनाकर भी पक्ष-विपक्ष बन गये तो पुनः उनके समन्वय के लिए एक नये समन्वय की कल्पना की जाने लगी। मानवीय स्वभाव की यह विशेषता है कि उसे एकांत प्रिय नहीं है और न वह उसे सहन ही करता है। अतः वस्तु को ऐकान्तिक अवक्तव्य मान लिया तो उसके विपक्ष में किसी ने कहा कि वस्तु एकान्त रूप से अवक्तव्य नहीं है, उसका वर्णन भी किया जा सकता है। किसी ने कहा कि वस्तु के सदसदात्मक उभय-धर्मों को एक साथ न कह सकने के कारण आप उसे अवक्तव्य कहते हैं, लेकिन एक ही वस्तु सत् और असत् कैसे हो सकती है।

आचार्यों द्वारा अवक्तव्य भंग को तीसरा या चौथा स्थान देने में [illegible] रहा है उसके बारे में विचार करते हैं। अवक्तव्य भंग दो प्रकार से उपलब्ध हो सकता है—

(१) आदि के दो भंग रूप से वाच्यता का निषेध करके।

(२) आदि के तीनों भंग रूप से वाच्यता का निषेध करके।

जब प्रथम दो भंग रूप से वाच्यता का निषेध अभिप्रेत हो तब स्वाभाविक रूप से अवक्तव्य का तीसरा स्थान पड़ता है और जब प्रथम के तीनों भंग रूप से वाच्यता का निषेध करके वस्तु को अवक्तव्य कहा जाता है तब स्वभावतः इसको भंगों के क्रम में चौथा स्थान प्राप्त होता है।

अवक्तव्य को तीसरा स्थान देने की स्थिति वेदकालीन प्रतीत होती है, क्योंकि ऋषि ने सत् और असत् रूप से जगत के आदि कारण को अवक्तव्य बताया है। इस दृष्टि से यदि जैन ग्रन्थों में अवक्तव्य को तीसरा स्थान दिया जाता है तो यह इतिहास की दृष्टि से संगत ही है। भगवतीसूत्र में जहाँ भगवान महावीर ने स्याद्वाद के भंगों का विवेचन किया है, वहाँ अवक्तव्य भंग को तीसरा स्थान दिया गया है। अवक्तव्य को चौथा स्थान देने में औपनिषदिक स्थिति का अनुसरण किया गया प्रतीत होता है। माण्डूक्योपनिषद् में चतुष्पाद आत्मा का वर्णन है। उसमें ऋषि ने कहा है—'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं'[1]—न अन्तःप्रज्ञ है, न बहिष्प्रज्ञ है और न उभयप्रज्ञ है। अर्थात् उस आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन अंतःप्रज्ञ आदि तीनों भंगों का निषेध करके किया गया है और उससे यह फलित किया है कि 'अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यम्'[2] ऐसे आत्मा को ही चतुर्थ समझना चाहिये। इस कथन में विधि, निषेध तथा उभय इन तीन भंगों से वाच्यता का निषेध करने वाला चतुर्थ अवक्तव्य भंग विवक्षित है। इस स्थिति में स्याद्वाद के भंगों में अवक्तव्य को तीसरा नहीं किन्तु चौथा स्थान मिलना चाहिये, यह स्पष्ट हो जाता है।

स्याद्वाद के भंगों की विशेषता

भगवान महावीर ने स्याद्वाद के भंगों में विधि आदि उक्त चार भंगों के अतिरिक्त जो अन्य भंगों की भी योजना की है, उनकी क्या विशेषता है? और उनके समन्वय का आधार क्या था? अब इस पर विचार करते हैं।

ऋग्वेद से लेकर भगवान बुद्ध पर्यन्त वस्तु चिन्तन के लिये जो विचारधारा प्रवाहित हुई, उसमें यह तो स्पष्ट हो ही गया कि विधि, निषेध, उभय, अनुभय (अवक्तव्य) यह चार पक्ष वस्तु विचार के लिए उपयोगी माने जाते थे। उस इतर

---

१ माण्डू० ७

२ माण्डू० ७

से अधिक से अधिक इन चार पक्षों द्वारा वस्तु का विचार किया जाता था। उपनिषदों में देखते हैं कि माण्डूक्य को छोड़ कर अन्य ऋषियों ने चारों पक्षों को स्वीकार नहीं किया है। किसी ने सत् पक्ष को, किसी ने असत् पक्ष को, किसी ने उभय पक्ष को और किसी ने अवक्तव्य पक्ष को स्वीकार किया है, लेकिन माण्डूक्य ने चारों पक्षों को स्वीकार किया है।

यह तो हुई वेद और उपनिषद् के ऋषियों की चिन्तनधारा की स्थिति। बुद्ध के अव्याकृत प्रश्नों में भी यही विधि आदि चार पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु उन्होंने प्रश्नों का उत्तर न तो 'हाँ' में दिया है और न 'ना' में ही। किन्तु भगवान महावीर ने चारों पक्षों का समन्वय करके सभी पक्षों को अपेक्षाभेद से स्वीकार किया है। संजयवेलट्ठिपुत्त ने भी विधि आदि चार पक्ष स्वीकार किये हैं, लेकिन संजय के मत और स्याद्वाद में यह भेद है कि स्याद्वाद प्रत्येक भंग को स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है जबकि संजय सिर्फ भंगजाल की रचना करके उन भंगों के विषय में अपना अज्ञान ही प्रकट करता है। भगवान महावीर प्रत्येक भंग को स्वीकार करने की आवश्यकता बताकर विरोधी भंगों के स्वीकार के लिए अपेक्षा का समर्थन करते हैं।

इस प्रकार ऋग्वेद से लेकर तथागत बुद्ध के समय तक प्रवाहित विचारधारा के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी ने वस्तु विचार के लिये एक पक्ष उपस्थित किया सत् या असत् का। उसके विरोध में दूसरा पक्ष उत्पन्न हुआ असत् या सत् का। जब यह दो परस्पर विरोधी पक्ष उपस्थित हुए तो उन दोनों पक्षों का समन्वय करने के लिए कह दिया कि तत्त्व को न सत् कहा जा सकता है और न असत्, वह तो अवक्तव्य है। किसी ने दोनों विरोधी पक्षों को मिलाकर कह दिया कि वह सदसत् है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विचारधारा के तीन पक्ष बन गये—(१) पक्ष (२) विपक्ष (३) समन्वय।

वस्तुतः विचारधारा के उपर्युक्त पक्ष, विपक्ष और समन्वय यही तीन सोपान होते हैं और समन्वय बिन्दु पर आ जाने के बाद अन्य कुछ विचार के लिये अवकाश नहीं रह जाता है। लेकिन इस समन्वय को भी एक पक्ष बनाकर विचारधारा आगे चली तो समन्वय का भी एक विपक्ष बन गया और जब समन्वय को माध्यम बनाकर भी पक्ष-विपक्ष बन गये तो पुनः उनके समन्वय के लिए एक नये समन्वय की कल्पना की जाने लगी। मानवीय स्वभाव की यह विशेषता है कि उसे एकान्त प्रिय नहीं है और न वह उसे सहन ही करता है। अतः वस्तु को ऐकान्तिक अवक्तव्य मान लिया तो उसके विपक्ष में किसी ने कहा कि वस्तु एकान्त रूप से अवक्तव्य नहीं है, उसका वर्णन भी किया जा सकता है। किसी ने कहा कि वस्तु के सदसदात्मक उभय-धर्मों को एक साथ न कह सकने के कारण आप उसे अवक्तव्य कहते हैं, लेकिन एक ही वस्तु सत् और असत् कैसे हो सकती है।

उसमें विरोध है और जहाँ विरोध को एक स्थान पर माना जाता है वहाँ सत्य तिरोहित होता है। सत्य की उपलब्धि में गत्यवरोध होना संभव नहीं है। इस प्रकार भगवान महावीर के समक्ष निम्नलिखित चार ऐकान्तिक पक्ष उपस्थित थे—

(१) पक्ष (२) विपक्ष (३) समन्वय (४) समन्वय का विपक्ष।

इन चारों पक्षों का समन्वय यदि ऐकान्तिक रूप से करने का प्रयास भगवान महावीर द्वारा किया जाता तो पक्ष, विपक्ष, समन्वय के चक्र की गति नहीं रुकती, अतः उन्होंने समन्वय का एक नया मार्ग निकाला, जिससे वह समन्वय स्वयं विपक्ष को जन्म न दे। उनके समन्वय की यह विशेषता है कि वह समन्वय स्वयं पक्ष न बनकर सभी विरोधी पक्षों का यथायोग्य सम्मेलन है। उन्होंने प्रत्येक पक्ष के बलाबल की ओर दृष्टिपात किया। यदि वे उन-उन पक्षों के केवल दौर्बल्य की ओर ध्यान देकर समन्वय करते तो सभी पक्षों का सुमेल होकर भी एकत्र सम्मेलन नहीं होता और पुन किसी विपक्ष के उत्थान का अवसर आ जाता। अतएव उन्होंने प्रत्येक पक्ष की यथार्थता पर ध्यान दिया और सभी पक्षों को वस्तु के दर्शन में यथायोग्य स्थान दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जितने भी अबाधित विरोधी पक्ष थे, उन सबको सत्य बताते हुए प्रगट किया कि सम्पूर्ण सत्य का दर्शन तो उन सभी विरोधी पक्षों को मिलाने से हो सकता है, न कि परस्पर एक-दूसरे का निराकरण करने से।

भगवान महावीर ने विरोधी पक्षों के मिलाने और परस्पर में उनकी सत्ता का अपलाप न हो इसके लिये नयों को आधार बनाया। नय का अर्थ है कि सभी पक्ष, सभी मत पूर्ण सत्य को जानने के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं, किसी एक प्रकार को इतनी प्रधानता नहीं कि वही सत्य है और दूसरा सत्य नहीं है। सभी पक्ष अपनी-अपनी दृष्टि से सत्य हैं और इन्हीं सब दृष्टियों के यथायोग्य संगम से वस्तु के यथार्थ स्वरूप का आभास होता है। नय का क्षेत्र और दृष्टिकोण इतना व्यापक है कि इसमें एक ही वस्तु को जानने के जितने भी मार्ग संभव हो सकते हैं और व्यक्ति कल्पना कर सकता है, वे सब पृथक्-पृथक् रूप से नय का स्थान प्राप्त कर लेते हैं।[1] नय, सुनय तभी कहलाते हैं जब वे अपनी-अपनी मर्यादा में रहें और अपने पक्ष की परिपुष्टि करते हुए भी दूसरे पक्ष का विरोध न करें, दूसरे के विचार मार्ग को अवरुद्ध न करें। लेकिन वे यदि ऐसा नहीं करते हैं तो वे नय न कहलाकर दुर्नय बन जाते हैं और उस अवस्था में विपक्षों का उत्पन्न होना सरल एवं स्वाभाविक है। सारांश यह है कि भगवान महावीर ने नय दृष्टि का अवलंबन लेकर जो समन्वय किया वह इतना व्यापक है कि उसमें सभी मत, सभी विचार और सभी दर्शन अपने-अपने स्थान पर रहकर वस्तु दर्शन में यंत्र के भिन्न-भिन्न अंगों की तरह सहायक होते हैं और उसका सुफल यह निकला कि उनका यह समन्वय अंतिम रहा।

---

१ जावइआ वयणपहा तावइआ चेव हुंति नयवाया। —सन्मति तर्क ३।४७

नय के माध्यम से जितने भी एकान्त हैं, अथवा अनिर्वचनीय प्रश्न हैं, उन सबका समाधान सरलता से हो जाता है। उदाहरण के रूप में संजय के अज्ञानवाद के प्रश्नों को ही ले लें। संजय कहता है कि वस्तु को मैं सत् नही जानता हूँ तो सत् कैसे कहूँ और न असत् जानता हूँ तो असत् कैसे कहूँ इत्यादि। इन अज्ञानवाद के प्रश्नों का समाधान करते हुए भगवान महावीर ने कहा कि वस्तु सत् है, यह भी निश्चित है, और वस्तु असत् है यह भी निश्चित है क्योंकि स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से वस्तु सत् है, इसमें किसी प्रकार का मतभेद नही हो सकता है, यह बात प्रतीति से सहजसिद्ध है और पर-द्रव्य आदि की अपेक्षा असत् है, इसको भी सभी जानते हैं और समझते हैं। इसमे न तो संशय है और न अज्ञान। नयभेद से जब दोनों विरोधी धर्मों को स्वीकार कर लिया जाये तब विरोध भी कैसे माना जा सकता है? अतएव विभिन्न प्राचीन और अर्वाचीन विद्वान स्याद्वाद में जिन संशय, विरोध आदि दोषो का उद्भावन करते है, वे स्याद्वाद मे नही किन्तु संजय के अज्ञानवाद या स्वय उन-उन की विचारधाराओ पर लागू हो सकते हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसा कोई दर्शन नही जो किसी न किसी रूप मे स्याद्वाद को स्वीकार न करता हो। सभी दर्शनो ने अपने-अपने ढग से स्याद्वाद को स्वीकार किया है जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। लेकिन उसका नाम लेते ही दोषापत्ति करने लगते हैं।

स्याद्वाद के भंगों का आगमिक रूप

उक्त कथन के अनन्तर अब आगमो मे आगत स्याद्वाद के रूप का विवेचन करते हैं। भगवान महावीर के स्याद्वाद को ठीक तरह से समझने के लिये भगवती सूत्र में आगत अनेक सूत्र हमारे अच्छे मार्गदर्शक हैं। स्याद्वाद के भगों की संख्या के विषय में भगवान के अभिप्राय, भगवान के अभिप्रेत भगो के साथ प्रचलित सप्त-भंगी के भंगो का संबंध तथा आगमोत्तरकालीन जैन दार्शनिकों का भगो की सात संख्या रखने के आग्रह का कारण क्या था? आदि सभी का स्पष्टीकरण करने के लिये भगवतीसूत्र का निम्नलिखित सूत्र हमें दिशाबोध कराता है।

गणधर गौतम ने भगवान महावीर से प्रश्न पूछा—रत्नप्रभा पृथ्वी आत्मा है या अन्य है? उसके उत्तर मे भगवान ने कहा—

(१) रत्नप्रभा पृथ्वी स्यादात्मा है।

(२) रत्नप्रभा पृथ्वी स्यादात्मा नही है।

(३) रत्नप्रभा पृथ्वी स्यादवक्तव्य है। अर्थात् आत्मा है और आत्मा नही है, इस प्रकार से वह वक्तव्य नही है।

इन तीनों भंगों को सुनकर गौतम ने पुनः जिज्ञासा व्यक्त करते हुए कहा कि आप एक ही पृथ्वी के बारे मे इतने प्रकार से किस अपेक्षा से कहते हैं। प्रत्युत्तर मे भगवान ने बताया—

(१) आत्मा स्व के आदेश से आत्मा है।

(२) पर के आदेश से आत्मा नहीं है।

(३) तदुभय के आदेश से अवक्तव्य है।

गौतम ने रत्नप्रभा पृथ्वी की तरह अन्य सभी पृथिवियों, स्वर्गों, सिद्धशिला के विषय में पूछा और उत्तर भी पूर्ववत् वैसा ही मिला। इसके बाद परमाणु पुद्गल के बारे में भी प्रश्न पूछने पर रत्नप्रभा आदि पृथिवियों संबंधी उत्तर के अनुरूप उत्तर दिया, परन्तु जब द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी चतुष्प्रदेशी, पंचप्रदेशी, षट्प्रदेशी आदि पुद्गल स्कन्धों के बारे में प्रश्न पूछे गये तो उत्तरों की संख्या भी बढ़ती गई। जिनका रूप इस प्रकार है –

द्विप्रदेशी स्कंध के बारे में प्रश्न पूछने पर भगवान महावीर ने कहा—

(१) द्विप्रदेशी स्कंध स्यादात्मा है।

(२) द्विप्रदेशी स्कंध स्यादात्मा नहीं है।

(३) द्विप्रदेशी स्कंध स्यादवक्तव्य है।

(४) द्विप्रदेशी स्कंध स्यादात्मा है और आत्मा नहीं है।

(५) द्विप्रदेशी स्कंध स्यादात्मा है और अवक्तव्य है।

(६) द्विप्रदेशी स्कंध स्यादात्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

इन भंगों की योजना के अपेक्षा कारण के विषय में पूछने पर गौतम को जो उत्तर मिला, वह इस प्रकार है—

(१) द्विप्रदेशिक स्कंध आत्मा के आदेश से आत्मा है।

(२) द्विप्रदेशिक स्कंध पर के आदेश से आत्मा नहीं है।

(३) द्विप्रदेशिक स्कंध तदुभय के आदेश से अवक्तव्य है।

(४) देश[१] आदिष्ट है, सद्भाव पर्यायों से और देश आदिष्ट है असद्भाव पर्यायों से। अतएव द्विप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा है और आत्मा नहीं है।

(५) देश आदिष्ट है सद्भाव पर्यायों से और देश आदिष्ट है तदुभय पर्यायों से। अतएव द्विप्रदेशिक स्कंध आत्मा है और अवक्तव्य है।

(६) देश आदिष्ट है असद्भाव पर्यायों से और देश आदिष्ट है तदुभय पर्यायों से। अतएव द्विप्रदेशिक स्कन्ध आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

इसके बाद गणधर गौतम ने त्रिप्रदेशिक स्कंध के विषय में वैसा ही प्रश्न पूछा। जिसका उत्तर निम्नलिखित भंगों में मिला—

---

१ एक ही स्कन्ध के भिन्न-भिन्न अंशों में विवक्षाभेद का आश्रय लेने से चौथे से आगे के सभी भंग होते हैं। इन्हीं विकलादेशी भंगों को दिखाने की प्रक्रिया इस वाक्य से प्रारंभ होती है।

(११) देश आदिष्ट है असद्भाव पर्यायों से और (२) देश आदिष्ट है तदुभय पर्यायों से। अतएव त्रिप्रदेशिक स्कंध आत्मा नहीं है और (२) अवक्तव्य है।

(१२) (२) देश आदिष्ट है असद्भाव पर्यायों से और देश आदिष्ट है तदुभय पर्यायों से। अतएव त्रिप्रदेशिक स्कंध (२) आत्मायें नहीं है और अवक्तव्य है।

(१३) देश आदिष्ट है सद्भाव पर्यायों से, देश आदिष्ट है असद्भाव पर्यायों से और देश आदिष्ट है तदुभय पर्यायों से अतएव त्रिप्रदेशिक स्कंध आत्मा है, आत्मा नहीं है और अवक्तव्य है।

इसके बाद गणधर गौतम ने चतुष्प्रदेशी, पंचप्रदेशी, षट्प्रदेशी आदि पुद्गल स्कंधों के बारे में प्रश्न पूछे तो उत्तरों की संख्या बढ़ती गई जो क्रमशः उन्नीस, बाईस, तेईस आदि तक पहुँच गई और उनकी अपेक्षायें भी उतनी ही हो गई।[1] यदि उनसे अधिक प्रदेशबहुलपुद्गल स्कंधों के बारे में प्रश्न पूछे जाते तो भंगों की संख्या भी अपेक्षाभेद के कारणसहित और भी अधिक हो सकती थी।[2]

इन प्रश्नोत्तरों और भगवतीसूत्र १२।१०।४६८ के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि—

(१) विधिरूप और निषेधरूप इन्हीं दोनों विरोधी धर्मों को स्वीकार करने से स्याद्वाद के भंगों का उत्थान होता है।

(२) दो विरोधी धर्मों के आधार पर विवक्षाभेद से शेष भंगों की रचना होती है।

(३) मौलिक दो भंगों के लिये और शेष सभी भंगों के लिये अपेक्षा कारण अवश्य होना चाहिये। प्रत्येक भंग के लिये स्वतंत्र दृष्टि या अपेक्षा[3] का होना आवश्यक है।

(४) अपेक्षाओं की सूचना के लिये प्रत्येक भंग वाक्य में 'स्यात्' यह पद रखा जाता है। इसी से इस वाद को स्याद्वाद कहा जाता है।

(५) जिस वाक्य में साक्षात् अपेक्षा का उपादान हो तो 'स्यात्' पद का प्रयोग नहीं किया जाता है किन्तु जहाँ अपेक्षा का साक्षात् उपादान नहीं है वहाँ स्यात् का प्रयोग होता है।

---

1 गणधर गौतम के प्रश्नोत्तरों तथा भंगभेदों के अपेक्षा कारणों को जानने के लिये भगवती सूत्र १२।१०।४६८ देखिये।

2 भंगों की योजना का कौशल देखने के लिये भगवतीसूत्र ८।१५ आदि देखना चाहिये।

3 प्रत्येक भंग को स्वीकार क्यों किया जाता है? इस प्रश्न का स्पष्टीकरण जिससे हो, उसे अपेक्षा कहते हैं। आदेश, दृष्टि, नय यह अपेक्षा के दूसरे नाम हैं।

(६) स्याद्वाद के भंगों में से प्रथम चार भंगों की सामग्री अर्थात् चार विरोधी पक्ष तो भगवान महावीर के सामने थे, जिनके आधार पर स्याद्वाद के प्रथम चार भंगों की योजना की गई। शेष भंगों की योजना भगवान की अपनी है, ऐसा प्रतीत होता है। जो प्रथम चारों का विशिष्ट रीति से सम्मेलन है।

(७) स्याद्वाद के भंगों में सभी विरोधी धर्म युगलों को लेकर सात ही भंग हो सकते हैं, न कम और न अधिक ऐसी जो जैन दार्शनिकों ने व्यवस्था की है, वह उचित है। क्योंकि त्रिप्रदेशिक स्कंध और उससे अधिक प्रदेशिक स्कन्धों के भंगों की संख्या जो सूत्र में बताई है उससे मालूम होता है कि मूल भाग भंग तो वे ही हैं जो जैन दार्शनिकों ने अपनी सप्तभंगी की विवेचना में माने हैं। जो अधिक भंग हैं, वे मौलिक भंगों के भेद के कारण नहीं हैं किन्तु एकवचन, बहुवचन के भेद की विवक्षा के कारण ही है। यदि वचनभेद कृत संख्यावृद्धि को निकाल दिया जाये तो मौलिक भंग सात ही रह जाते हैं और आगमों में सप्तभंगी है, यह सिद्ध हो जाता है।

(८) अवक्तव्य को आगमों में तीसरा भंग माना है। उसे चौथा स्थान नहीं दिया गया है जैसा कुछ जैन दार्शनिकों ने दिया है।

(९) सकलादेश और विकलादेश की कल्पना भी आगमिक सप्तभंगी में है। आदि के तीन भंग सकलादेशी हैं और शेष भंग विकलादेशी। अर्थात् अस्ति, नास्ति, और अवक्तव्य यह तीन सकलादेशी भंग हैं और अस्ति-नास्ति, अस्ति-अवक्तव्य, नास्ति-अवक्तव्य, अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य यह चार विकलादेशी भंग हैं।

इस प्रकार आगमों से स्याद्वाद के भंगों का रूप प्राप्त होता है। जिनका उत्तरवर्ती आचार्यों ने विविध प्रकार से व्याख्यान करके जन-साधारण के लिये सरल बना दिया और चिन्तन, मनन हेतु विद्वानों को सही दृष्टिकोण दिया। इसके साथ यह भी समझ लेना चाहिये कि भगवान महावीर ने जो विविध भंगों की योजना प्रस्तुत की है वह जनसाधारण को समझाने के लिये की है। कहीं एक भंग, कहीं दो, कहीं तीन आदि रूप से वस्तुतत्त्व के विवेचन में भंगों का उपयोग किया है। उनका भंगों के लिये आग्रह नहीं है किन्तु वस्तुतत्त्व का बोध कराने के लिये, श्रोता को समझाने में सरलता की दृष्टि से भंग विवक्षा और उसकी अपेक्षा का कारण बताया है। इन सब भंग विवक्षाओं को अपेक्षा के कारण सहित जानने के लिये स्थानांग, भगवती आदि आगम हमारे लिये सहायक हैं।

विरोध परिहार का माध्यम : नय

स्याद्वाद और सप्तभंगी के बारे में आगमकालीन दृष्टि को जान लेने के बाद यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि भगवान महावीर ने विरोध का परिहार किस आधार से किया? एक ही धर्मी में अनेक धर्मों को स्वीकार करने का आधार क्या है? विरोधों का परिहार करने में कठिनाई न आने का कारण क्या रहा?

सामान्य रूप मे तो यो कहा जा सकता है कि उन विरोधों ने ही सब क
परिहार करने की सामग्री उपस्थित कर दी। भगवान महावीर ने विचारकों की
सभी दृष्टियों को देखा कि जितने भी मत, पक्ष या दर्शन हैं, वे सब अपना-अपना ए
विधेय पक्ष तो स्वयं स्थापित करते हैं और विपक्ष का निराकरण। ऐसा क्यों करते
और इसका कारण क्या है? इस प्रकार की मीमांसा करने से प्रतीत हुआ कि ना
मनुष्यो के वस्तु-दर्शन मे जो भेद हो जाता है, उसका कारण केवल वस्तु की अने
रूपता या अनेकान्तात्मकता ही नही बल्कि नाना मनुष्यो के देखने के प्रकार
अनेकता या नानारूपता भी है। इसीलिये उन्होंने सभी मतो को, दर्शनो को, ए
रूप के दर्शन मे योग्य स्थान दिया किन्तु उनमें से किसी का निरास नहीं किया
निरास यदि किया है तो प्रत्येक मत के एकान्त आग्रह रूप विष का, जो कदाग्रह
जनक है। कदाग्रह के कारण ही व्यक्ति अपने ही पक्ष को, अपने ही मत या दर्शन
सत्य और दूसरो के मत, दर्शन या पक्ष को मिथ्या मानता है। इसीलिये उन्हें
एकान्तरूप विष को निकाल कर सभी एकान्तिक दृष्टियो के समन्वय द्वा
अनेकान्तवाद, स्याद्वाद रूप अमृत का निर्माण कर दिया। परिणाम यह हुआ कि
सभी एकान्तिक दृष्टियाँ स्वयमेव आपेक्षिक दृष्टियाँ बन गयी। कदाग्रह कैसे दूर
और विभिन्न दृष्टियो मे सचाई का आधार क्या है? इस कारण की शोध करके उ
दृष्टि के समर्थन मे उस कारण को बता देना यही कार्य भगवान महावीर ने अप
नयवाद के व्याख्यान द्वारा किया और पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने इसी नयवा
का आश्रय लेकर स्याद्वाद, अनेकान्तवाद —सापेक्षवाद को विविध पक्षो की भूमिक
पर प्रतिष्ठित कर दिया।

एक ही वस्तु के विषय मे जो नाना मतों की सृष्टि होती है, उसके कारण
है दर्शन की रुचि और शक्ति एव पदार्थ की उपस्थिति की देशकालिक स्थिति
उसकी सूक्ष्म-स्थूल विविध अवस्थायें आदि। ये सब कारण दर्शक को पदार्थ-
दर्शन के लिये विभिन्न मतों के निर्माण मे निमित्त बनते हैं और उनके मत के निर्णय
के आधार। उन कारणो की व्यक्तिशः गणना करना कठिन है। इनमे अनेकता के
प्रकार असख्य हो सकते हैं। एक ही व्यक्ति की प्रतिक्षण परिवर्तन करने वाली
प्रकृति ही जब अनेक रूप है तब अनेक व्यक्तियो की दृष्टि मे तो अनेकता उन
प्रकारो से भी अनेक गुनी होगी जिनकी गणना करना असंभव है। ये अनेक दृष्टियाँ
ही तो नय है। अर्थात् जितने विचार, जितने वचन हैं, उतने ही नय होगे।[1] लेकिन
इन सबका वर्गीकरण करने के लिये भगवान महावीर ने वस्तु के अवस्थान और दर्शक
की क्षमता को ध्यान मे रखकर चार वर्ग बनाये—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।
इनमें से द्रव्य तथा भाव का सबध पदार्थ से और क्षेत्र एवं काल का सबंध द्रष्टा से

---

१ जावइआ वयणपहा तावइआ चेव हुंति नयवाया।

—सन्मति तर्क ३।४७

है। द्रष्टा इन्हीं चार प्रकारों के आधार से वस्तु को देखता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वस्तु का जो कुछ भी रूप है और द्रष्टा जिस किसी भी दृष्टि से वस्तु दर्शन करे, उन सबका द्रव्य आदि चारों में से किसी न किसी एक में अन्तर्भाव होगा।

भगवान महावीर ने कई प्रकार के विरोधों का परिहार द्रव्य आदि उक्त चारों प्रकार के आधार से किया है। जैसे कि लोक की सान्तता और अनंतता, जीव की नित्यानित्यता आदि। कई के परिहार के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव इन पाँच का और कई एक के लिए इससे अधिक प्रकारों का आश्रय लिया है। लेकिन उन सबका समावेश द्रव्यादि चारों प्रकारों में हो जाता है। जब द्रव्यादि चार से अधिक प्रकार किये तो वे स्वतंत्र प्रकार न होकर द्रव्यादि में से किसी एक के अवान्तर प्रकार हैं। जैसे पाँच प्रकारों में भव एक नया पृथक् प्रकार न होकर भाव का ही अवान्तर प्रकार है और उसको भाव से अलग स्थान दे दिया है। जब किसी वस्तु को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण से पाँच प्रकार का बताया तब गुणदृष्टि को जो भाव का ही एक अंग है, अलग स्थान दे दिया और जब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव और संस्थान इन छह दृष्टियों से वस्तु का कथन किया, तब भाव के विशेषरूप भव और संस्थान को अलग-अलग स्थान दे दिया। यही बात अन्य प्रकारों के बारे में भी समझनी चाहिए। इसका विशेष स्पष्टीकरण नीचे करते हैं।

भगवान महावीर ने एकान्तिक विचारधाराओं के विरोध-परिहार के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ये चार दृष्टियाँ अपनाईं। इन्हीं के आधार पर प्रत्येक वस्तु के भी चार प्रकार हो जाते हैं। अर्थात् द्रष्टा के पास ये चार दृष्टियाँ—अपेक्षायें और आदेश हैं, जिनसे वह वस्तु-दर्शन करता है। ये द्रव्यादि चार प्रधान दृष्टियाँ मध्यम-मार्ग के रूप में मानी गई हैं। लेकिन चार से अधिक दृष्टियों को बताते समय भाव के अवान्तर भेदों को ही भाव से पृथक् करके स्वतंत्र स्थान दिया गया है, ऐसा अपेक्षा-भेदों को देखने से स्पष्ट हो जाता है। जैसे कि धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों को जब द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव और गुण दृष्टि से पाँच प्रकार का बताया तब भावविशेष गुण-दृष्टि को अलग स्थान दे दिया। क्योंकि गुण वस्तुतः अलग नहीं हैं किन्तु भाव ही हैं। जब करण के पाँच प्रकार—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव के भेद से बताये तब वहाँ भी प्रयोजनवशात् भावविशेष भव को पृथक् स्थान दे दिया। इसी प्रकार जब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव और संस्थान इन छह दृष्टियों से तुल्यता का विचार किया तब वहाँ भी भावविशेष भव और संस्थान को स्वतंत्र स्थान दिया गया है। अतए वस्तुतः मध्यम मार्ग में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये चार दृष्टियाँ ही प्रधान रू से सिद्ध होती हैं।

द्रव्यादि उक्त चारों प्रकारों का संक्षेप जिन दो नयों, आदेशों या दृष्टियो किया गया है, वे हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। वस्तुतः देखा जाये तो काल देश के भेद से द्रव्यों में विशेषतायें होती हैं। किसी भी विशेषता को काल या दे

क्षेत्र से मुक्त नही किया जा सकता है, अन्य कारणों के साथ काल और देश भी उप-रण कारण होते हैं। अर्थात् पर्यायें क्षेत्र और काल के आधार पर बनती हैं। पर्यायें प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं और वे किसी न किसी काल व क्षेत्राधार से परिवर्तित होती रहती हैं। पर्यायो का लक्षण ही परिवर्तित होते रहना है। अतएव पर्यायों का कारण होने से क्षेत्र और काल का पर्याय में समावेश हो जाता है। भाव यानी गुण, द्रव्य से पृथक् अस्तित्व नही रखते, वे सदैव द्रव्याश्रित रहते हैं, इसीलिए भाव का समावेश द्रव्य मे कर लिया जाता है। इस प्रकार द्रव्य और भाव का एकीकरण द्रव्यार्थिकनय है और क्षेत्र तथा काल का एकीकरण पर्यायार्थिकनय। इसलिए आचार्य सिद्धसेन के शब्दो मे यों कह सकते हैं कि आगमों में जो भगवद् वाणी संकलित है, उसमे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों दृष्टियों का सामंजस्य है और जो भी अवान्तरभेद हैं, ये सब इन दोनों नयों की शाखा-प्रशाखायें हैं।

यद्यपि आगमों मे मूल सात नयों[1] की गणना की गई है किन्तु सातों के मूल में भी ये दो नय ही हैं। यदि आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के मतानुसार 'जितने वचन प्रकार हो सकते हैं उतने ही नय होते हैं'—असंख्य नयों की भी कल्पना की जाये तब भी उन सभी नयो का समावेश इन्ही दो दृष्टियों, नयो मे हो जाता है। यही इन दोनों दृष्टियो की व्यापकता है।

भगवान महावीर ने अनेक तत्त्वों के विवेचन मे इन्हीं द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टियों का आश्रय लिया है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो दृष्टियों से भगवान का क्या अभिप्राय था ? यह भगवती सूत्र में आगत वर्णन से स्पष्ट हो जाता है। जैसे कि नारकों की शाश्वतता और अशाश्वतता का कथन करते हुए कहा है—अव्युच्छित्तिनयापेक्षा शाश्वत और व्युच्छित्तिनयापेक्षा अशाश्वत है[2]। इसी प्रकार से आत्मा की एकानेकता को उद्घाटित करने के लिए भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों का आश्रय लिया है।[3] भिन्नाभिन्न, नित्यानित्य आदि भेदों को भी घटित करने के लिए द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयो की विवक्षा अपनाई गई है।

---

१ अनुयोगद्वार सूत्र १५६, स्थानांग ५५२

२ नेरइया णं भंते ! किं सासया असासया ? गोयमा ! सिय सासया सिय असासया। से केणट्ठेणं भंते !····अव्वोच्छित्तिणयट्ठयाए सासया, वोच्छित्तिणयट्ठयाए असासया।

—भगवती ७।३।२७९

३ सोमिला ! दव्वट्ठयाए एगे अहं नाणदंसणट्ठयाए दुविहं अहं, पएसट्ठयाए अक्खए वि अहं अव्वए वि अहं अवट्ठिए वि अहं, उवओगट्ठयाए अणेगभूयभावभविए वि अहं।

—भगवती १८।१०।६४७

इन शाश्वत-अशाश्वत, एक-अनेक, भिन्न-अभिन्न, नित्य-अनित्य आदि के दृष्टि-कोणों को समन्वित करने की भूमिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु की नित्यता का प्रतिपादन द्रव्य दृष्टि करती है और अनित्यता का पर्याय दृष्टि। यानी द्रव्य नित्य है और पर्याय अनित्य। इसके अतिरिक्त यह भी फलित होता है कि द्रव्यार्थिकनय दृष्टि अभेदगामी है और पर्यायार्थिक नय दृष्टि भेदगामी। क्योंकि अभेद का आधार नित्य होना है और भेद का आधार अनित्य। नित्य में अभेद होता है और अनित्य मे भेद। द्रव्यदृष्टि एकत्वगामी है और पर्यायदृष्टि अनेकत्वगामी, क्योंकि नित्य एकरूप होता है और अनित्य एक रूप नहीं होता है। इस प्रकार से जितनी भी आपेक्षिक दृष्टियां हो सकती हैं, जो परस्पर एक-दूसरे की प्रतिपक्षी हैं, वे सब द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के आश्रित ही रहेंगी। किन्ही का आधार द्रव्य दृष्टि होगी तो किन्ही का पर्याय दृष्टि। इन दोनों के अतिरिक्त कोई भी दृष्टि होती नहीं है, कोई वचन-व्यवहार होता नहीं है और द्रव्य मे स्वयं विद्यमान अनन्त धर्म इन द्रव्य और पर्यायों के माध्यम से ही अभिव्यक्त होते हैं। इस प्रकार द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उनमें सभी दृष्टियों का समावेश हो जाता है।

विच्छेद और अविच्छेद ये दोनों कालकृत, देशकृत और वस्तुकृत होते हैं। कालकृत विच्छिन्न को अनित्य, देशकृत विच्छिन्न को भिन्न और वस्तुकृत विच्छिन्न को अनेक तथा काल से अविच्छिन्न को नित्य, देश से अविच्छिन्न को अभिन्न और वस्तुकृत अविच्छिन्न को एक कहा जाता है।

भगवती सूत्र में पर्यायार्थिक के स्थान पर भावार्थिक शब्द का भी उपयोग किया है—

'से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जीवा सिय सासया सिय असासया ? गोयमा, दव्वट्ठयाए सासया भावट्ठयाए असासया।

—भगवती ७।२।२७३

उक्त सूत्र में भावार्थिक शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि पर्याय और भाव दोनों एकार्थक हैं।

कहीं-कहीं वस्तु के वर्णन के लिए जिस प्रकार वस्तु को द्रव्य और पर्याय दृष्टि से देखा जाता है उसी प्रकार द्रव्य और प्रदेश दृष्टि को भी अंगीकार किया है।[१] भगवान महावीर ने अपने आप में द्रव्यदृष्टि, पर्यायदृष्टि, प्रदेशदृष्टि और गुणदृष्टि से नाना विरोधी धर्मों का समन्वय करते हुए बताया है कि मैं द्रव्यदृष्टि से एक हूँ। ज्ञान और दर्शन रूप दो पर्यायों की अपेक्षा से दो हूँ। प्रदेश दृष्टि से तो मैं अक्षय हूँ, अव्यय हूँ, अवस्थित हूँ, जबकि उपयोग की दृष्टि से अस्थिर हूँ। क्योंकि अनेक भूत, वर्तमान

१ भगवती १८।१०, २३।३, २३।४

और भावी परिणामों की योग्यता रखता है[1]। इससे स्पष्ट है कि यहाँ उन्होंने पर्यायदृष्टि से भिन्न एक प्रदेशदृष्टि को भी माना है। लेकिन इतना ध्यान रखना चाहिए कि प्रस्तुत स्थल में उन्होंने प्रदेशदृष्टि का उपयोग आत्मा के अव्यय, अक्षय और अवस्थित धर्मों के बताने में किया है। क्योंकि पुद्गल प्रदेश की तरह आत्मप्रदेश व्ययशील, अनवस्थित और क्षयधर्मी नहीं हैं। आत्मप्रदेशों में न्यूनाधिकता नहीं होती है। इसीलिए इस दृष्टिबिन्दु को सामने रखकर प्रदेशदृष्टि से आत्मा का अव्यय आदि रूप से वर्णन किया है।

पर्याय और प्रदेश में यह अन्तर है कि एक ही द्रव्य की नाना अवस्थाओं या एक ही द्रव्य के देश काल-कृत नाना रूप पर्याय तथा द्रव्य के अवयव प्रदेश कहे जाते हैं। जैनदर्शन के मतानुसार कुछ द्रव्यों के प्रदेश नियत हैं और कुछ के अनियत। जैसे एक जीव, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय व एक पुद्गल परमाणु के प्रदेश नियत हैं कि धर्म, अधर्म व एक जीव के प्रदेश असंख्य होते हैं, आकाश के अनन्त प्रदेश हैं, पुद्गल परमाणु एक प्रदेशी है[2] लेकिन पुद्गलस्कंध के प्रदेशों के लिए यह नियम नहीं है। उनमें न्यूनाधिकता होती रहती है कि कोई स्कंध संख्यातप्रदेशी, कोई असंख्यात प्रदेशी और कोई अनन्तप्रदेशी है[3]। प्रदेश अंश है और द्रव्य अंशी। इन दोनों का परस्पर तादात्म्य होने से एक ही वस्तु द्रव्य और प्रदेश विषयक भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखी जा सकती है और इस प्रकार देखने पर विरोधी धर्मों का समन्वय एक वस्तु में घटित हो जाता है।

प्रदेशार्थिक दृष्टि का यह भी उपयोग है कि द्रव्यदृष्टि से एक वस्तु में एकता ही होती है किन्तु उसी वस्तु की अनेकता प्रदेशार्थिक दृष्टि से बताई जाती है। क्योंकि प्रदेश अनेक होते हैं। जैसे धर्मास्तिकाय द्रव्यदृष्टि से एक है और प्रदेशार्थिक दृष्टि से असंख्यात प्रदेशी है। द्रव्य की तुल्यता और अतुल्यता की निर्णायक भी यही प्रदेशार्थिक दृष्टि है। जैसे कि धर्म, अधर्म और आकाश अस्तिकाय द्रव्य दृष्टि से एक-एक होने से तुल्य हैं, लेकिन असंख्यात प्रदेशी होने से धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय ही तुल्य हैं और आकाशास्तिकाय अनन्तप्रदेशी होने से अतुल्य है। इसी प्रकार अन्य द्रव्यों में भी

---

१ भगवतीसूत्र १८।१०।६४६

२ (क) असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्। आकाशस्यानन्ताः। नाणोः।
अर्थात् पुद्गल के संख्यात आदि प्रदेश नहीं होते हैं, वह एकप्रदेशी है।

—तत्त्वार्थसूत्र ५।८-११

(ख) चत्तारि पएसग्गेणं तुल्ला असंखेज्जा पण्णत्ता तं जहा—धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए लोगागासे एगे जीवे।

—स्थानांग ४।३।३।१४

आगासत्थिकाए पएसट्ठयाए अणंतगुणे।

—प्रज्ञापना ३।४१

३ संख्येयासंख्येयानन्ताः पुद्गलानाम्।

—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५

इन द्रव्य व प्रदेश दृष्टियों के द्वारा तुल्यता, अतुल्यता रूप विरोधी धर्मों और संख्याओं का समन्वय भी हो जाता है।

दार्शनिक संघर्षों का समन्वय करने के लिए भगवान महावीर ने नयों का एक दूसरे प्रकार का भी विधान किया है, जिन्हें निश्चयनय और व्यवहारनय कहते हैं। तत्कालीन दार्शनिकों में यह संघर्ष चलता रहता था कि वस्तु का कौनसा रूप सत्य है—इन्द्रियगम्य या इन्द्रियातीत प्रज्ञागम्य ? उपनिषदों के ऋषि तो प्रज्ञागम्य रूप का आश्रय लेकर यह मानते थे कि आत्माद्वैत ही परमतत्त्व है और उसके अतिरिक्त दृश्यमान जगत विकार है, उसमें कोई तथ्य नहीं है। लेकिन भूतवादी चार्वाक इन्द्रियगम्य वस्तु को ही परमतत्त्व मानते थे। इस प्रकार उस समय के दार्शनिकों में मतैक्य नहीं था और इन्द्रियगम्य व प्रज्ञागम्य रूप को मुख्य मानकर उनमें वैचारिक संघर्ष चलता रहता था। विरोध इस पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ था कि वे एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझना भी नहीं चाहते थे और अपने-अपने आग्रह पर दृढ़ थे। इसके साथ ही अपना-अपना चिन्तन व्यक्त करके परस्पर एक-दूसरे पर दोषारोपण भी करते रहते थे। इस विरोध के समन्वय का मार्ग निकाला भगवान महावीर ने निश्चय और व्यवहार नय दृष्टि के द्वारा। उन्होंने कहा कि अपने-अपने क्षेत्रों में दोनों दृष्टियाँ सत्य हैं। एकान्त रूप से न तो व्यावहारिक सभी मिथ्या हैं और न नैश्चयिक ही सत्य। उन्होंने कहा कि व्यवहार में लोक इन्द्रियों के दर्शन की प्रधानता से वस्तु के स्थूल रूप का निर्णय करते हैं और वह सत्य माना जाता है, अतः यह व्यवहार नय है किन्तु इस स्थूल रूप के अलावा वस्तु का सूक्ष्म रूप भी होता है जो ज्ञानगम्य है और यही प्रज्ञा (ज्ञान) मार्ग नैश्चयिक नय है। इन दोनों के द्वारा वस्तु का सम्पूर्ण—अन्तर और बाह्य—दर्शन होता है।

भगवान महावीर ने निश्चय और व्यवहार[1] इन दोनों नयों का उपयोग दार्शनिक जगत के वैचारिक संघर्ष को शान्त करने के लिए वस्तु स्वरूप का दर्शन करने में किया जिसके आधार से उत्तरकालीन आचार्यों ने तत्त्वज्ञान के अनेक प्रसंगों पर प्रत्येक स्थिति का समन्वय करके एवं आचार के क्षेत्र में भी इन दोनों नयों का व्यवहार करके विरोध का परिहार किया है।

नयदृष्टि के संबंध में भगवान महावीर के उक्त समग्र कथन का सारांश यह है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार अपेक्षाओं के आधार से दर्शक वस्तुदर्शन करता है। ये द्रव्यादि चारों प्रकार संक्षेप में द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक इन दोनों नयों में संगृहीत हो जाते हैं। इनके द्वारा वस्तु की नित्यानित्यता, भेदाभेदता, एकानेकता आदि को सिद्ध किया जा सकता है। कहीं वस्तु तत्त्व के विश्लेषण के लिये द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि को स्वीकार किया है और कहीं निश्चय एवं

---

१ *निश्चय व व्यवहार नय दृष्टि को समझने के लिए भगवती १८।६ द्रष्टव्य है।*

व्यवहार दृष्टि की मुख्यता-गौणता द्वारा सत्य को प्रतिपादित करने की शैली आती है और ये जितनी भी दृष्टियां हैं। ये सब नय हैं। जब तक उक्त सभी प्रकार के नयों को न समझा जाये तब तक अनेकान्तवाद—स्याद्वाद का ठीक आशय समझ में नहीं आ सकता है। ये नय-दृष्टियां स्याद्वाद की आधारशिला हैं। आगमों में जो नैगम आदि सात नयों के नाम बताये गये हैं वे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नय-दृष्टियों का मध्यममार्गीय वर्गीकरण है। वैसे तो जितने वचन प्रकार हैं, कथन करने की शैलियां हैं और अभिप्राय व्यक्त करने की दृष्टियां हैं, वे सब नय हैं, लेकिन उनका नैगम आदि सात नयों में और सात नयों का भी द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों में समावेश हो जाता है।

अव्याकृत प्रश्न : महावीर का समाधान

भगवान महावीर की स्याद्वादात्मक दृष्टि के आधार से पूर्व में उल्लिखित तथागत बुद्ध के—लोक शाश्वत है क्या ? लोक अशाश्वत है क्या ? आदि दस अव्याकृत प्रश्नों का समाधान यहां प्रस्तुत किया जाता है।

तथागत बुद्ध के दस अव्याकृत प्रश्नों में से प्रथम चार—क्या लोक शाश्वत है ? क्या लोक अशाश्वत है ? क्या लोक अन्तवान है ? क्या लोक अनंत है—को लोक की नित्यता-अनित्यता और सान्तता-निरन्तता में गर्भित किया जा सकता है। जीव और शरीर एक है ? जीव और शरीर भिन्न हैं ? को जीव-शरीर के भेदाभेद में, तथा मरने के बाद तथागत होते हैं ? मरने के बाद तथागत नहीं होते हैं ? मरने के बाद तथागत होते भी और नहीं भी होते हैं ? मरने के बाद तथागत न होते हैं, और नहीं होते हैं ? इन चार को जीव की नित्यता-अनित्यता में समाविष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार ये दस अव्याकृत प्रश्न संक्षेप में तीन प्रश्न हैं—(१) लोक की नित्यता-अनित्यता और सान्तता-निरन्तता, (२) जीव-शरीर का भेदाभेद और (३) जीव की नित्यता-अनित्यता। तथागतबुद्ध ने तो किसी एक वाद में पड़ जाने के भय से इनका निषेधात्मक उत्तर दिया लेकिन भगवान महावीर ने अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर विधिरूप से समाधान किया है। सर्वप्रथम लोक की नित्यता-अनित्यता, सान्तता-अनन्तता के बारे में भगवान के समाधान को प्रस्तुत करते हैं।

लोक की सान्तता और अनन्तता के बारे में भगवान महावीर द्वारा किया गया स्पष्टीकरण भगवती सूत्र के स्कन्दक परिव्राजक अधिकार (२।१।९) में उपलब्ध है। उसमें स्कंदक परिव्राजक द्वारा लोक की सान्तता-अनन्तता के बारे में प्रश्न पूछने पर भगवान महावीर ने बताया कि लोक द्रव्य की अपेक्षा से सान्त है किन्तु भाव अर्थात् पर्यायों की अपेक्षा अनन्त है। क्योंकि लोक द्रव्य की पर्याएं अनन्त हैं। काल की अपेक्षा से लोक अनन्त है और क्षेत्र की अपेक्षा सान्त है। क्योंकि ऐसा कोई काल नहीं जब लोक का अस्तित्व न हो अतः अनन्त है और सम्पूर्ण आकाश क्षेत्र में से लोक का अवस्थान कुछ ही क्षेत्र में है, सर्वत्र नहीं है इसीलिए क्षेत्रापेक्षा लोक सान्त है

अर्थात् लोक द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा सान्त है और भाव व काल की अपेक्षा अनन्त है। लोक के सान्त, अनन्त होने सम्बन्धी भगवती सूत्र का पाठ निम्न प्रकार है—

एवं खलु मए खंदया! चउव्विहे लोए पन्नत्ते त जहा—दव्वओ खेत्तओ, कालओ, भावओ।

दव्वओ णं एगे लोए सअंते।

खेत्तओ णं लोए असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेणं असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेण पन्नत्ता अत्थि पुण सअंते।

कालओ ण लोए ण कयावि न आसी न कयावि न भवति न कयावि न भविस्सति, भविंसु य भवति य भविस्सइ य धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे णत्थि पुण से अन्ते।

भावओ णं लोए अणंता वण्णपज्जवा गंधपज्जवा रसपज्जवा फास-पज्जवा, अणंता संठाणपज्जवा, अणंता गुरुयलहुयपज्जवा, अणंता अगुरुयल-हुयपज्जवा, नत्थि पुण से अन्ते।

से त्तं खंदगा! दव्वओ लोए सअंते, खेत्तओ लोए सअंते कालतो लोए अणंते भावओ लोए अणंते।

उक्त उद्धरण में सान्त और अनन्त शब्दों की मुख्यता से अनेकान्तवाद की स्थापना की गई है। तथागतबुद्ध ने लोक की सान्तता और अनन्तता इन दोनों कोटियों को अव्याकृत कहा है लेकिन भगवान महावीर ने अपेक्षाभेद से लोक को सान्त और अनन्त बताया है।

लोक की सान्तता और अनन्तता की तरह शाश्वतता और अशाश्वतता को तथागत बुद्ध ने अव्याकृत माना है, लेकिन भगवान महावीर ने उसका समाधान शाश्वतता और अशाश्वतता को आपेक्षिक मान कर दिया है। यह भगवती ९।६।३८७ में जमाली को दिये गये उत्तर से स्पष्ट हो जाता है—

जमाली! लोक[1] शाश्वत है और अशाश्वत भी है। त्रिकाल में ऐसा एक भी समय नहीं हुआ जब लोक किसी न किसी रूप में न हो, अतएव वह शाश्वत है किन्तु वह अशाश्वत भी है, क्योंकि लोक हमेशा एक रूप में तो रहता नहीं है, उसमें अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के कारण अवनति और उन्नति भी देखी जाती है। एक रूप में, सर्वथा शाश्वत में परिवर्तन नहीं होता अतएव उसे अशाश्वत भी मानना चाहिए। समाधान का सूत्रपाठ इस प्रकार है—

---

१ लोक के स्वरूप के बारे में भगवान महावीर का अभिप्राय है कि पंचअस्तिकाय धर्म, अधर्म, आकाश, जीव पुद्गल ये पंच-अस्तिकाय हैं।

व्यवहार दृष्टि की मुख्यता-गौणता द्वारा सत्य को प्रतिपादित करने की शैली बतलाई है और ये जितनी भी दृष्टियाँ है। वे सब नय हैं। जब तक उक्त सभी प्रकार के नयों को न समझा जाये तब तक अनेकांतवाद—स्याद्वाद का ठीक आशय समझ में नही आ सकता है। ये नय-दृष्टिया स्याद्वाद की आधारशिला हैं। आगमों मे जो नैगम आदि सात नयो के नाम बताये गये हैं वे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नय-दृष्टियो का मध्यममार्गीय वर्गीकरण है। वैसे तो जितने वचन प्रकार हैं, कथन करने की शैलियाँ हैं और अभिप्राय व्यक्त करने की दृष्टियाँ हैं, वे सब नय हैं, लेकिन उनका नैगम आदि सात नयो मे और सात नयों का भी द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों में समावेश हो जाता है।

अव्याकृत प्रश्न : महावीर का समाधान

भगवान महावीर की स्याद्वादात्मक दृष्टि के आधार से पूर्व मे उल्लिखित तथागत बुद्ध के—लोक शाश्वत है क्या ? लोक अशाश्वत है क्या ? आदि दस अव्याकृत प्रश्नो का समाधान यहां प्रस्तुत किया जाता है।

तथागत बुद्ध के दस अव्याकृत प्रश्नों मे से प्रथम चार—क्या लोक शाश्वत है ? क्या लोक अशाश्वत है ? क्या लोक अन्तवान है ? क्या लोक अनंत है—को लोक की नित्यता-अनित्यता और सान्तता-निरन्तता में गर्भित किया जा सकता है। जीव और शरीर एक हैं ? जीव और शरीर भिन्न हैं ? को जीव-शरीर के भेदाभेद में, तथा मरने के बाद तथागत होते हैं ? मरने के बाद तथागत नही होते हैं ? मरने के बाद तथागत होते भी और नही भी होते हैं ? मरने के बाद तथागत न होते हैं, और नहीं होते हैं ? इन चार को जीव की नित्यता-अनित्यता में समाविष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार ये दस अव्याकृत प्रश्न संक्षेप में तीन प्रश्न हैं—(१) लोक की नित्यता-अनित्यता और सान्तता-निरन्तता, (२) जीव-शरीर का भेदाभेद और (३) जीव की नित्यता-अनित्यता। तथागतबुद्ध ने तो किसी एक वाद मे पड़ जाने के भय से इनका निषेधात्मक उत्तर दिया लेकिन भगवान महावीर ने अनेकांतवाद का आश्रय लेकर विधिरूप से समाधान किया है। सर्वप्रथम लोक की नित्यता-अनित्यता, सान्तता-अनंतता के बारे मे भगवान के समाधान को प्रस्तुत करते हैं।

लोक की सान्तता और अनन्तता के बारे में भगवान महावीर द्वारा किया गया स्पष्टीकरण भगवती सूत्र के स्कन्दक परिव्राजक अधिकार (२।१।६) में उपलब्ध है। उसमे स्कदक परिव्राजक द्वारा लोक की सान्तता-अनन्तता के बारे में प्रश्न पूछने पर भगवान महावीर ने बताया कि लोक द्रव्य की अपेक्षा से सान्त है किन्तु भाव अर्थात् पर्यायों की अपेक्षा अनन्त है। क्योंकि लोक द्रव्य की पर्याएं अनन्त हैं। काल की अपेक्षा से लोक अनन्त है और क्षेत्र की अपेक्षा सान्त है। क्योंकि ऐसा कोई काल नही जब लोक का अस्तित्व न हो अतः अनन्त है और सम्पूर्ण आकाश क्षेत्र में से लोक का अवस्थान कुछ ही क्षेत्र में है, सर्वत्र नही है इसीलिए क्षेत्रापेक्षा लोक सान्त है

अर्थात् लोक द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा सान्त है और भाव व काल की अपेक्षा अनन्त है। लोक के सान्त, अनन्त होने सम्बन्धी भगवती सूत्र का पाठ निम्न प्रकार है—

एवं खलु मए खदया ! चउव्विहे लोए पन्नत्ते तं जहा—दव्वओ खेत्तओ, कालओ, भावओ।

दव्वओ णं एगे लोए सअंते।

खेत्तओ णं लोए असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेणं असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेण पन्नत्ता अत्थि पुण सअंते।

कालओ ण लोए ण कयावि न आसी न कयावि न भवति न कयावि न भविस्सति, भविंसु य भवति य भविस्सइ य धुवे णिथिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे णत्थि पुण से अन्ते।

भावओ णं लोए अणंता वण्णपज्जवा गंधपज्जवा रसपज्जवा फासपज्जवा, अणंता संठाणपज्जवा, अणंता गुरुयलहुयपज्जवा, अणंता अगुरुयलहुयपज्जवा, नत्थि पुण से अन्ते।

से त खंदगा ! दव्वओ लोए सअंते, खेत्तओ लोए सअंते कालतो लोए अणंते भावओ लोए अणंते।

उक्त उद्धरण में सान्त और अनन्त शब्दों को मुख्यता से अनेकांतवाद की स्थापना की गई है। तथागतबुद्ध ने लोक की सान्तता और अनन्तता इन दोनों कोटियों को अव्याकृत कहा है लेकिन भगवान महावीर ने अपेक्षाभेद से लोक को सान्त और अनन्त बताया है।

लोक की सान्तता और अनन्तता की तरह शाश्वतता और अशाश्वतता को तथागत बुद्ध ने अव्याकृत माना है, लेकिन भगवान महावीर ने उसका समाधान शाश्वतता और अशाश्वतता को आपेक्षिक मान कर दिया है। यह भगवती ६।६।३८७ में जमाली को दिये गये उत्तर से स्पष्ट हो जाता है—

जमाली ! लोक[1] शाश्वत है और अशाश्वत भी है। त्रिकाल में ऐसा एक भी समय नहीं हुआ जब लोक किसी न किसी रूप में न हो, अतएव वह शाश्वत है किन्तु वह अशाश्वत भी है, क्योंकि लोक हमेशा एक रूप में तो रहता नहीं है, उसमें अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के कारण अवनति और उन्नति भी देखी जाती है। एक रूप में, सर्वथा शाश्वत में परिवर्तन नहीं होता अतएव उसे अशाश्वत भी मानना चाहिए। समाधान का सूत्रपाठ इस प्रकार है—

---

१ लोक के स्वरूप के बारे में भगवान महावीर का अभिप्राय है कि पंचअस्तिकाय धर्म, अधर्म, आकाश, जीव पुद्गल ये पंच-अस्तिकाय हैं।

सासए लोए जमाली, जन्न कयावि णासी णो कयावि ण भवति, ण कयावि ण भविस्सइ भुविं च भवइ य भविस्सइ य, धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे।

असासए लोए जमाली, जओ ओसप्पिणी भवित्ता उस्सप्पिणी भवइ उस्सप्पिणी भवित्ता ओसप्पिणी भवइ।

लोक के सान्त-अनन्त और शाश्वत-अशाश्वत होने सम्बन्धी तथागत बुद्ध के अव्याकृत प्रश्न का भगवान महावीर द्वारा किये गये समाधान को स्पष्ट करने के बाद अब दूसरे अव्याकृत प्रश्न जीव और शरीर के भेदाभेद का विचार करते हैं।

तथागत बुद्ध ने जीव और शरीर के भेदाभेद को अव्याकृत प्रश्न माना है। जीव-शरीर के भेदाभेद को अव्याकृत मानने का कारण संभवतः यह रहा हो कि चार्वाक-दर्शन (भूतचैतन्यवादी दर्शन) शरीर को ही आत्मा मानता था और उपनिषद् के ऋषि आत्मा को शरीर से अत्यन्त भिन्न मानते थे। तथागत बुद्ध को इन दोनों मान्यताओं में दोष दिखाई दिया, जिससे समन्वय नहीं कर सके। समन्वय न कर सकने के कारण के बारे में तथागत बुद्ध की दृष्टि का पूर्व में संकेत किया जा चुका है कि आत्मा शरीर से अभिन्न है और आत्मा शरीर से भिन्न है यह दोनों बातें उन्हें एकांत प्रतीत होती थी। आत्मा को शरीर से अभिन्न मानने पर उच्छेदवाद और भिन्न मानने पर शाश्वतवाद का प्रसंग बन जाता है। दूसरा कारण यह है कि तथागत बुद्ध के मत से यदि शरीर को आत्मा से भिन्न मानते हैं तब ब्रह्मचर्यवास संभव नहीं है और यदि अभिन्न माना जाये तब भी ब्रह्मचर्यवास सम्भव नहीं। लेकिन यह बात बुद्ध को इष्ट नहीं थी। इसलिए इन दोनों अन्तों को छोड़कर उन्होंने मध्यम मार्ग का उपदेश दिया और शरीर-जीव के भेदाभेद के प्रश्न को अव्याकृत बताया। इस विषयक स्पष्टीकरण संयुत्तनिकाय १२।१३५ में किया गया है—

तं जीवं तं सरीरं ति भिक्खु, दिट्ठिया सति ब्रह्मचरियवासो न होति। अञ्ञं जीवं अञ्ञं सरीरं ति वा भिक्खु दिट्ठिया सति ब्रह्मचरियवासो न होति। एते ते भिक्खु उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति।

किन्तु भगवान महावीर ने इस प्रकार के अव्याकृत माने जाने वाले तथागत बुद्ध के शरीर-जीव के भेदाभेद विषयक प्रश्न का अनेकांतवाद का आश्रय लेकर सयुक्तिक स्पष्ट समाधान किया है। आत्मा शरीर से सर्वथा अभिन्न है और सर्वथा भिन्न है—इस प्रथम रूप के समाधान के लिए भगवतीसूत्र (१३।६।४६५) का निम्नलिखित प्रश्नोत्तर स्पष्ट मार्गदर्शक है—

आया भन्ते, आये अन्ने काये?
! आयावि काये अन्नेवि काये।

रूवि भन्ते, काये अरूवि काये ?
गोयमा, रूवि वि काये अरूवि वि काये ।
एवं एक्केक्के पुच्छा ।
गोयमा, सच्चित्ते वि काये अच्चित्ते वि काये ।

उक्त उद्धरण में आत्मा को शरीर से अभिन्न कहा है और भिन्न भी। ऐसा कहने पर प्रश्न हुआ कि जब शरीर आत्मा से अभिन्न है तब शरीर को भी आत्मा की तरह अरूपी और सचेतन होना चाहिये। इसके उत्तर में बताया कि शरीर रूपी भी है और अरूपी भी; सचेतन भी है और अचेतन भी। इसका अर्थ यह है कि जब शरीर को आत्मा से पृथक् माना जाता है तब शरीर रूपी और अचेतन है तथा जब शरीर को आत्मा से अभिन्न माना जाता है तब शरीर अरूपी और सचेतन है।

शरीर और आत्मा के भिन्न-भिन्न होने की स्थिति में ब्रह्मचर्यवास नहीं हो सकता है, इस प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान महावीर ने कहा कि यदि आत्मा को शरीर से अत्यन्त भिन्न माना जाये तो शरीरकृत कर्मों का फल आत्मा को नहीं मिलना चाहिये जिससे अकृतागम का दोष आ जायेगा। यदि अत्यन्त अभिन्न माना जाये तो शरीर ■ दाह हो जाने पर आत्मा के नाश का भी प्रसंग उपस्थित हो जावेगा और तब परलोक भी संभव नहीं रहेगा। जिससे कृतप्रणाश दोष की आपत्ति होगी। यह बात तो हुई एकान्त रूप से आत्मा और शरीर को भिन्न-अभिन्न के दोषों की, लेकिन उभयवाद यानी कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद मानने पर अकृतागम और कृतप्रणाश दोषों की उत्पत्ति नहीं होती है। उभयवाद मानने का कारण यह है कि शरीर और जीव का भेद इसलिए मानना चाहिए कि शरीर का नाश होने पर भी आत्मा दूसरे जन्म में रहती है और अभेद इसलिये मानना उपयुक्त है कि संसारावस्था में आत्मा और शरीर का नीर-क्षीरवत् या अग्निलोहपिण्डवत् तादात्म्य सम्बन्ध है। इसीलिए शरीर से किसी वस्तु का स्पर्श होने पर आत्मा अनुभव करती है तथा कृत-कर्म का फल भी वही भोगती है।

आत्मा और शरीर का कथंचित् अभेद मानना आवश्यक इसलिए भी है कि भेद मानने पर गति, इन्द्रिय, कषाय, लेश्या, योग, उपयोग, ज्ञान, चारित्र और वेद[1] इन परिणामों को जीव के परिणाम रूप से नहीं गिनाया जा सकता है। आत्मा और शरीर का अभेद मानने पर ही इनको घटित किया जा सकता है। इसी प्रकार वर्ण, गंध, रस, स्पर्श भी जीव और शरीर का अभेद मानने पर जीव के परिणाम रूप में घटित होते हैं। इस सम्बन्ध में भगवान महावीर का स्पष्ट कथन निम्न प्रकार है—

गोयमा ! अहमेयं जाणामि अहमेयं पासामि अहमेयं बुज्झामि····

---

१ भगवती १४।४

सासए लोए जमाली, जन्न कयावि णासी णो कयावि ण भवति, ण कयावि ण भविस्सइ भुविं च भवइ य भविस्सइ य, धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे।

असासए लोए जमाली, जओ ओसप्पिणी भवित्ता उस्सप्पिणी भवई उस्सप्पिणी भवित्ता ओसप्पिणी भवइ।

लोक के सान्त-अनन्त और शाश्वत-अशाश्वत होने सम्बन्धी तथागत बुद्ध के अव्याकृत प्रश्न का भगवान महावीर द्वारा किये गये समाधान को स्पष्ट करने के बाद अब दूसरे अव्याकृत प्रश्न जीव और शरीर के भेदाभेद का विचार करते हैं।

तथागत बुद्ध ने जीव और शरीर के भेदाभेद को अव्याकृत प्रश्न माना है। जीव-शरीर के भेदाभेद को अव्याकृत मानने का कारण संभवतः यह रहा हो कि चार्वाक-दर्शन (भूतचैतन्यवादी दर्शन) शरीर को ही आत्मा मानता था और उपनिषद् के ऋषि आत्मा को शरीर से अत्यन्त भिन्न मानते थे। तथागत बुद्ध को इन दोनों मान्यताओं में दोष दिखाई दिया, जिससे समन्वय नहीं कर सके। समन्वय न कर सकने के कारण के बारे में तथागत बुद्ध की दृष्टि का पूर्व में संकेत किया जा चुका है कि आत्मा शरीर से अभिन्न है और आत्मा शरीर से भिन्न है यह दोनों बातें उन्हें एकान्त प्रतीत होती थी। आत्मा को शरीर से अभिन्न मानने पर उच्छेदवाद और भिन्न मानने पर शाश्वतवाद का प्रसंग बन जाता है। दूसरा कारण यह है कि तथागत बुद्ध के मत से यदि शरीर को आत्मा से भिन्न मानते हैं तब ब्रह्मचर्यवास संभव नहीं है और यदि अभिन्न माना जाये तब भी ब्रह्मचर्यवास सम्भव नहीं। लेकिन यह बात बुद्ध को इष्ट नहीं थी। इसलिए इन दोनों अन्तों को छोड़कर उन्होंने मध्यम मार्ग का उपदेश दिया और शरीर-जीव के भेदाभेद के प्रश्न को अव्याकृत बताया। इस विषयक स्पष्टीकरण संयुत्तनिकाय १२।१३५ में किया गया है—

तं जीवं तं सरीरं ति भिक्खु, दिट्ठिया सति ब्रह्मचरियवासो न होति। अञ्ञं जीवं अञ्ञं सरीरं ति वा भिक्खु दिट्ठिया सति ब्रह्मचरियवासो न होति। एते ते भिक्खु उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति।

किन्तु भगवान महावीर ने इस प्रकार के अव्याकृत माने जाने वाले तथागत बुद्ध के शरीर-जीव के भेदाभेद विषयक प्रश्न का अनेकांतवाद का आश्रय लेकर सयुक्तिक स्पष्ट समाधान किया है। आत्मा शरीर से सर्वथा अभिन्न है और सर्वथा भिन्न है—इस प्रथम रूप के समाधान के लिए भगवतीसूत्र (१३।६।४९५) का निम्न-लिखित प्रश्नोत्तर स्पष्ट मार्गदर्शक है—

आया भन्ते, काये अन्ने काये?

, ! आयावि काये अन्नेवि काये।

रूवि भन्ते, काये अरूवि काये?
गोयमा, रूवि वि काये अरूवि वि काये।
एवं एक्केक्के पुच्छा।
गोयमा, सच्चित्ते वि काये अच्चित्ते वि काये।

उक्त उद्धरण में आत्मा को शरीर से अभिन्न कहा है और भिन्न भी। ऐसा कहने पर प्रश्न हुआ कि जब शरीर आत्मा से अभिन्न है तब शरीर को भी आत्मा की तरह अरूपी और सचेतन होना चाहिये। इसके उत्तर में बताया कि शरीर रूपी भी है और अरूपी भी; सचेतन भी है और अचेतन भी। इसका अर्थ यह है कि जब शरीर को आत्मा से पृथक् माना जाता है तब शरीर रूपी और अचेतन है तथा जब शरीर को आत्मा से अभिन्न माना जाता है तब शरीर अरूपी और सचेतन है।

शरीर और आत्मा में भिन्न-भिन्न होने की स्थिति में ब्रह्मचर्यवास नहीं हो सकता है, इस प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान महावीर ने कहा कि यदि आत्मा को शरीर से अत्यन्त भिन्न माना जाये तो शरीरकृत कर्मों का फल आत्मा को नहीं मिलना चाहिये जिससे अकृतागम का दोष आ जायेगा। यदि अत्यन्त अभिन्न माना जाये तो शरीर के दाह हो जाने पर आत्मा के नाश का भी प्रसंग उपस्थित हो जायेगा और तब परलोक भी संभव नहीं रहेगा। जिससे कृतप्रणाश दोष की आपत्ति होगी। यह बात तो हुई एकान्त रूप से आत्मा और शरीर की भिन्न-अभिन्न के दोषों की, लेकिन उभयवाद यानी कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद मानने पर अकृतागम और कृतप्रणाश दोषों की उत्पत्ति नहीं होती है। उभयवाद मानने का कारण यह है कि शरीर और जीव का भेद इसलिए मानना चाहिए कि शरीर का नाश होने पर भी आत्मा दूसरे जन्म में रहती है और अभेद इसलिये मानना उपयुक्त है कि संसारावस्था में आत्मा और शरीर का नीर-क्षीरवत् या अग्निलोहपिंडवत् तादात्म्य सम्बन्ध है। इसीलिए शरीर से किसी वस्तु का स्पर्श होने पर आत्मा अनुभव करती है तथा कृत-कर्म का फल भी वही भोगती है।

आत्मा और शरीर का कथंचित् अभेद मानना आवश्यक इसलिए भी है कि भेद मानने पर गति, इन्द्रिय, कषाय, लेश्या, योग, उपयोग, ज्ञान, चारित्र और वेद[1] इन परिणामों को जीव के परिणाम रूप से नहीं गिनाया जा सकता है। आत्मा और शरीर का अभेद मानने पर ही इनको घटित किया जा सकता है। इसी प्रकार वर्ण, गंध, रस, स्पर्श भी जीव और शरीर का अभेद मानने पर जीव के परिणाम रूप में घटित होते हैं। इस सम्बन्ध में भगवान महावीर का स्पष्ट कथन निम्न प्रकार है—

गोयमा! अहमेयं जाणामि अहमेयं पासामि अहमेयं बुज्झामि……

---

१ भगवती १४।४

सासए लोए जमाली, जन्न कयावि णासी णो कयावि ण भवति, ण कयावि ण भविस्सइ भुविं च भवइ य भविस्सइ य, धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे।

असासए लोए जमाली, जओ ओसप्पिणो भवित्ता उस्सप्पिणी भवई उस्सप्पिणी भवित्ता ओसप्पिणी भवइ।

लोक के सान्त-अनन्त और शाश्वत-अशाश्वत होने सम्बन्धी तथागत बुद्ध के अव्याकृत प्रश्न का भगवान महावीर द्वारा किये गये समाधान को स्पष्ट करने के बाद अब दूसरे अव्याकृत प्रश्न जीव और शरीर के भेदाभेद का विचार करते हैं।

तथागत बुद्ध ने जीव और शरीर के भेदाभेद को अव्याकृत प्रश्न माना है। जीव-शरीर के भेदाभेद को अव्याकृत मानने का कारण संभवतः यह रहा हो कि चार्वाक-दर्शन (भूतचैतन्यवादी दर्शन) शरीर को ही आत्मा मानता था और उपनिषद् के ऋषि आत्मा को शरीर से अत्यन्त भिन्न मानते थे। तथागत बुद्ध को इन दोनों मान्यताओं में दोष दिखाई दिया, जिससे समन्वय नहीं कर सके। समन्वय न कर सकने के कारण के बारे में तथागत बुद्ध की दृष्टि का पूर्व में संकेत किया जा चुका है कि आत्मा शरीर से अभिन्न है और आत्मा शरीर से भिन्न है यह दोनों बातें उन्हें एकान्त प्रतीत होती थी। आत्मा को शरीर से अभिन्न मानने पर उच्छेदवाद और भिन्न मानने पर शाश्वतवाद का प्रसंग बन जाता है। दूसरा कारण यह है कि तथागत बुद्ध के मत से यदि शरीर को आत्मा से भिन्न मानते हैं तब ब्रह्मचर्यवास संभव नहीं है और यदि अभिन्न माना जाये तब भी ब्रह्मचर्यवास संभव नहीं। लेकिन यह बात बुद्ध को इष्ट नहीं थी। इसलिए इन दोनों अन्तों को छोड़कर उन्होंने मध्यम मार्ग का उपदेश दिया और शरीर-जीव के भेदाभेद के प्रश्न को अव्याकृत बताया। इस विषयक स्पष्टीकरण संयुत्तनिकाय १२।१३५ में किया गया है—

तं जीवं तं सरीर ति भिक्खु, दिट्ठिया सति ब्रह्मचरियवासो न होति। अञ्ञं जीवं अञ्ञं सरीरं ति वा भिक्खु दिट्ठिया सति ब्रह्मचरियवासो न होति। एते ते भिक्खु उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति।

किन्तु भगवान महावीर ने इस प्रकार के अव्याकृत माने जाने वाले तथागत बुद्ध के शरीर-जीव के भेदाभेद विषयक प्रश्न का अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर सयुक्तिक स्पष्ट समाधान किया है। आत्मा शरीर से सर्वथा अभिन्न है और सर्वथा भिन्न है—इस प्रथम रूप के समाधान के लिए भगवतीसूत्र (१३।६।४९५) का निम्नलिखित प्रश्नोत्तर स्पष्ट मार्गदर्शक है—

आया भन्ते, काये अन्ने काये?
गोयमा! आयावि काये अन्नेवि काये।

रूविं भंते. काये अरूविं काये?
गोयमा, रूविं पि काये अरूविं पि काये।
एवं एक्केक्के पुच्छा।
गोयमा सचित्ते वि काये अचित्ते वि काये।

इस उद्धरण में आत्मा को शरीर से अभिन्न कहा है और भिन्न भी। ऐसा कहने पर प्रश्न हुआ कि यदि शरीर आत्मा से अभिन्न है तब शरीर को भी आत्मा की तरह अरूपी और सचेतन होना चाहिये। इसके उत्तर में कहा कि शरीर रूपी भी है और अरूपी भी; सचेतन भी है और अचेतन भी। इसका अर्थ यह है कि जब शरीर को आत्मा से पृथक् माना जाता है तब शरीर रूपी और अचेतन है तथा जब शरीर को आत्मा से अभिन्न माना जाता है तब शरीर अरूपी और सचेतन है।

शरीर और आत्मा के भिन्न-भिन्न रूप की स्थिति में सामञ्जस्य नहीं हो सकता है, इस प्रश्न का समाधान करते हुए भगवान महावीर ने कहा कि यदि आत्मा को शरीर से अत्यन्त भिन्न माना जाए तो कायकृत कर्मों का फल आत्मा को नहीं मिलना चाहिए किन्तु अकृतागम का दोष आ जायेगा। यदि अत्यन्त अभिन्न माना जाये तो शरीर के दाह हो जाने पर आत्मा के नाश का भी प्रसंग उपस्थित हो जायेगा और तब परलोक की सम्भव नहीं रहता। जिससे कृतप्रणाश दोष की आपत्ति होगी। यह स्पष्ट हो गई एकान्त रूप से आत्मा और शरीर को भिन्न-अभिन्न के दोनों ही, लेकिन अनेकान्तवाद यानी कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद मानने पर अकृतागम और कृतप्रणाश दोनों ही उपस्थित नहीं होते हैं। अनेकान्त व मत का कारण यह है कि शरीर और जीव का भेद इसलिए मानना चाहिए कि शरीर का नाश होने पर भी आत्मा दूसरे भव में रहती है और अभेद इसलिए मानना उपयुक्त है कि संसारावस्था में आत्मा और शरीर का क्षीर-नीरवत् या अग्निलोहपिण्डवत् तादात्म्य सम्बन्ध है। इसीलिए शरीर से किसी वस्तु का स्पर्श होने पर आत्मा अनुभव करती है तथा काय-कर्म का फल भी वही भोगती है।

आत्मा और शरीर का कथंचित् अभेद मानना आवश्यक इसलिए भी है कि भेद मानने पर गति, इन्द्रिय, कषाय, लेश्या, योग, उपयोग, ज्ञान, चारित्र और वेद[1] इन परिणामों को जीव के परिणाम रूप से नहीं गिनाया जा सकता है। आत्मा और शरीर का अभेद मानने पर ही इनको परिगणित किया जा सकता है। इसी प्रकार वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श भी जीव और शरीर का अभेद मानने पर जीव के परिणाम रूप में परिगणित होते हैं। इस सम्बन्ध में भगवान महावीर का स्पष्ट कथन निम्न प्रकार है—

गोयमा! अहमेय जाणामि अहमेय पासामि अहमेय बुज्झामि···

---

१ भगवती १४।४

कम्मओ णं भंते जीवे नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ कम्मओ णं जए णो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ ?

हंता गोयमा ![1]

इस प्रकार तथागत बुद्ध ने जिन प्रश्नों को निरर्थक बताकर अव्याकृत कह दिया, उन्हीं प्रश्नों को भगवान महावीर ने आध्यात्मिक जीवन का प्रारंभ माना और उनका विवेचन किया। इतनी चर्चा के बाद अब आत्मा की नित्यानित्यता के प्रस्तुत प्रश्न पर विचार करते हैं।

तथागत बुद्ध ने तो जीव की नित्यानित्यता को अव्याकृत प्रश्न कहा है किन्तु भगवान महावीर ने इस अव्याकृत प्रश्न का द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय-दृष्टि के द्वारा व्याकरण करते हुए कहा है—

जीवे णं भन्ते ! किं सासया असासया ?

गोयमा ! जीवा सिय सासया सिय असासया। गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया भावट्ठयाए असासया।[2]

उक्त सूत्र मे भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा है कि द्रव्यार्थिक अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा से जीव नित्य है और भाव अर्थात् पर्याय की अपेक्षा से जीव अनित्य है। इसमे शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों का ही समन्वय हो जाता है। क्योंकि जीव द्रव्य का कभी भी विच्छेद नही होता है, इस दृष्टि से जीव को नित्य मानकर शाश्वतवाद को ग्रहण किया है और जीव की नरकादि पर्यायें स्पष्ट रूप से विच्छिन्न होती रहती हैं, इस अपेक्षा से उच्छेदवाद को भी प्रश्रय दिया है। यानी द्रव्य शाश्वत है और पर्याय अशाश्वत। द्रव्य नित्य है और पर्याय अनित्य। द्रव्य स्थिर हैं और पर्याय अस्थिर। द्रव्य में परिवर्तन नही होता और पर्यायें अस्थिर होने से परिवर्तित होती रहती हैं, जो निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है—

से नूण भन्ते ! अथिरे पलोट्टइ नो थिरे पलोट्टइ। अथिरे भज्जइ। सासए बालए बालियत्त, असासयं, सासए पडिए पडियत्तं असासयं ? हंता गोयमा ! अथिरे पलोट्टइ जाव पंडियत्तं असासयं।[3]

यानी अस्थिर में परिवर्तन होता है, स्थिर में नहीं। अस्थिर मे भेद होता है स्थिर में नहीं। जैसे कि बालक में बालकत्व और पण्डित में पाण्डित्य अस्थिर है।

द्रव्यार्थिक नय का दूसरा नाम अव्युच्छित्ति नय है और भावार्थिक का व्युच्छि-

---

१ भगवती १२।५।४५२
२ भगवती ७।२।२७३
३ भगवती १।६।८०

असान्त (निरन्त) के प्रश्न को भी तथागत बुद्ध ने अव्याकृत कहा है किन्तु जीव के सान्त और निरन्त के प्रश्न को अव्याकृत मानने के बारे में तथागत बुद्ध का मन्तव्य स्पष्ट नहीं है कि उन्होंने द्रव्य की अपेक्षा या देश (क्षेत्र) की दृष्टि से सान्त, निरन्त माना है या अन्य किसी दृष्टि से ? इस विषय को जानने का कोई साधन भी नहीं है। लेकिन भगवान महावीर ने जीव की सान्तता और निरन्तता के बारे में स्पष्ट विचार व्यक्त किये हैं। उनके मत से जीव एक स्वतन्त्र द्रव्य है और पूर्व में जैसे द्रव्य को सान्त और निरन्त दृष्टि को सिद्ध किया है वैसे ही जीव के बारे में सान्तता और अनन्तता को भी सिद्ध किया है कि एक जीव—द्रव्य एवं क्षेत्र की अपेक्षा सान्त और काल व भाव की अपेक्षा अनन्त है। इस प्रकार जीव सान्त भी है और अनन्त भी। भगवती सूत्र के निम्नलिखित अवतरण से जीव के सान्त और अनन्त होने के बारे में भगवान महावीर का मतव्य स्पष्ट हो जाता है।

स्कन्दक परिव्राजक को जीव की सान्तता-अनन्तता के बारे में शंका थी जिसका समाधान करते हुए भगवान महावीर ने कहा है—हे स्कन्दक ! जीव—सान्त है या अनन्त ? इसका स्पष्टीकरण यह है कि द्रव्य की अपेक्षा एक जीव सान्त है, क्षेत्र से सान्त है, काल की अपेक्षा जीव का कभी नाश न होने से अनन्त है और भाव से भी अनन्त है क्योंकि उसमें अनन्त ज्ञान पर्यायें हैं, अनन्त दर्शन पर्यायें हैं आदि। समाधान विषयक अवतरण इस प्रकार है—

'जे वि य खदया, जाव स अन्ते जीवे अणंते जीवे तस्सवि य णं एयमट्ठे - एवं खलु जीव दव्वओ ण एगे जीवे सअंते, खेत्तओ णं जीवे असंखेज्जपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे अत्थि पुण से अंते, कालओ णं जीवे न कयावि न आसि, जाव निच्चे नत्थि पुण से अंते, भावओ णं जीवे अणंता णाणपज्जवा अणंता दंसणपज्जवा अणंता चरित्तपज्जवा अणंता अगुरुलहुयपज्जवा नत्थि पुण से अंते।[1]

साराश यह है कि भगवान महावीर ने एक जीव को काल और भाव (पर्याय) की दृष्टि से अनन्त और द्रव्य तथा क्षेत्र की दृष्टि से सान्त मानकर तथागत बुद्ध के अव्याकृत प्रश्न का समाधान किया है, साथ ही 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' जैसे औपनिषदिक कथन का भी समाधान कर दिया है। क्षेत्र की दृष्टि से आत्मा की व्यापकता और एक आत्मा द्रव्य ही सब कुछ है—यह भगवान महावीर को मान्य है। एक आत्म द्रव्य की अपेक्षा सान्त है, क्षेत्र की अपेक्षा उसका क्षेत्र मर्यादित है। शरीरप्रमाण क्षेत्र है। लेकिन काल की अपेक्षा न आदि है और न अन्त है यानी अनन्त है और भाव (पर्याय) की अपेक्षा अपनी ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि अनन्त पर्यायों (शक्तियों) को धारक है। उन पर्यायों में प्रति समय परिवर्तन होते रहने पर भी उनका कभी अन्त

१ भगवती २।१।९०

नहीं आता है। पूर्व पर्याय का विनाश और उत्तर पर्याय का आविर्भाव यह क्रम सतत गतिमान रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तथागत बुद्ध के सभी अव्याकृत प्रश्नों का व्याकरण भगवान महावीर ने स्पष्ट रूप से विधिमार्ग को स्वीकार करके किया है। इस समाधान में मूल कारण है—एक ही व्यक्ति में अपेक्षाभेद से अनेक सम्भावित विरोधी धर्मों को घटित करना। तथागत बुद्ध के अव्याकृत प्रश्नों के उत्तर द्वारा अन्य एकान्तवादी दार्शनिकों—औपनिषदिक ऋषियों के विचारों—आत्मा नित्य ही है और भौतिकवादी सम्मत—आत्मा अनित्य ही है—आदि का खण्डन व समाधान स्वयमेव हो जाता है यानी तथागत बुद्ध के अशाश्वतानुच्छेदवाद के स्थान पर शाश्वतोच्छेदवाद स्याद्वाद स्पष्ट रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है।

तथागत बुद्ध द्वारा प्रश्नों को अव्याकृत मानने और अशाश्वतानुच्छेदवाद को कथनशैली का आधार मानने के कारण को पहले बताया जा चुका है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि समन्वय का तत्त्व उनके स्वभाव में बिल्कुल नहीं है। उनकी समन्वयशीलता के दर्शन सिंहसेनापति के साथ हुए संवाद में होते हैं। अनात्मवाद का उपदेश देने से कुछ लोग तथागत बुद्ध को अक्रियावादी मानते थे। अतएव सिंह सेनापति ने उनसे पूछा कि 'कुछ लोगों का आपको अक्रियावादी मानना क्या उचित है?' प्रत्युत्तर में तथागत बुद्ध ने कहा—'अकुशल संस्कार की अक्रिया का उपदेश देने से मैं अक्रियावादी हूँ और कुशल संस्कार की क्रिया मुझे पसन्द है, इसलिए क्रियावादी हूँ।' उक्त संकेत से यह तो स्पष्ट है कि समन्वय तथागत बुद्ध में सहज स्वाभाविक रूप से था, लेकिन उसका उपयोग वे चिन्तन के लिए सर्वत्र और सार्वकालिक नहीं कर पाये और चतु:सत्य के उपदेश में ही अपनी कृतकृत्यता का अनुभव किया।

भगवान महावीर के समाधान का आधार है नयदृष्टि और नयदृष्टि से जिस वाद का जो स्थान नियत हो सकता था, उसको उस स्थान पर स्थित कर 'स्यात्' पद से अंकित वचन व्यवहार द्वारा आपेक्षिक समानता-असमानता बताकर विधिमार्ग से समाधान कर दिया। प्रत्येक वाद का न तो विरोध किया और न समर्थन किन्तु तटस्थ विचार की मध्यस्थ भावना के अनुसार अपनी-अपनी दृष्टि से उनकी समीचीनता बतला दी।

भगवान महावीर ने अन्य दार्शनिकों के विचारों का समाधान जिस प्रकार स्याद्वादात्मक वचन प्रणाली द्वारा किया, उसी प्रकार अपने द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के लिये, तत्त्व विचार के लिये भी अनेकान्तवाद—स्याद्वाद को अंगीकार किया है। द्रव्य-पर्याय, सामान्य-विशेष का भेदाभेद, जीव-अजीव की एकानेकता, परमाणु की नित्यानित्यता, अस्तित्व, नास्तित्व आदि की सिद्धि भी अनेकान्तवाद द्वारा की है। इसका विवेचन नीचे किया जा रहा है।

भगवान महावीर द्वारा स्व-सिद्धांत प्रतिपादन हेतु स्याद्वाद का प्रयोग

द्रव्य पर्याय के भेदाभेद का दिग्दर्शन कराते हुए भगवती सूत्र २५।२ और २५।४ में कहा है कि द्रव्य दो प्रकार का है—(१) जीव द्रव्य (२) अजीव द्रव्य। अजीव द्रव्य के दो भेद हैं—रूपी और अरूपी।[1] पुद्गलास्तिकाय रूपी अजीव द्रव्य है और धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और अद्धा समय (काल) ये चार अरूपी अजीव द्रव्य हैं। जीवास्तिकाय एवं अजीव के धर्मास्तिकाय से लेकर काल पर्यन्त पांच भेदों को मिलाने पर द्रव्य के छह भेद होते हैं। काल के अलावा शेष जीवादि पांच प्रदेशवान होने से अपने-अपने प्रदेशों के कारण अस्तिकाय कहे जाते हैं।[2]

द्रव्य के जीव और अजीव इन दो भेदों की तरह पर्याय के भी जीवपर्याय और अजीवपर्याय यह दो भेद बतलाये हैं।[3]

द्रव्य को सामान्य और पर्याय को विशेष भी कहते हैं। सामान्य के दो भेद हैं—(१) तिर्यक् सामान्य और (२) ऊर्ध्वतासामान्य। तिर्यक्सामान्य द्वारा एक ही काल में स्थित नाना देश में वर्तमान नाना द्रव्यों या नाना द्रव्यविशेषों में समानता का ज्ञान किया जाता है और कालकृत नाना अवस्थाओं में किसी द्रव्य विशेष के एकत्व, अन्वय या अविच्छेद, ध्रुवत्व विवक्षित हो तब उस अविच्छिन्न ध्रुव शाश्वत अंश को ऊर्ध्वतासामान्य कहा जाता है।

जब यह कहा जाता है कि जीव भी द्रव्य है, धर्मास्तिकाय भी द्रव्य है, अधर्मास्तिकाय भी द्रव्य है आदि अथवा द्रव्य के दो भेद हैं जीव और अजीव अथवा द्रव्य के छह भेद हैं— जीव, धर्म, अधर्म आदि तो इनमें द्रव्य का अर्थ तिर्यक् सामान्य है और जब यह कहा जाता है कि जीव दो प्रकार के है—(१) संसारी और (२) सिद्ध[4]। संसारी जीव के पांच भेद है—(१) ऐकेन्द्रिय, (२) द्वीन्द्रिय, (३) त्रीन्द्रिय, (४) चतुरिन्द्रिय, (५) पंचेन्द्रिय[5], पुद्गल के चार भेद—(१) स्कन्ध, (२) स्कन्ध-

---

१ कइविहा णं भंते ! दव्वा पन्नता ? गोयमा ! दुविहा दव्वा पन्नता तं जहा-जीव दव्वा य अजीव दव्वा य। अजीव दव्वा णं भंते ! कइविहा पन्नता। गोयमा ! दुविहा पन्नता तं जहा—रूवि अजीव दव्वा य अरूवि अजीव दव्वा य।

—भगवती २५।२।२५।४

२ पंच अस्थिकाया पण्णता तं जहा - धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए।

—स्थानांग ५।७।१

३ गोयमा ! दुविहा पज्जवा पन्नता तं जहा—जीवपज्जवा य अजीवपज्जवा।

—भगवती २५।५।७।१

४ भगवती १।१।१७; १।८।७२

५ स्थानांग सूत्र ४५८; प्रज्ञापना पद १

मानते हैं, उसके भेदों की उपेक्षा करते हैं और क्षणिकवादी बौद्ध सिर्फ पर्याय को मानते हैं, त्रिकालवर्ती कोई स्थायी द्रव्य को नही मानते लेकिन भगवान महावीर के दर्शन मे दोनों का समन्वय है दोनों को स्थान है। दोनों की पारमार्थिक सत्ता का समर्थन किया गया है। उपनिषदों में प्राचीन सांख्यकों के अनुसार प्रकृति (जड़) को परिणाम माना है और आत्मा को कूटस्थ नित्य ही माना है। लेकिन भगवान महावीर ने आत्मा और जड़ दोनों में परिणमनशीलता को मानकर परिणामवाद को सर्वव्यापी बना दिया है। यह द्रव्य पर्याय के भेदाभेद सम्बन्धी विवेचन से स्पष्ट हो जाता है।

भगवान पार्श्वनाथ के शिष्यों और भगवान महावीर के शिष्यों मे हुए एक विवाद का वर्णन भगवती सूत्र में किया गया है, पार्श्वापत्यों ने कहा कि महावीर के शिष्य सामायिक और उसका अर्थ नही जानते हैं। तब भगवान महावीर के शिष्यों ने उन्हें समझाया—

आया णे अज्जो सामाइए आया णे अज्जो सामाइयस्स अट्ठे।[1]

अर्थात् आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है। यहाँ आत्मा द्रव्य है और सामायिक उसका पर्याय है। इससे यह फलित होता है कि भगवान महावीर ने द्रव्य और पर्याय में अभेद का समर्थन किया है किन्तु उनका यह अभेद समर्थन सापेक्षिक है। वे द्रव्य दृष्टि की प्रधानता से द्रव्य और पर्याय में अभेद मानते हैं। लेकिन अन्यत्र द्रव्य और पर्याय में भेद का भी समर्थन करते हुए बताया कि अस्थिर पर्याय के नष्ट होने पर भी द्रव्य का पद रहता है—

से नूणं भंते अथिरे पलोट्टइ नो थिरे पलोट्टइ हंता गोयमा! अथिरे पलोट्टइ जाव पंडियत्तं असासयं।[2]

इस प्रकार द्रव्य और पर्याय के भेदाभेद का आधार स्पष्ट हो जाता है। प्रथम प्रसंग मे द्रव्यदृष्टि की प्रधानता से द्रव्य और पर्याय के अभेद का और दूसरे प्रसंग में पर्यायदृष्टि की प्रधानता से द्रव्य और पर्याय के भेद का समर्थन किया है। जब द्रव्यदृष्टि की प्रधानता और पर्यायदृष्टि की गौणता से कथन किया जाता है तब द्रव्य और पर्याय में अभेद तथा पर्यायदृष्टि की मुख्यता एवं द्रव्यदृष्टि की गौणता से कथन होने पर भेद का समर्थन होता है। यह द्रव्य-पर्याय का भेदाभेद अनेकान्तवाद का प्रगट रूप है।

द्रव्य-पर्याय में भेदाभेद के समन्वय की तरह एक ही वस्तु मे एकता और अनेकता का समन्वय भी अनेकान्तवाद द्वारा भगवान महावीर के उपदेश मे वर्णित है जो सोमिल ब्राह्मण के एकता और अनेकता सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर द्वारा स्पष्ट हो जाता है।

---

१ भगवती १।६।७७

२ भगवती १।३।८०

द्रव्य के चरम निरन्वय अंश परमाणु के बारे में भी अनेकान्तदृष्टि से नित्यत्व-अनित्यत्व को बतलाते हैं।

सामान्यतया दार्शनिकों में परमाणु शब्द का अर्थ स्परसादि युक्त परम प्रकृष्ट द्रव्य-पृथ्वी परमाणु आदि किया जाता है, जो अजीव द्रव्य है। लेकिन जैनागमों में परमाणु चार प्रकार के बताए हैं—

'गोयमा, चउव्विहे परमाणु पन्नत्ते तं जहा—दव्वपरमाणु, खेत्तपरमाणु, कालपरमाणु, भावपरमाणु[1]।

अर्थात् परमाणु चार प्रकार के हैं—(१) द्रव्यपरमाणु (२) क्षेत्र परमाणु (३) काल परमाणु और (४) भाव परमाणु।

वर्णादि पर्याय की अविवक्षा से सूक्ष्मतम अंश द्रव्य परमाणु कहा जाता है। वर्ण, गंध आदि पुद्गल द्रव्य में ही पाये जाते हैं, इसलिए यह पुद्गल परमाणु है और इसे ही अन्य दार्शनिकों ने भी परमाणु कहा है। आकाश का सूक्ष्मतम अंश क्षेत्र परमाणु है, सूक्ष्मतम समय कालपरमाणु और द्रव्यपरमाणु की रूपादि पर्याय का प्रधान तथा विवक्षित अंश भावपरमाणु है। इनमें द्रव्यपरमाणु अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य और अग्राह्य है, अर्थात् इसका छेदन, भेदन आदि कुछ नहीं हो सकता है। क्षेत्र परमाणु, अनर्ध, अमध्य, अप्रदेश और अविभाग है। कालपरमाणु अवर्ण, अगन्ध, अरस और स्पर्शरहित है। भावपरमाणु वर्ण, गंध, रस और स्पर्श युक्त है।[2]

इनमें से अन्य दार्शनिकों ने द्रव्य परमाणु को एकान्त नित्य माना है। लेकिन भगवान महावीर ने परमाणु को एकान्तनित्य न मानकर स्पष्ट रूप से नित्यानित्य कहा है। जैसे कि परमाणु पुद्गल द्रव्यदृष्टि से शाश्वत (नित्य) और वही वर्ण, गंध, रस, स्पर्श पर्यायों की अपेक्षा अशाश्वत (अनित्य) है। इसके लिए निम्नलिखित सूत्र मार्गदर्शक है—

परमाणुपोग्गले णं भंते ! किं सासए असासए ?
गोयमा ! सिय सासए सिय असासए।
से केणट्ठेणं ?

गोयमा, दव्वट्ठयाए सासए वन्नपज्जवेहिं जाव फासपज्जवेहिं असासए।[3]

---

१ भगवती २०।५

२ प्रदेशमात्रभावि स्पर्शादि पर्यायप्रसव सामर्थ्येनाण्यन्ते शब्द्यन्ते इत्यणवः।
—राजवार्तिक ५।२५ टीका

३ भगवतीसूत्र १४।४।५१२

अर्थात् परमाणु पुद्गल द्रव्यदृष्टि से शाश्वत है और वही वर्ण, रस, गंध और पर्श पर्यायों की अपेक्षा से अशाश्वत है।

द्रव्यदृष्टि से पुद्गल द्रव्य की नित्यता को तो सभी जानते हैं, लेकिन पर्याय-ष्टि से अनित्य क्यों माना जाता है? इसका स्पष्टीकरण करते हुए भगवान महावीर कहा है—

एसा णं भंते पोग्गले तीतमणंतं सासयं समयं लुक्खी, समयं अलुक्खी, मयं लुक्खी वा अलुक्खी वा। पुव्विं च णं करणेणं अणेगवन्नं अणेग रूव रिणामं परिणमति अह से परिणामे निज्जिन्ने भवति तओ पच्छा एगवन्ने क रूवे सिया।

हंता गोयमा! ... एगरूवे सिया।[1]

अर्थात् अतीतकाल में किसी एक समय जो पुद्गल परमाणु रूक्ष हो, वही अन्य मय में अरूक्ष है। पुद्गल स्कंध में भी यह सम्भवित है। इसके सिवाय वह परमाणु क देश से रूक्ष और दूसरे देश से अरूक्ष भी एक ही समय में हो सकता है। यह भी म्भव है कि स्वभाव से, प्रयोग से और स्वभाव-प्रयोग के योग से किसी पुद्गल में नेक वर्णपरिणाम हो जायें और वैसा परिणाम नष्ट होकर बाद में एक वर्ण परिणाम ला भी हो जाये। इस प्रकार पर्यायों में परिवर्तन होने के कारण पुद्गल में नित्यता भी सिद्ध होती है और अनित्यता के होते हुए भी उसकी नित्यता में कोई धा नहीं आती है।

इस प्रकार द्रव्यदृष्टि से परमाणु शाश्वत होते हुए भी पर्यायदृष्टि से अशाश्वत । इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है। क्योंकि तीनों कालों में ऐसा कोई समय हीं जब पुद्गल द्रव्य न हो और उसमें पर्याय रूप से परिवर्तन न होता रहता हो। व्य नित्य है, शाश्वत है और पर्याय अनित्य अशाश्वत है और उन दोनों का त्रिकाल-र्ती अस्तित्व है। द्रव्य न तो पर्याय से सर्वथा पृथक् है और न अपृथक्। दोनों परि-मनशील स्वभाव वाले होने से शाश्वत और अशाश्वत भाव से विद्यमान रहते हैं। भी परमाणु का रूक्ष गुण अरूक्ष में बदल जाता है और कभी वही अरूक्ष गुण स्निग्ध ुण के रूप में। इस प्रकार की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है, लेकिन ये सब पुद्गल व्य की पर्यायें हैं और पर्यायें पुद्गल द्रव्य से पृथक् नहीं होती हैं। इसी बात को गवान महावीर ने ऊपर के सूत्र में स्पष्ट किया है।

अब अस्ति और नास्ति के सम्बन्ध में भगवान महावीर की अनेकान्तदृष्टि को प्रस्तुत करते हैं।

उनके समय में दो एकान्तिक दृष्टियाँ थीं—'सर्व अस्ति' और 'सर्व नास्ति'।

---

१ भगवती १४।४।५१०

दिया। अव्याकृत कहने में तथागत बुद्ध का यह दृष्टिकोण रहा कि यदि पदार्थ शाश्वत नित्य आदि माने जाते हैं तो वे शाश्वत हो जायेंगे जिससे उनमें अर्थक्रिया होना सम्भव नहीं है और शाश्वतवाद का समर्थन होगा। इसी प्रकार अनित्य मानते हैं तो उच्छेदवाद मानना पड़ेगा तथा उसमें भी अर्थक्रिया नहीं हो सकेगी। दूसरी बात यह है कि इन दोनों का विचार करना भी साधक को निर्वाण प्राप्ति में सहायक नहीं है। निर्वाण प्राप्ति के लिए तो अविद्या आदि पूर्व-पूर्व कारण की परम्परा का विनाश होने से उत्तर-उत्तर का भी क्षय होता जाये, यही पर्याप्त है इसलिए उन्हीं का विचार करना चाहिए।

इन दोनों दृष्टियों से तत्कालीन चिन्तन के योग्य माने जाने वाले कतिपय प्रमुख प्रश्नबिन्दु इस प्रकार थे—

लोक शाश्वत है या अशाश्वत ? जीव नित्य है या अनित्य ? जीव और शरीर भिन्न है या अभिन्न ? द्रव्य और पर्याय में भेद है या अभेद ? द्रव्य एक है या अनेक ? इसी प्रकार से और दूसरे भी लोक व जीवन के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाले वैकल्पिक प्रश्नों का समावेश किया जा सकता है। इन प्रश्नों की उत्पत्ति के मूल में भूत-चैतन्यवाद और आत्मवाद को एकान्त रूप से मानने का प्रबल आग्रह था। लेकिन निर्णय किसी का नहीं हो पा रहा था, जिससे तत्कालीन जन-मानस अस्थिर बना हुआ था और उसका संकेत वैदिक ऋषि की वाणी में मिलता है—एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति—लोक का कारण कोई न कोई एक है, लेकिन विद्वान उसके बारे में विविध प्रकार से कथन करते हैं।

तत्कालीन दार्शनिकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से समाधान भी किया लेकिन अपने ही दृष्टिकोण का आग्रह होने से सत्यतथ्य को प्रकट करने में सक्षम नहीं बन पाते थे। तथागत बुद्ध ने भी प्रयास किया और विभज्यवाद का आश्रय लिया, जिससे जिज्ञासु-जन अपनी आशंकाओं के समाधान के लिए आशान्वित भी हुए लेकिन वे भी प्रत्येक विचार के एकान्तजन्य दोषदर्शन कराने तक दृष्टि रख सके और एकान्तिक दृष्टियों के खण्डन को ही मुख्यता दी। तथागतबुद्ध ने परस्पर विरोधी युगलों में प्रगट दोषों का निरूपण तो अवश्य किया, किन्तु उन दृष्टियों की आपेक्षिक स्थितियों का स्थान निर्धारित नहीं कर सके। उन्हें सदा यह भय रहा कि किसी भी प्रकार का निर्णय शाश्वतवाद या उच्छेदवाद का पोषक न बन जाये। इसका कारण यह है कि उन्होंने शाश्वत या नित्य, अशाश्वत या अनित्य इन दोनों को पृथक्-पृथक् मानकर वस्तुतत्त्व का विवेचन करने की शैली अपनाई। त्रिपिटकों में उनकी दृष्टि को व्यक्त करने वाले अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं।

इस प्रकार के निषेध मार्ग का अवलम्बन लेने से तथागत बुद्ध विभज्यवाद, प्रतीत्यसमुत्पादवाद का आधार लेकर भी वस्तु स्वरूप के निर्णायक नहीं बन सके। लेकिन भगवान महावीर ने दोनों वादों—शाश्वत-अशाश्वत आदि परस्पर सापेक्ष धर्मों

का समान स्तर पर मूल्यांकन किया। दोनों के बलाबल को समझा और निष्पक्ष होकर उनकी दृष्टियों का निर्धारण नय के माध्यम से किया। इसका परिणाम यह हुआ कि सभी दृष्टियाँ अपने-अपने स्थान पर सानुकूल व्यवस्थित होकर एक-दूसरे की प्रतिपक्षी नहीं रहीं। शत्रुवत् प्रतीत होने वाली दृष्टियाँ एक-दूसरे की पूरक बनकर मित्रवत् हो गईं। बस इसी मित्र दृष्टि से स्याद्वाद—अनेकांतवाद का सहज रूप में प्रादुर्भाव हो गया।

भगवान महावीर ने इस स्याद्वादात्मक दृष्टि का उपयोग विभिन्न दार्शनिकों के विचारों का समन्वय करने के लिए भी किया और स्व-सिद्धान्त प्रतिपादन के लिए भी। इसी मूल दृष्टि का आधार लेकर उत्तरकालीन आचार्यों ने तार्किक ढंग से दर्शनान्तरों का खंडन भी किया और स्व-पक्ष का मंडन भी और उन-उन दृष्टियों के अन्तर्रहस्य को प्रकट किया। दार्शनिक चर्चा के विकास के साथ जैसे-जैसे प्रश्नों की विविधता बढ़ती गई, वैसे-वैसे स्याद्वाद का क्षेत्र भी व्यापक बनता गया। लेकिन भगवान महावीर द्वारा समसामयिक प्रश्नों के लिए जो दृष्टि अंगीकार की गई थी और उन्होंने जिस शैली से समन्वय किया, वही दृष्टि और शैली व्यापक बनती गई। आगमों में यदि हमें द्रव्य-पर्याय के तथा जीव-शरीर के भेदाभेद आदि के अनेकांतवाद के दर्शन होते हैं तो उत्तरवर्ती दार्शनिक विकास के युग में सामान्य और विशेष, द्रव्य और गुण, द्रव्य और जाति के भेदाभेद, नित्यानित्य इत्यादि अनेक प्रकार के प्रश्नों की चर्चा के रूप दिखाई देते हैं। इस प्रकार से विविध धर्म-युगलों को लेकर भगवान महावीर ने जो चर्चायें की, जो विचारधारा व कथन शैली प्रस्तुत की, वही अनेकांतवाद का मूल आधार है। स्याद्वाद रूपी भव्य भवन की नींव वही है।

इसके इस समन्वयकारी रूप को प्रतिष्ठित करते हुए कहा गया है—

> नीति-विरोधध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक्।
> परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

☐

मिथो विवादं बहुशः कुर्वन्तो
व्यर्थमेव लोकेऽस्मिन् ।
येन हि गगच्छन्ते सः
स्याद्वादोऽभिवन्द्यतेऽस्माभिः ॥
निःश्रेयस पदमचलं येन
विनानैव लभ्यते सद्भिः ।
विश्वदर्शनसमन्वयकारिः
स्याद्वादोऽपक्षपातेन ॥

सप्तम अध्याय

७ स्याद्वाद : विभिन्न समन्वय विधियाँ और शून्यवाद

- □ समन्वय की विभिन्न विधियाँ
- □ काण्ट की समन्वय विधि
- □ हीगेल की समन्वय विधि
- □ ब्रैडले की समन्वय विधि
- □ वेदान्त की समन्वय विधि : अद्वैतवाद
- □ बौद्धदर्शन की समन्वय विधि : शून्यवाद
- □ स्याद्वाद और शून्यवाद : तुलनात्मक अध्ययन
- □ शून्यवाद की समीक्षा
- □ जैनदर्शन की समन्वय विधि : स्याद्वाद अनेकान्तवाद

अन्य दार्शनिकों ने भी समन्वय का प्रयत्न किया है। इनमें पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनों ही दार्शनिक सम्मिलित हैं। इनके प्रयत्नों का विभाजन निम्न प्रकार है—

(१) कांट की समन्वय विधि,
(२) हीगेल की समन्वय विधि,
(३) ब्रेडले की समन्वय विधि,
(४) वेदांत की समन्वय विधि (अद्वैतवाद),
(५) बौद्धदर्शन की समन्वय विधि (शून्यवाद),
(६) जैनदर्शन की समन्वय विधि (अनेकांतवाद-स्याद्वाद)।

उक्त समन्वय विधियों में प्रथम तीन पाश्चात्य और अन्तिम तीन पौर्वात्य दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित हैं। इनका संक्षिप्त विवेचन क्रमशः इस प्रकार है—

कांट की समन्वय विधि

इमेन्युल कांट जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् हैं। उन्होंने दर्शन मीमांसा को अपने चिन्तन का विषय बनाकर दर्शन की सीमाएं निश्चित कीं। जगत्, आत्मा-परमात्मा विषयक सभी मत उनके विचारानुसार आत्म-विरोधी हैं। उन्होंने अपने ग्रंथ 'शुद्ध बुद्धि की परीक्षा' में जगत की उत्पत्ति सम्बन्धी विचारों को एन्टीनोमीज आत्मविषयक वादों को पैरालोजिज्म और ईश्वर विषयक वादों को 'आइडियल ऑफ रीजन' के अन्तर्गत रखकर तद्विषयक अन्य वादों का खण्डन किया और मूल तत्त्व को अज्ञेय बताया। लेकिन इस अज्ञेयवाद का दर्शन-समन्वय में कोई महत्त्व नहीं है। इसे संजय के अज्ञानवाद के समकक्ष मानना उचित होगा। क्योंकि वस्तुस्वरूप को न समझने के कारण उसे अज्ञेय कह देना तो एक तरह की बौद्धिक पराजय है जिसका चिन्तन के क्षेत्र में कुछ भी मूल्य नहीं है।

हीगेल की समन्वय विधि

कांट के विरोध में हीगेल ने एक नई समन्वय विधि उपस्थित की। अज्ञेयवादी विधि का उसने तीव्र विरोध करते हुए मूल तत्त्व अथवा सत्ता को ज्ञान का विषय घोषित किया। उसी मूल तत्त्व की दार्शनिक नाना प्रकार से व्याख्यायें करते हैं। दार्शनिकों की कुछ निश्चित धारणायें होती हैं। इन्हीं धारणाओं में वाद प्रतिवाद की क्रिया-प्रतिक्रिया होती है और उसके बाद संवाद या समन्वयवाद की रचना स्वतः हो जाती है। उदाहरणार्थ किसी दार्शनिक ने एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तो दूसरे ने उसका खण्डन किया। तीसरे ने उन दोनों का खंडन करके अपनी ओर से एक नये विचार को जन्म दिया। जैसे किसी एक ने कहा 'अस्ति' तो दूसरे ने कहा 'नास्ति' इस पर तीसरे ने कहा—'होना' इसमें अस्ति और नास्ति इन दोनों का समावेश हो गया। हीगेल की मान्यता है कि पश्चाद्वर्ती विचारक अपने पूर्ववर्ती विचारकों के विचारों का खंडन करते हुए भी उनमें विद्यमान सचाई के अंश को ज्ञात या अज्ञात

रूप से स्वीकार कर लेते हैं। प्रत्येक विचार अपने केन्द्र में अपूर्ण होने से वह पूर्ण सत्य के दर्शन करने में अक्षम रहता है। अतः सत्य की प्राप्ति सभी विचारों की समष्टि-समन्वय से होती है। यह कथन अनेकांतवाद से प्रभावित है। लेकिन हीगेल की तार्किक कठिनाई यह है कि उन्होंने मूल तत्त्व को निरपेक्ष माना है जिसका विकास वाद, प्रतिवाद और संवाद की वक्र प्रक्रिया द्वारा होता है।

हीगेल के यह विचार भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के रूप में ग्रहण किये गये। द्वन्द्ववाद का अर्थ है अपने भीतरी विरोधी स्वभावों के द्वन्द्व से प्रकृति का एक तीसरे रूप में विकसित होना। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार जगत के परिवर्तन की व्याख्या के निम्नलिखित तीन आधार हैं—

(१) विरोधी समागम, (२) गुणात्मक परिवर्तन, (३) प्रतिषेध का प्रतिषेध।

वस्तु के अन्तर में विरोधी प्रवृत्तियाँ रहती हैं। इससे परिवर्तन के लिए सबसे आवश्यक वस्तु गति उत्पन्न होती है और फिर वाद एवं प्रतिवाद के संघर्ष से संवाद रूप में नया गुण पैदा होता है। यह गुणात्मक परिवर्तन है और उसका भी प्रतिषेध, यह प्रतिषेध का प्रतिषेध है।

कार्ल मार्क्स ने इस सिद्धान्त का आत्मा या अणु तक ही नहीं किन्तु राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक आदि जीवन के सभी पहलुओं पर प्रयोग किया। मार्क्सवादियों के कथनानुसार मार्क्स का यह चिन्तन सत्य है।

ब्रेडले की समन्वय विधि

हीगेल की भाँति ब्रेडले के अनुसार भी प्रत्येक निर्णय अंशतः सत्य होता है और अंशतः मिथ्या। पूर्ण सत्य किसी एक वाक्य या अनुभव में नहीं पाया जाता है अपितु वाक्य समष्टि में ही पाया जाता है। पूर्ण सत्य उसी सत्य को कहा जा सकता है, जिसका विषय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। पूर्ण सत्य आंशिक सत्यों अथवा सिद्धान्तों की वह समष्टि है जिसके द्वारा स्वयं एक समष्टि रूप विश्व की समग्रता अभिव्यक्त होती है।

वेदान्त की समन्वय विधि

वेदांतदर्शन ने निरपेक्ष अद्वैतवाद पर आधारित समन्वय विधि की स्थापना की। उसने दृश्यमान जगत की विविधताओं को ब्रह्म का रूप मानकर नानात्व का निषेध किया। सत्य केवल एक ब्रह्म ही है। द्रव्य, गुण, कर्म कारण-कार्य विषयक समस्त वाद मायाजन्य होने के कारण भ्रान्त हैं। हम जो कुछ भी देखते हैं वह सब ब्रह्म का ही प्रपंच है, किंतु ब्रह्म को कोई नहीं देखता या नहीं देख सकता है। जितने भी दर्शन अथवा वाद निर्मित होते हैं, वे सब तो बुद्धि एवं तर्क के ऊहापोह मात्र हैं। उनका वास्तविक अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन ने अद्वैत ब्रह्मवाद के आधार से समस्त वादों के समन्वय का प्रयास किया।

बौद्धदर्शन की समन्वय विधि-शून्यवाद

तथागत बुद्ध के विभज्यवाद के आधार पर द्वितीय शताब्दी के उद्भट बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने माध्यमिक दर्शन द्वारा समस्त दर्शन तथा वादों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया और अपने दृष्टिकोण को 'शून्यवाद' कहा।

शून्यवाद का मंतव्य है कि पदार्थों का न तो निरोध होता है, न उत्पाद होता है, और न उच्छेद होता है, न वे नित्य हैं, न उनमें अनेकता है, न एकता है और न उनमें गमन होता है और न आगमन होता है।[१] अतएव सभी धर्म माया के समान होने से निस्स्वभाव हैं। जो जिसका स्वभाव होता है वह उससे कभी पृथक् नहीं होता और न वह किसी की अपेक्षा रखता है। किंतु हम जितने भी पदार्थ देखते हैं, वे सब अपने अपने हेतु—प्रत्यय-सामग्री से उत्पन्न होते हैं और अपनी योग्य सामग्री के अभाव में नहीं होते हैं।[२] अतएव जो लोग स्वभाव से पदार्थों को भाव रूप मानते हैं, वे अहेतु-प्रत्यय से पदार्थों की उत्पत्ति स्वीकार करना चाहते हैं। सपूर्ण पदार्थ परस्पर सापेक्ष हैं कोई भी पदार्थ सर्वथा निरपेक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता है। हम पदार्थों का स्वभाव की अपेक्षा उत्पन्न होना नहीं मान सकते हैं।[३] पदार्थ स्वभाव से भावरूप नहीं हैं, इसलिये वे परभाव की अपेक्षा भी उत्पन्न नहीं होते हैं, अन्यथा सूर्य से भी अंधकार की उत्पत्ति माननी चाहिये। पदार्थ स्वभाव और परभाव की अपेक्षा उत्पन्न नहीं होते हैं, इसलिये स्वभाव और परभाव उभय-रूप से भी उनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है तथा भाव, अभाव और भावाभाव से पदार्थों की उत्पत्ति न होने से अनुभय रूप से भी पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। सारांश यह है कि वस्तु न तो स्वयं उत्पन्न होती है, न किसी दूसरे हेतुओं से उत्पन्न होती है, न दोनों से और न अहेतु से ही। जब उत्पाद ही नहीं तो वस्तु का अपना स्वरूप ही कोई नहीं बन सकता है।[४]

---

१ अनिरुद्धमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतं।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्॥

—माध्यमिकवृत्ति प्रत्यय परीक्षा

२ हेतु प्रत्ययं अपेक्ष्य वस्तुन. स्वभावता न इतरथा।

३ य. प्रत्ययैर्जायति स ह्यजातो न तस्य उत्पादु सभावतोऽस्ति।
यः प्रत्ययाधीनु स शून्य उक्तो, यः शून्यतां जानति सोऽप्रमत्तः॥

—बोधिचर्यावतार पंजिका, पृ० ३५५

४ (क) न सद् नासद् न सदसत् न चानुभयात्मकम्।
चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥

—माध्यमिक कारिका २।३

(ख) न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकं।

—बोधिचर्यावतार पंजिका, पृ० ३५६

में बाह्य और आध्यात्मिक भावों का प्रतिपादन इन्हीं दो सत्यों के आधार से किया गया है।[१] साधारण लोग तो विपर्यास के कारण संवृतिसत्य से स्कन्ध धातु, आयतन आदि को तत्त्व रूप में देखते हैं परन्तु सम्यग्दर्शन होने पर तत्त्वज्ञ आर्य लोगों को स्कंध आदि निस्स्वभाव प्रतीत होने लगते हैं। इसलिये क्या अनन्त है, क्या अन्त है, क्या अन्त-अनन्त (उभय) है, क्या अनुभय (न अन्त और न अनत) है, क्या अभिन्न है, क्या भिन्न है, क्या शाश्वत है क्या अनित्य है, क्या नित्य-अनित्य है और क्या अनुभय (न नित्य और न अनित्य) है।[२] ये प्रश्न बुद्धिमानों को नहीं उठते हैं। स्वयं निर्वाण भी भावरूप है या अभावरूप यह हम नही जान सकते हैं। क्योंकि निर्वाण न उत्पन्न होता है, न निरुद्ध होता है, न वह नित्य है और न अनित्य है। निर्वाण में न कुछ नष्ट होता है और न कुछ उत्पन्न होता है।[३] जो निर्वाण है, वही ससार है और, जो संसार है, वही निर्वाण है।[४] इसलिये भाव, अभाव, उभय, अनुभय इन चार कोटियों से रहित प्रपंचोपशमरूप निर्वाण को बौद्धो में परमार्थ तत्त्व माना जाता है। सर्व धर्मों के निस्स्वभाव होने से परमार्थ सत्य अनक्षर है, इसीलिये आर्यों ने तूष्णीभाव को ही परमार्थ सत्य कहा है, फिर भी व्यवहारसत्य परमार्थ सत्य का उपायभूत है।[५] जिस तरह संस्कृत धर्म से असंस्कृत निर्वाण की प्राप्ति होती है, उसी तरह संवृतिसत्य से परमार्थसत्य की उपलब्धि होती है। वास्तव मे न तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को प्रमाण कहा जा सकता है और न वास्तव में पदार्थ को क्षणिक ही कह सकते हैं। किंतु जिस तरह कोई पुरुष अपवित्र वस्तु में पवित्र भावना रखता है, उसी तरह मूर्ख पुरुष मायारूप भावों मे क्षणिक, अक्षणिक आदि धर्मों का प्रतिपादन करते

---

१ द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोक संवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ॥

—माध्यमिक कारिका २४।८

२ माध्यमिक कारिका, निर्वाण परीक्षा

३ अप्रहीणामसांप्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतं।
अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमिष्यते ॥

—माध्यमिककारिका, निर्वाण परीक्षा

४ निर्वाणस्य च या कोटिः कोटिः संसरणस्य च।
न तयोरन्तरं किंचित् सु सूक्ष्ममपि विद्यते ॥

—माध्यमिक कारिका, निर्वाण परीक्षा

५ उपायभूतं व्यवहारसत्यं उपेयभूतं परमार्थसत्यं।
तयोर्विभागोऽवगतो न येन मिथ्याविकल्पैः स कुमार्गजातः ॥

—मध्यमा० ७।८० चन्द्रकीर्ति

है।[1] विशेष तो क्या कहें, परमार्थसत्य से बुद्ध और उनकी देशना भी मृगतृष्णा के समान है। इसीलिये धर्मों के निस्स्वभाव होने पर भी प्राणियों की प्रज्ञप्ति के लिए ही बुद्ध ने इनका उपदेश दिया है।[2]

सम्पूर्ण भावों के शून्य होने की तरह शून्यता को शून्य इसलिये नहीं माना जाता है कि वास्तव में सम्पूर्ण पदार्थों के निस्स्वभावत्व का साक्षात्कार करने के लिये ही बुद्ध ने शून्यता का उपदेश दिया है। शून्यता भाव, अभाव आदि चार कोटियों से रहित है, अतः शून्यता को अभाव (शून्य) रूप नहीं कह सकते हैं किंतु भव-वासना का नाश करने के लिये ही शून्यता का उपदेश दिया गया है। इसलिये शून्यता में भी शून्यता की बुद्धि रखने से नैरात्म्यवाद का साक्षात् अनुभव नहीं हो सकता है। अतएव भाव-अभिनिवेश की तरह हमें शून्यता में भी अभिनिवेश नहीं रखना चाहिये। अन्यथा भाव-अभिनिवेश और शून्यता-अभिनिवेश इन दोनों में कोई अंतर नहीं रहेगा।[3] जिस समय भाव, अभाव, शुद्धि, अशुद्धिरूप प्रपञ्चवृत्ति नहीं रहती, उस समय ईंधन रहित अग्नि की तरह सत् और असत् के आलंबन से रहित बुद्धि संपूर्ण विकल्पों के उपशम होने से शांत हो जाती है।

समन्वय के लिये बौद्धदर्शन का उक्त शून्यवादात्मक दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण कहाँ तक सत्य है, एतदर्थ स्याद्वाद और शून्यवाद का तुलनात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत करते हैं।

स्याद्वाद और शून्यवाद : तुलनात्मक अध्ययन

स्याद्वाद जैसे 'स्यात्' और 'वाद' इन शब्दों का यौगिक रूप है वैसे ही शून्यवाद भी 'शून्य' एवं 'वाद' इन दो शब्दों से निष्पन्न है। इन दोनों वादों के बारे में क्रमशः स्यात् और शून्य शब्द को लेकर दार्शनिकों में बहुत ही भ्रांतियां फैलीं। स्यात् और शून्य शब्द को लेकर दार्शनिकों ने इन दोनों वादों का खंडन किया है। शून्यवाद का खंडन परम नास्तिक मानकर और स्याद्वाद का खंडन संशयवादी कहकर किया गया है। लेकिन उस खंडन में तर्क नहीं, केवल अहंकारवादी है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन सभी दार्शनिकों ने इन दोनों वाद विषयक मूल ग्रंथों को देखने का प्रयास नहीं किया है। शंकराचार्य जैसे उद्भट विद्वान् ने

---

१ प्रज्ञप्त्यादिषु शुन्यादि प्रमिद्धिरिव सा मृषा ॥
सोपावतारणार्थं च मावा मायेन देशिता।
तत्त्वतः क्षणिका नैते संवृत्या चेद् विरुद्ध्यते ॥ — बोधिचर्यावतार ६।१,७

२ शून्य इति नवक्तव्य अशून्यं इति वा भवेत्।
उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते ॥ —माध्यमिककारिका २२।११

३ सर्वं सकल्पहानाय शून्यतामृतदेशना।
यस्य तस्यामपि ग्राहस्त्वयाऽसाववसादित ॥ —बोधिचर्यावतार पृ० ३२४

स्वीकार किया और पदार्थ को शून्यता से आरोपित करके प्रतीत्यसमुत्पाद तथा शून्यवाद का समीकरण किया[1] जो प्रयोग की दृष्टि से भ्रामक बन गया। इस भ्रम का कारण है भाषा प्रयोग की मर्यादा। वचनप्रयोग पूर्णरूप से अपने भावों की अभिव्यक्ति न करके आंशिक रूप में ही कर पाते हैं। इसीलिए भगवान महावीर ने जो अपेक्षाभेद से विरोधी मंतव्यों को स्वीकार करके अपेक्षामूलक शब्द 'स्यात्' रखा था, वही शब्द दार्शनिकों में भ्रम पैदा करने का कारण हुआ, वैसे ही 'शून्य' शब्द को लेकर भ्रम पैदा हुआ। इसी कारण से स्याद्वाद को संशयवाद और शून्यवाद को नास्तिकवाद समझा गया। लेकिन भाषा प्रयोग की मर्यादा का अर्थ यह नहीं कि तत्त्व जिज्ञासा के लिए उसका उपयोग ही न किया जाये। यद्यपि शून्यवाद में परमार्थ वचनप्रयोग से अतीत माना है, फिर भी वह जो अपना मन्तव्य भाषा के द्वारा व्यक्त करता है उसकी दृष्टि का पहले संकेत किया जा चुका है कि परमार्थ वचनातीत तो है, किन्तु अनुभवगम्य अवश्य है और लौकिक जनों को समझाने के लिए भाषा प्रयोग भी आवश्यक है।[2]

स्याद्वाद की तरह शून्यवाद की स्थापना में युक्ति और आगम का अवलंबन अपेक्षित है[3] तथा दोनों ने यह भी स्वीकार किया कि यदि एक भाव का परमार्थ स्वरूप समझ लिया जाये तो सभी भावों का परमार्थ स्वरूप समझ लिया गया मानना चाहिये।[4] दोनों ने व्यवहार और परमार्थ सत्यों को स्वीकार किया है। स्याद्वाद निश्चय और व्यवहार नय बतलाकर जो बात कहता है, वही शून्यवाद संवृति और परमार्थ सत्य मानकर कहता है।

---

१ यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे। —माध्यमिक कारिका २४।१८

२ (क) नान्यया भाषया म्लेच्छः शक्यो ग्राहयितुं यथा।
न लौकिकमृते लोकः शक्यो ग्राहयितुं तथा॥ —चतुःशतक ११६

(ख) इसी तरह का विचार जैनदर्शन में भी देखने में आता है। देखिये समयसार गाथा ८।

३ आचार्यो युक्त्यागमाभ्यां संशय मिथ्याज्ञानापाकरणार्थं शास्त्रमिदमारब्धवान्।
—माध्य० का० पृ० १३ चन्द्रकीर्ति

४ (क) जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।
—आचारांग ३।४।१

(ख) एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥
स्याद्वाद मंजरी श्लोक १४ की व्याख्या में उद्धृत

(ग) भावस्यैकस्य यो द्रष्टा द्रष्टा सर्वस्य स स्मृतः।
एकस्य शून्यतामैव सैव सर्वस्य शून्यता॥
—माध्य० वृत्ति० पृ० ५० चन्द्रकीर्ति

[illegible] से इन दोनों वादों का [illegible] रूप से अध्ययन किया है [illegible] सभी दार्शनिकों ने उसका ही अनुसरण करके [illegible] किया है [illegible] है।

स्याद्वाद समान नहीं, पर जो पूर्व में हमने विभिन्न मतों और उनके मूल ग्रन्थों को देखने से स्पष्ट हो ही जाता है और शून्यवाद भी उच्छेदवाद नहीं होने से नास्तिक नहीं है। नास्तिक के लिये तो परमार्थ कुछ नहीं होता है, जबकि शून्यता ही परमार्थ है।

यह पहले बताया जा चुका है कि तथागत बुद्ध अपने को विभज्यवादी कहते हैं, एकांशवादी नहीं। उन्होंने उपनिषद् सम्मत शाश्वतवाद और चार्वाक सम्मत उच्छेदवाद दोनों का अस्वीकार करके प्रतीत्यसमुत्पादवाद की स्थापना की, जिसे कार्यकारण के संबंध में एक नई विचारधारा माना गई। भगवान महावीर ने भी भिक्षुओं को विभज्यवाद अपनाने का आदेश दिया है। उसी विभज्यवाद का रूपान्तर अनेकान्तवाद स्याद्वाद है। विभज्यवाद अपेक्षा पर आधारित है और स्याद्वाद भी अपेक्षा पर आधारित है। प्रतीत्यसमुत्पाद का तात्पर्य भी अपेक्षावाद है। इस प्रकार एक सीमा तक दोनों वादों का साम्य स्पष्ट है। लेकिन उसके बाद इन दोनों वादों का जो विकास हुआ, उसने दो विभिन्न दिशाएँ ग्रहण कर लीं। बौद्धदर्शन के प्रतीत्यसमुत्पादवाद की निष्पत्ति शून्यवाद में हुई जो निषेध प्रधान है। निषेधप्रधान का तात्पर्य यह है कि तथागत बुद्ध को नास्तिकता तो इष्ट नहीं थी किन्तु उन्होंने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद इन दोनों का निषेध करके मध्यम मार्ग का उपदेश दिया और जैनदर्शन में नयवाद का विकास हुआ जो विधिप्रधान है। भगवान महावीर ने शाश्वत और उच्छेद इन दोनों को अंशांशरूप से स्वीकार करके विधिमार्ग अपनाया। इस प्रकार स्याद्वाद और शून्यवाद में एकान्त उच्छेद और एकान्त विनाश समान रूप से असम्मत है। लेकिन दोनों में अन्तर यह है कि स्याद्वाद की भाषा में विधि प्रधान प्रयोग है और शून्यवाद का भाषा प्रयोग निषेध प्रधान है।

शून्यवाद की उत्पत्ति का आधार तथागत बुद्ध का विभज्यवाद का विचार है जो प्रतीत्यसमुत्पाद के रूप में उपस्थित हुआ और जिसे बुद्ध ने मध्यम मार्ग कहकर छोड़ दिया। लेकिन नागार्जुन ने विभज्यवाद-प्रतीत्यसमुत्पादवाद[1] का अर्थ वचनागोचर

---

१ नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद का निम्नलिखित रूप माना है—

> अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतं ।
> अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ॥
> यः प्रतीत्यसमुत्पादं····
>
> —माध्यमिक कारिका १

स्वीकार किया और पदार्थ को शून्यता से आरोपित करके प्रतीत्यसमुत्पाद तथा शून्यवाद का समीकरण किया[1] जो प्रयोग की दृष्टि से भ्रामक बन गया। इस भ्रम का कारण है भाषा प्रयोग की मर्यादा। वचनप्रयोग पूर्णरूप से अपने भावों की अभिव्यक्ति न करके आंशिक रूप में ही कर पाते हैं। इसीलिए भगवान महावीर ने जो अपेक्षा-भेद से विरोधी मंतव्यों को स्वीकार करके अपेक्षासूचक शब्द 'स्यात्' रखा था, वही शब्द दार्शनिकों में भ्रम पैदा करने का कारण हुआ, वैसे ही 'शून्य' शब्द को लेकर भ्रम पैदा हुआ। इसी कारण से स्याद्वाद को संशयवाद और शून्यवाद को नास्तिकवाद समझा गया। लेकिन भाषा प्रयोग की मर्यादा का अर्थ यह नहीं कि तत्त्व जिज्ञासा के लिए उसका उपयोग ही न किया जावे। यद्यपि शून्यवाद में परमार्थ वचनप्रयोग से अतीत माना है, फिर भी वह जो उसका मंतव्य भाषा के द्वारा व्यक्त करता है उसकी दृष्टि का पहले संकेत किया जा चुका है कि परमार्थ वचनातीत तो है, किन्तु अनुभवगम्य अवश्य है और लौकिक जनों को समझाने के लिए भाषा प्रयोग भी आवश्यक है।[2]

स्याद्वाद की तरह शून्यवाद की स्थापना में युक्ति और आगम का अवलम्बन अपेक्षित है[3] तथा दोनों ने यह भी स्वीकार किया कि यदि एक भाव का परमार्थ स्वरूप समझ लिया जावे तो सभी भावों का परमार्थ स्वरूप समझ लिया गया मानना चाहिये।[4] दोनों ने व्यवहार और परमार्थ सत्यों को स्वीकार किया है। स्याद्वाद निश्चय और व्यवहार नय बतलाकर जो बात कहता है, वही शून्यवाद संवृति और परमार्थ सत्य मानकर कहता है।

---

१ *यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।* —माध्यमिक कारिका २४।१८

२ (क) नान्यया भाषया म्लेच्छः शक्यो ग्राहयितुं यथा।
न लौकिकमृते लोकः शक्यो ग्राहयितुं तथा॥ —चतुःशतक ८।१९

(ख) इसी तरह का विचार जैनदर्शन में भी देखने में आता है। देखिये समयसार गाथा ८।

३ आचार्यो युक्त्यागमाभ्यां संशय मिथ्याज्ञानापाकरणार्थं शास्त्रमिदमारब्धवान्।
—माध्य० का० पृ० १३ चन्द्रकीर्ति

४ (क) जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।
—आचारांग १।३।४

(ख) एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥
स्याद्वाद मंजरी श्लोक १४ की व्याख्या में उद्धृत

(ग) भावस्यैकस्य यो द्रष्टा द्रष्टा सर्वस्य स स्मृतः।
एकस्य शून्यतायैव सैव सर्वस्य शून्यता॥
—माध्य० वृत्ति० पृ० ५० चन्द्रकीर्ति

स्वीकार किया और पदार्थ को शून्यता से आरोपित करके प्रतीत्यसमुत्पाद तथा शून्यवाद का समीकरण किया[1] जो प्रयोग की दृष्टि से भ्रामक बन गया। इस भ्रम का कारण है भाषा प्रयोग की मर्यादा। वचनप्रयोग पूर्णरूप से अपने भावों की अभिव्यक्ति न करके आंशिक रूप में ही कर पाते हैं। इसीलिए भगवान महावीर ने जो अपेक्षाभेद से विरोधी मंतव्यों को स्वीकार करके अपेक्षासूचक शब्द 'स्यात्' रखा था, वही शब्द दार्शनिकों में भ्रम पैदा करने का कारण हुआ, वैसे ही 'शून्य' शब्द को लेकर भ्रम पैदा हुआ। इसी कारण से स्याद्वाद को संशयवाद और शून्यवाद को नास्तिकवाद समझा गया। लेकिन भाषा प्रयोग की मर्यादा का अर्थ यह नहीं कि तत्त्व जिज्ञासा के लिए उसका उपयोग ही न किया जाये। यद्यपि शून्यवाद में परमार्थ वचनप्रयोग से अतीत माना है, फिर भी वह जो अपना मंतव्य भाषा के द्वारा व्यक्त करता है उसकी दृष्टि का पहले संकेत किया जा चुका है कि परमार्थ वचनातीत तो है, किन्तु अनुभवगम्य अवश्य है और लौकिक जनों को समझाने के लिए भाषा प्रयोग भी आवश्यक है।[2]

स्याद्वाद की तरह शून्यवाद की स्थापना में युक्ति और आगम का अवलम्बन स्वीकृत है[3] तथा दोनों में यह भी स्वीकार किया कि यदि एक भाव का परमार्थ स्वरूप समझ लिया जावे तो सभी भावों का परमार्थ स्वरूप समझ लिया गया मानना चाहिये।[4] दोनों ने व्यवहार और परमार्थ सत्यों को स्वीकार किया है। स्याद्वाद निश्चय और व्यवहार नय बतलाकर जो बात कहता है, वही शून्यवाद संवृति और परमार्थ सत्य मानकर कहता है।

---

१ यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे। —माध्यमिक कारिका २४।१८

२ (क) नान्यया भाषया म्लेच्छः शक्यो ग्राहयितुं यथा।
न लौकिकमृते लोकः शक्यो ग्राहयितुं तथा॥ —चतुःशतक ८।१६

(ख) इसी तरह का विचार जैनदर्शन में भी देखने में आता है। देखिये समयसार गाथा ८।

३ आचार्यो युक्त्यागमाभ्यां संशय मिथ्याज्ञानापाकरणार्थं शास्त्रमिदमारब्धवान्।
—माध्य० का० वृ० १३ चन्द्रकीर्ति

४ (क) जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।
—आचारांग ३।४।१

(ख) एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥
स्याद्वाद मंजरी श्लोक १४ की व्याख्या में उद्धृत

(ग) भावस्यैकस्य यो द्रष्टा द्रष्टा सर्वस्य स स्मृतः।
एकस्य शून्यतामेव सैव सर्वस्य शून्यता॥
—माध्य० वृत्ति० पृ० ५० चन्द्रकीर्ति

8

स्याद्वाद : दार्शनिकों की आलोचनाओं का निराकरण

जैनदर्शन ने दर्शन शब्द की काल्पनिक व्याख्याओं से ऊपर उठकर तत्त्व-चिन्तन के क्षेत्र में बद्धमूल एकान्तिक धारणाओं का उन्मूलन करने एवं वस्तु के यथार्थ स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए अनेकान्तदृष्टि और स्याद्वाद की भाषा दी है। इस देन में उसका यही उद्देश्य रहा है कि विश्व अपने वास्तविक स्वरूप को समझे कि उसका प्रत्येक चेतन और जड़ तत्त्व अनन्तधर्मों का भण्डार है, प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण, पर्याय और धर्मों का पिण्ड है। वह अपनी अनादि-अनन्त संतानस्थिति की दृष्टि से नित्य है। कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता जब विश्व के रंगमंच से एक कण का भी समूल विनाश हो जाये या उसकी संतति सर्वथा उच्छिन्न हो जाये। साथ ही उसकी पर्यायें प्रतिक्षण बदल रही हैं। उसके गुण-धर्मों में सदृश या विसदृश परिवर्तन हो रहा है, अतः वह अनित्य भी है। इसी तरह अनन्त गुण, शक्ति, पर्याय और धर्म प्रत्येक वस्तु की निजी सम्पत्ति हैं, लेकिन हमारा स्वल्प ज्ञान इनमें से एक-एक अंश को विषय करके क्षुद्र मतवादों की सृष्टि कर रहा है।

स्याद्वाद के उक्त दृष्टिकोण को सही समझकर और वस्तु को यथार्थ दृष्टिकोण से देखने का प्रयास न कर अनेक भारतीय दार्शनिकों ने अपने एकांगिक चिन्तन के आधार पर स्याद्वाद सिद्धान्त की आलोचना एवं उस पर दोषारोपण करने का प्रयास किया है। प्रस्तुत प्रसंग में स्याद्वाद के बारे में उनके द्वारा किये गये आक्षेपों के निराकरण की रूपरेखा एवं स्याद्वादात्मक दृष्टिकोण का संक्षेप में संकेत करते हैं। जिससे आक्षेपों की यथार्थता का सही मूल्यांकन किया जा सके।

शंकराचार्य और स्याद्वाद

महर्षि बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र में सामान्य रूप से अनेकान्त तत्त्व में दूषण देते हुए कहा था—

नैकस्मिन्न संभवात्।[1]

—एक वस्तु में अनेक धर्म नहीं हो सकते हैं।

---

1 ब्रह्मसूत्र २।२।३३

शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर लिखित अपने शांकर-भाष्य में उक्त सूत्र की व्याख्या में इसे 'विषमन समय' लिखकर स्याद्‌वाद के सप्तभंगी नय में सूत्र निर्दिष्ट विरोध के अलावा संशयदोष का भी संकेत किया है। सूत्र पर भाष्य लिखते हुए उन्होंने कहा है कि 'एक वस्तु में परस्पर विरोधी अनेक धर्म नहीं हो सकते हैं। जैसे कि एक ही वस्तु शीत और उष्ण नहीं हो सकती है। जो सात पदार्थ या पंचास्तिकाय बताये है, उनका वर्णन जिस रूप में है, वे उस रूप में भी होंगे और अन्य रूप में भी। यानी एक भी रूप से उनका निश्चय नहीं होने से संशय दूषण आता है। प्रमाता, प्रमिति आदि के स्वरूप में भी इसी तरह निश्चयात्मकता न होने से तीर्थंकर किसे उपदेश देंगे और श्रोता कैसे प्रवृत्ति करेंगे? पांच अस्तिकायों की पांच संख्या है भी और नहीं भी, यह तो बड़ी विचित्र बात है। एक तरफ अवक्तव्य भी कहते हैं, फिर उसे अवक्तव्य शब्द से कहते भी जाते हैं। यह तो स्पष्ट विरोध है कि—'स्वर्ग और मोक्ष है भी और नहीं भी, नित्य भी है और अनित्य भी'। तात्पर्य यह कि एक वस्तु में परस्पर विरोधी दो धर्मों का होना संभव ही नहीं है। अतः आर्हत मत का स्याद्‌वाद सिद्धांत असंगत है।[१]

शंकराचार्य के उक्त कथन के बारे में स्याद्‌वाद का दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के पूर्व यहाँ उन विद्वानों का अभिमत उपस्थित करते हैं जिन्होंने शांकर भाष्य और स्याद्‌वाद के बारे में तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन करके अपने विचार व्यक्त किये हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय के उपकुलपति महामहोपाध्याय स्व० गंगानाथ झा एम० ए०, डी० लिट् एल० एल० डी० ने अपनी विचारपूर्ण सम्मति में लिखा है—"जब से मैंने शंकराचार्य द्वारा किया गया जैन सिद्धांत का खंडन पढ़ा है, तब से मुझे विश्वास हुआ कि इस सिद्धांत में बहुत कुछ है, जिसे वेदान्त के आचार्यों ने नहीं समझा है और जो कुछ अब तक मैं जैनधर्म को जान सका हूँ, उससे मुझे यह दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे (शंकराचार्य) जैनधर्म को उसके असली ग्रन्थों से देखने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैनधर्म का विरोध करने की कोई बात नहीं मिलती।"[२]

डॉ० झा के उक्त कथन से भी अधिक स्पष्ट लिखा है स्व० प्रो० फणिभूषण अधिकारी, भूतपूर्व प्रधानाध्यक्ष दर्शन विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ने। उन्होंने कहा है—"जैनधर्म के स्याद्‌वाद सिद्धांत को जितना गलत समझा गया है; उतना किसी अन्य सिद्धांत को नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य जी भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धांत के प्रति अन्याय किया है। यह बात अल्पज्ञ पुरुषों के लिये क्षम्य हो सकती थी, किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान विद्वान के लिये तो अक्षम्य ही कहूँगा। यद्यपि मैं इस महर्षि

---

१ शांकरभाष्य २।२।३३

२ जैनदर्शन, १६ सितम्बर, १९३४

को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के मूल ग्रन्थों के अध्ययन की परवाह नहीं की है।"

गुजरात के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० आनन्द शंकर ध्रुव ने भी अपने एक व्याख्यान में स्याद्वाद सिद्धान्त के बारे में अभिप्राय व्यक्त करते हुए कहा है—"स्याद्वाद का सिद्धांत, अनेक सिद्धांतों का मनन करने के बाद उनका समन्वय करने के लिये प्रस्तुत किया गया है। स्याद्वाद हमारे समक्ष एकीकरण का केन्द्रबिंदु उपस्थित करता है। शंकराचार्य ने स्याद्वाद पर जो आक्षेप किये हैं, वे मूल रहस्य के साथ संबंध नहीं रखते हैं। यह निश्चित है कि विविध दृष्टिबिन्दुओं द्वारा निरीक्षण किये बिना कोई भी वस्तु पूर्ण रूप से समझ में आ नहीं सकती है। इसके लिये स्याद्वाद उपयोगी और सार्थक है। महावीर के सिद्धान्त में बताये गये स्याद्वाद को कितने ही संशयवाद कहते हैं, इसे मैं नहीं मानता हूँ। स्याद्वाद संशयवाद नहीं है, किन्तु वह एक दृष्टि बिन्दु हमारे सामने रखता है। विश्व का किस रीति से अवलोकन करना चाहिये, यह हमको सिखाता है।"

विद्वानों के अभिमतों को उपस्थित करने के बाद अब शंकराचार्य के कथन के बारे में स्याद्वाद का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। जिससे यह स्पष्ट हो सकेगा कि उन्होंने स्याद्वाद के अन्तर्रहस्य को समझने का प्रयास न कर यथार्थता की उपेक्षा की है।

पूर्व में यह संकेत किया जा चुका है कि स्याद्वाद में स्यात् और वाद यह दो शब्द मिले हुए हैं और वह इन दो शब्दों से निष्पन्न यौगिक रूप है। जिसका अर्थ होता है कथंचित्—अपेक्षा विशेष से कथन करना। वस्तु में अनेक धर्म एक साथ रहते हैं और स्यात् शब्द वस्तु के अनेक धर्मों में से जिस धर्म के साथ लगता है, उसकी स्थिति को कमजोर नहीं बनाकर वस्तु में रहने वाले उसके प्रतिपक्षी तथा अन्यान्य अनेक धर्मों की भी सूचना देता है। वस्तु अनेकान्तरूप है, उसमें अनेक धर्म अपेक्षा-पूर्वक अविरोध रूप से रहते हैं, यह समझाने की बात नहीं है। इसे तो बाल-गोपाल आदि सामान्य से सामान्यजन से लेकर वस्तुस्वरूप के मर्मज्ञ विद्वान् तक समझते और जानते हैं। उन्हें इसके लिये समझाना नहीं पड़ता है किन्तु स्वयं अपनी बुद्धि से अनुभव करते हैं कि वस्तु में साधारण, असाधारण और साधारणासाधारण आदि अनेक धर्म पाये जाते हैं। एक ही पदार्थ अपेक्षाभेद से परस्पर विरोधी अनेक धर्मों का आधार होता है। जैसे कि एक ही व्यक्ति अपेक्षाओं के भेद से पिता भी है, पुत्र भी है, गुरु भी है, शिष्य भी है, ज्येष्ठ भी है, कनिष्ठ भी है। इसी तरह और भी अनेक उपाधिभेद अपनी-अपनी अपेक्षाओं से उसमें विद्यमान हैं। यही बात प्रत्येक वस्तु के बारे में भी समझना चाहिये कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि विभिन्न अपेक्षाओं से उसमें अनन्त धर्म संभव हैं। केवल अपनी इच्छा से यह कह देना कि जो पिता है, वह पुत्र कैसे? जो ज्येष्ठ है, वह कनिष्ठ कैसे? जो गुरु है, वह शिष्य

'प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप से है, क्षेत्र, काल और अपनी गुण पर्यायों से है, भिन्न रूपों से नहीं है' यह बात इतनी सीधी और सरल है कि जिसे बाल-गोपाल भी सहज ही समझ सकते हैं। यदि एक ही अपेक्षा से दो विरोधी धर्म बताये जाते तो विरोध हो सकता था। एक व्यक्ति जब युवावस्था में अपने बाल जीवन में की गई बाल-लीलाओं का स्मरण करता है तो मन में लज्जित होता है किन्तु वर्तमान के विवेकयुक्त सदाचार से प्रसन्न भी होता है। यदि उस व्यक्ति की बाल और युवा यह दो अवस्था नहीं हुई होती और उन दोनों अवस्थाओं का उसमें अन्वय न होता तो वह अपने बाल्य जीवन का स्मरण कैसे कर सकता था ? और क्यों बाल्य-जीवन को अपना मानकर लज्जित होता ? इसलिए वह व्यक्ति स्व की अपेक्षा एक और नित्य होकर भी अपनी अवस्थाओं की दृष्टि से अनेक और अनित्य भी है। यह सब अवस्थायें रस्सी में साँप की तरह केवल प्रतिभासिक नहीं हैं, किन्तु परमार्थ सत् हैं, यथार्थ सत्य हैं। जब वस्तु स्वरूप से निश्चित ही अस्तिरूप है और पररूप से नास्तिरूप भी निश्चित है तब संशय कैसे हो सकता है ? संशय तो दोनों कोटियों के अनिश्चय की दशा में ज्ञान जब दोनों ओर झूलता है, तब होता है।

शंकराचार्य ने स्याद्वाद को जो संशयवाद या अनिश्चयवाद कहा, उसका कारण संभवतः यह है कि उन्होंने 'स्यादस्ति' का अर्थ 'शायद है' ऐसा समझ लिया हो, किन्तु स्याद्वाद संशयवाद नहीं है। क्योंकि उसके अनुसार वस्तु अनन्त धर्मवाली है। हम वस्तु के विषय में निर्णय देते हुए किसी एक ही धर्म (गुण) की अपेक्षा करते हैं किन्तु उस समय वस्तु के अन्य गुण भी उसी वस्तु में ठहरते हैं। इसलिए 'स्यादस्ति' अर्थात् 'अपेक्षा विशेष से है' का विकल्प यथार्थ सिद्ध होता है। यहाँ अनिश्चितता और संदेहशीलता इसलिए नहीं है कि 'स्यादस्ति' के साथ 'एव' शब्द का प्रयोग और होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि स्याद्वादी किसी भी वस्तु के विषय में निर्णय देते हुए कहेगा कि 'अमुक अपेक्षा से ही ऐसा है।' अब प्रश्न उठता है कि 'अमुक अपेक्षा से' ऐसा क्यों कहा जाये ? इसका उत्तर यह है कि इसके बिना व्यवहार ही नहीं चलेगा। अमुक रेखा छोटी है या बड़ी, यह प्रश्न ही तब तक पैदा नहीं होगा जब तक कि हमारे मस्तिष्क में दूसरी रेखा की कोई कल्पना न होगी। इस स्थिति में अनिश्चितता नहीं किन्तु यथार्थता यह होगी कि रेखा बड़ी या छोटी है भी, और नहीं भी। अतः शंकराचार्य के द्वारा दिये गये संशय और विरोध दूषणों का पात्र अनेकान्त कैसे हो सकता है ? अनेकान्त स्वरूप में विरोध को और संशय को अवकाश नहीं है।

दूसरी बात यह भी है कि अनेकान्त भी प्रमाण और नय की दृष्टि से कथंचित् अनेकान्त और कथंचित् एकान्त रूप है। प्रमाण का विषय होने से वस्तु अनेकान्त रूप है। अनेकान्त दो प्रकार का है—सम्यग्-अनेकान्त और मिथ्या-अनेकान्त। परस्पर सापेक्ष अनेक धर्मों का सकल भाव से ग्रहण करना सम्यग्-अनेकान्त है और परस्पर निरपेक्ष अनेक धर्मों का ग्रहण मिथ्या-अनेकान्त। इसी प्रकार अन्य सापेक्ष एक धर्म का ग्रहण सम्यगेकान्त है तथा अन्य धर्मों का निषेध करके एक का अवधारण करना

मिथ्यैकान्त है। वस्तु में सम्यगेकान्त और सम्यगनेकान्त ही मिल सकते हैं, मिथ्या-अनेकान्त और मिथ्या-एकान्त नहीं। ये दोनों प्रमाणाभास और दुर्नय के विषय हैं। ये केवल बुद्धिगत ही हैं, वैसी वस्तु बाह्य में स्थित नहीं है। वस्तु में जो एक धर्म है वह स्वभावतः पर-सापेक्ष होने के कारण सम्यगेकान्त रूप होता है। तात्पर्य यह है कि अनेकान्त प्रमाणाधीन होता है और वह एकान्त की अर्थात् नयाधीन विषय की अपेक्षा रखता है—

> अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाण नय साधनः।
> अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥[1]

अर्थात् प्रमाण और नय का विषय होने से अनेकान्त यानी अनेक धर्म वाला पदार्थ भी अनेकान्त रूप है। वह प्रमाण के द्वारा समग्र भाव से ग्रहीत होता है, तब वह अनेकान्त—अनेकधर्मात्मक है और जब किसी विवक्षित नय का विषय होता है तब एकान्त—एक धर्म रूप है, उस समय शेष धर्म पदार्थ में विद्यमान रहकर भी दृष्टि के सामने नहीं होते हैं। इस तरह हर हालत में पदार्थ की स्थिति अनेकान्त रूप ही सिद्ध होती है।

इस प्रकार पदार्थ की स्थिति अनेकधर्मात्मक होने पर स्याद्वाद में संशय, विरोध आदि दोषों की कल्पना करना एक प्रकार की संकुचित मनोवृत्ति है। इसके अतिरिक्त औपनिषदिक कथन—'तदेजति तन्नैजति'[2] 'अणोरणीयान् महतो महीयान्'[3] 'संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं'[4] 'सदसद् वरेण्यम्'[5] आदि की संगति भी तो अपेक्षाभेद को माने बिना नहीं बैठाई जा सकती है। स्वयं शंकराचार्यजी ने भी अपने भाष्य के समन्वयाधिकरण में जिन श्रुतियों का समन्वय किया है, वह भी तो अपेक्षा-भेद से ही संभव हो सका है। इसके अतिरिक्त उनके पास समन्वय का अन्य कोई उपाय भी नहीं था।

आचार्य धर्मकीर्ति और स्याद्वाद

ये प्रमाणवार्तिक ग्रन्थ के रचयिता हैं। उक्त ग्रन्थ में आप उभय तत्त्व के स्वरूप में विपर्यास करके अनेकांत तत्त्व को प्रलाप मात्र कहते हैं। वे सांख्य मत का खंडन करने के बाद आर्हत मत के खण्डन का उपक्रम करते हुए लिखते हैं—

---

१ बृहत्स्वयंभूस्तोत्र १०२, आचार्य समन्तभद्र
२ ईशा० ५
३ श्वेता० ३।२०, कठो० १।२।२०
४ श्वेता० १।८
५ मुण्डको० २।२।१

एतेनैव यदह्रीकाः किमप्ययुक्तमाकुलम्।
प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्त संभवात्।[१]

अर्थात् सांख्य मत का खंडन करने से ही अह्रीक यानी आर्हत (जैन) लोग जो कुछ अयुक्त और आकुल प्रलाप करते हैं, वह स्वयं खंडित हो जाता है, क्योंकि तत्त्व एकान्त रूप ही हो सकता है।

इसके आगे वे लिखते हैं—

सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेष निराकृतेः।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति॥
अथास्त्यतिशयः कश्चित् येन भेदेन वर्तते।
स एव विशेषोऽन्यत्र नास्तीत्यनुभयं वरम्॥[२]

अर्थात् यदि सभी तत्त्वों को उभयरूप यानी स्व-पर-रूप माना जायेगा तो पदार्थों में विशेषता का निराकरण हो जाने से 'दही खाओ' इस प्रकार की आज्ञा दिया गया पुरुष ऊँट को खाने के लिए क्यों नहीं दौड़ता ? क्योंकि दही स्व-दही की तरह पर-ऊँटरूप भी है। यदि दही और ऊँट में कोई विशेषता या अतिशय है, जिसके कारण दही शब्द से दही में तथा ऊँट शब्द से ऊँट में ही प्रवृत्ति होती है, ऐसा माना जाये तो वही विशेषता सर्वत्र मान लेनी चाहिए, ऐसी दशा में तत्त्व उभयात्मक नहीं रहकर अनुभयात्मक यानी प्रतिनियत स्वरूप वाला सिद्ध होगा।

आचार्य धर्मकीर्ति ने उक्त कथन के द्वारा स्याद्वाद में विपर्यास बताने की चेष्टा की है, लेकिन उक्त कथन स्वयं में ही एक विपर्यास है। वे जैनदर्शन के दृष्टिकोण को नहीं समझ सके हैं। जैनदर्शन में तत्त्व को जो उभयात्मक अर्थात् सदसदात्मक, नित्यानित्यात्मक या भेदाभेदात्मक कहा है, उसका तात्पर्य यह है कि दही दहीरूप से सत् है और दही से भिन्न ऊँट आदि रूप से असत् है। जैन तत्त्वज्ञान ने सदैव यही कहा है कि प्रत्येक वस्तु स्वरूप से 'है' रूप है और पर-रूप से 'नहीं' रूप है। तब उससे यही फलितार्थ निकलता है कि दही, दही है, ऊँट आदि रूप नहीं है। जब यह स्थिति है तो दही खाने के लिए कहा गया मनुष्य ऊँट खाने के लिये क्यों दौड़ेगा ? जब ऊँट में दही का अभाव है अथवा दही में ऊँट का नास्तित्व है, तब साधारण बुद्धि वाले को भी उसमें प्रवृत्ति करने का प्रसंग कैसे आ सकता है ? साधारण व्यक्ति भी जब ऐसी प्रवृत्ति नहीं करेगा तब विद्वान् और विवेकशील व्यक्ति की प्रवृत्ति करने की कल्पना करना तो और भी दूर की बात है।

---

१ प्रमाणवार्तिक ३।१८०
२ प्रमाणवार्तिक ३।१८१-८२

दूसरे श्लोक में जिस विशेषता का निर्देश करके समाधान किया गया कि 'यदि दही और ऊँट में कोई विशेषता या अतिशय है""तो वही विशेषता सर्वत्र मान लेनी चाहिए और वैसी स्थिति में तत्त्व उभयात्मक नहीं रहकर अनुभयात्मक यानी प्रतिनियत स्वभाव वाला सिद्ध होगा ?' यह विशेषता तो जैनदर्शन ने प्रत्येक पदार्थ में स्वभावभूत मानी ही है। अतः स्व-अस्तित्व और पर-नास्तित्व की इतनी स्पष्ट घोषणा होने पर भी स्व-भिन्न पर-पदार्थ में प्रवृत्त की बात कहना ही वस्तुतः अह्रीकता (निर्लज्जता) की बात है।

जैनदर्शन में द्रव्य को उभयात्मक—द्रव्यपर्यायात्मक माना है तब द्रव्य यानी पुद्गल द्रव्य की दृष्टि से दही और ऊँट के शरीर को एक मानकर दही खाने के बदले ऊँट के खाने का दूषण देना भी योग्य नहीं है। क्योंकि प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र पुद्गल द्रव्य है और अनेक परमाणु मिलकर स्कन्ध रूप में दही कहलाते हैं और उनसे भिन्न अनेक परमाणु मिलकर ऊँट का शरीर बने हैं। अनेक भिन्न सत्ता वाले परमाणुओं में पुद्गल रूप से जो एकता है, वह सादृश्यमूलक एकता है, वास्तविक एकता नहीं है। वे एकजातीय तो हैं किन्तु एकसत्ताक नहीं हैं। जिन परमाणुओं से दही स्कन्ध बना है, यदि उनमें विचार कर देखा जाये तो सादृश्यमूलक एकत्व का ही आरोप है, वस्तुतः उनमें एकसत्तात्मकता नहीं है। दही के परमाणुओं की सत्ता भिन्न है और ऊँट के शरीर के परमाणुओं की सत्ता पृथक् है। ऐसी स्थिति में दही और ऊँट में एकत्व का भान किस व्यक्ति को हो सकता है? अतः दही और ऊँट के शरीर में एकता का प्रसंग लाकर मखौल उड़ाना किसी भी दशा में औचित्यपूर्ण नहीं माना जा सकता है।

यदि यह कल्पना की जाये कि अभी जिन परमाणुओं से दही बना है, वे परमाणु कभी ऊँट के शरीर में भी रहे होंगे और ऊँट के शरीर के परमाणु दही भी बने होंगे और आगे भी दही के परमाणु ऊँट के शरीररूप हो सकने की योग्यता रखते हैं, इसलिए दही और ऊँट का शरीर अभिन्न हो सकता है। लेकिन इस प्रकार की काल्पनिक उड़ान भरना उचित नहीं है क्योंकि द्रव्य की अतीत और अनागत पर्यायें अलग-अलग होती हैं लेकिन व्यवहार तो वर्तमान पर्याय के अनुसार चलता है। खाने के उपयोग में दही पर्याय आती है और सवारी के उपयोग में ऊँट पर्याय। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक शब्द के वाच्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं, दही शब्द का प्रयोग दही पर्याय वाले द्रव्य के बारे में होता है, न कि ऊँट की पर्याय वाले द्रव्य में। प्रतिनियत शब्द प्रतिनियत पर्याय वाले द्रव्य का कथन करते हैं। यदि अतीत पर्याय की सम्भावना से दही और ऊँट में एकत्व लाया जाये तो सुगत भी अपने पूर्व जातक में मृग हुए थे और वही मृग मरकर सुगत हुए हैं। अतः सन्तान की दृष्टि से एकत्व होने पर भी जैसे सुगत ही पूज्य होते हैं मृग नहीं, वैसे ही दही और ऊँट में भी खाद्य-अखाद्य की व्यवस्था को समझ लेना चाहिए। जैसे आप स्वयं सुगत और मृग में पूज्यत्व और अपूज्यत्व का विपर्यास नहीं करते क्योंकि दोनों अवस्थायें पृथक्-पृथक् हैं वैसे ही दही

और ऊंट के शरीर के खाद्यत्व (खाने) और अखाद्यत्व (न खाने) का सम्बन्ध भी अवस्थाओं से है। इसी तरह प्रत्येक पदार्थ की स्थिति द्रव्यपर्यायात्मक है। पर्यायों की क्षणपरम्परा अनादि से अनन्तकाल तक चली जाती है, कभी विच्छिन्न नहीं होती है, यही उनकी द्रव्यता है, ध्रौव्य है और नित्यत्व है। नित्यत्व या शाश्वतत्व से आश्चर्यचकित भ्रमित होने की आवश्यकता नहीं। सन्तति या परम्परा के अविच्छेद की दृष्टि से आंशिक नित्यता तो वस्तु का निज रूप है। उससे इन्कार नहीं किया जा सकता है।

यह जो कहा गया है कि 'विशेषता का निराकरण हो जाने से सब सर्वात्मक हो जायेंगे'—वह उचित नहीं है। क्योंकि दो द्रव्यों में एकजातीयता होने पर भी स्वरूप की भिन्नता और विशेषता है ही, पर्याय में परस्पर भेद है ही, इसलिये दही और ऊंट में अभेद मानना वस्तु का जानते-बूझते विपर्यास करना है। विशेषता तो प्रत्येक द्रव्य में है और एक द्रव्य की दो पर्यायों में भी विद्यमान है ही, उससे इन्कार नहीं किया जा सकता है।

इस प्रकार आचार्य धर्मकीर्ति ने स्याद्वाद में दोषापत्ति करने का प्रयास किया लेकिन वह स्वयं स्याद्वाद के मर्म को नहीं समझ सके और अपनी एकान्तिक दृष्टि से यथेच्छा लिख दिया। यदि वे द्रव्य की स्थिति को समझ लेते तो संभव था कि स्याद्वाद का खंडन करने की बजाय उसका मंडन ही करते।

प्रभाकरगुप्त और स्याद्वाद

प्रभाकर गुप्त आचार्य धर्मकीर्ति के शिष्य हैं। आपने अपने ग्रन्थ प्रमाणवार्तिकालंकार में जैनदर्शन के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक परिणामवाद में दूषण देते हुए लिखा है—

> अथोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं यत्तत्सदिष्यते ।
> एषामेव न सत्त्व स्यात् एतद्भावावियोगतः ॥
> यदा व्ययस्तदासत्त्वं कथं तस्य प्रतीयते ?
> पूर्वं प्रतीते सत्त्व स्यात् तदा तस्य व्ययः कथम् ॥
> ध्रौव्येऽपि यदि नास्मिन् धीः कथं सत्त्वं प्रतीयते ।
> प्रतीतेरेव सर्वस्य तस्मात् सत्त्वं कुतोऽन्यथा ॥
> तस्मान्न नित्यानित्यस्य वस्तुनः सम्भवः क्वचित् ।
> अनित्यं नित्यमथवास्तु एकान्तेन युक्तिमत् ॥[1]

अर्थात् यदि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त तत्त्व माना जायेगा तो स्वयं उनका ही

---

१ प्रमाणवार्तिकालंकार, पृ० १४२

अस्तित्व न होने पर यह कैसे संभव है। क्योंकि जिस समय व्यय होगा, उस समय सत्त्व कैसे ? यदि सत्त्व है तो व्यय कैसे ? सत्त्व यदि पूर्व में प्रतीत होगा तो उसका व्यय कैसे हो सकता है ? अगर ध्रौव्य में भी हमारी दृष्टि न जाये तो सत्त्व की प्रतीति कैसे होगी ? अतः नित्यानित्यात्मक वस्तु की संभावना नहीं है। या तो वह एकान्त से नित्य हो सकती है या एकान्त से अनित्य ही।

इसी प्रकार हेतुबिन्दु के टीकाकार आचार्य अर्चट भी वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक लक्षण में ही विरोध दूषण देते हुए कहते हैं कि जिस रूप से ध्रौव्य है, उस रूप से उत्पाद और व्यय नहीं है तथा जिस रूप से उत्पाद और व्यय है उस रूप में ध्रौव्य नहीं है। एक धर्मी में परस्पर विरोधी दो धर्म नहीं हो सकते हैं।[1]

शंकराचार्य के विचारों की मीमांसा के संदर्भ में एक वस्तु में परस्पर विरोधी दो धर्मों के रहने के बारे में विचार किया जा चुका है। वहाँ जो हेतु दिये गये हैं, वे यहाँ भी युक्तिसंगत हैं। किन्तु ये बौद्धदर्शन के विद्वान् हैं अतः बौद्धदर्शन के विचारों का आश्रय लेकर स्याद्वाद के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं।

बौद्ध इतना तो स्वयं स्वीकार करते हैं कि वस्तु प्रतिक्षण उत्पन्न होती है और नष्ट होती है तथा उसकी इस धारा का भी विच्छेद नहीं होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि वह कब से प्रारम्भ हुई और न यह बताया जा सकता है कि वह कब तक चलेगी। प्रथम क्षण नष्ट होकर अपना सारा उत्तराधिकार द्वितीय क्षण को सौंप देता है और वह दूसरा क्षण तीसरे क्षण को। इस तरह यह क्षणसन्तति अनन्त काल तक चालू रहती है। साथ ही यह भी सिद्ध है कि विवक्षित क्षण अपने सजातीय क्षण में ही उपादान होता है, कभी भी उपादान सांकर्य नहीं होता। किन्तु इस अनन्तकाल तक चलने वाली उपादान-असंकरता का नियामक क्या है ? क्यों वह विच्छिन्न नहीं होता और क्यों नहीं कोई विजातीय क्षण उपादान बनता है ? तो मानना पड़ेगा कि ध्रौव्य इसी असंकरता और अविच्छिन्नता का ही दूसरा नाम है। इसी के कारण कोई भी मौलिक तत्त्व अपनी मौलिकता नहीं खोता है। इसका उत्पाद-व्यय के साथ क्या विरोध है ? उत्पाद-व्यय को अपनी लाइन पर चालू रखने के लिए और अनन्त काल तक इसकी शृंखला बनाये रखने के लिए ध्रौव्य मानना आवश्यक है। अन्यथा स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, बंध-मोक्ष, गुरु-शिष्य आदि समस्त व्यवहारों का उच्छेद हो जायेगा।

विज्ञान भी तो इसी मूल सिद्धान्त पर स्थिर है कि किसी नये सत् का उत्पाद नहीं होता और न विद्यमान सत् का सर्वथा उच्छेद होता है, लेकिन परिवर्तन प्रतिक्षण होता रहता है ?[2] इसमें जो तत्त्व की मौलिक स्थिति है, उसी को ध्रौव्य कहते हैं।

---

१ ध्रौव्येण उत्पादव्ययोर्विरोधात् एकस्मिन् धर्मिण्ययोगात्।

—हेतुबिन्दु टीका, पृ० १४६

२ भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्सचेव उप्पादो। —पंचास्तिकाय, गा० १५

बौद्धदर्शन में सन्तान शब्द ध्रौव्य अर्थ की ओर संकेत करता है, लेकिन इस अर्थ में प्रयुक्त होकर भी वह अपनी सत्यता को खो बैठा है और उसे पंक्ति या सेना की तरह मिथ्या कहने का पक्ष प्रबल बन गया है। पंक्ति और सेना अनेक स्वतन्त्र सिद्ध मौलिक द्रव्यों में संक्षिप्त व्यवहार के लिए कल्पित बुद्धिगत स्फुरण है जो उन्हें ही प्रतीत होता है, जिन्होंने संकेत ग्रहण कर लिया हो, परन्तु ध्रौव्य या द्रव्य की मौलिकता बुद्धिकल्पित नहीं है क्षण की तरह यथार्थ और निश्चय सत्य है जो उसकी अनादि, अनन्त असंकर स्थिति को प्रवहमान रखता है। जब वस्तु का स्वरूप ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य इस तरह त्रयात्मक है तब उस प्रतीयमान स्वरूप में विरोध की कल्पना कैसे की जा सकती है? हाँ यदि जिस दृष्टि से उत्पाद और व्यय कहे जाते हैं उसी दृष्टि से यह ध्रौव्य भी कहा जाता है तो अवश्य विरोध होता, परन्तु उत्पाद और व्यय तो पर्याय दृष्टि से है तथा ध्रौव्य उसकी उन-उन पर्यायों में प्रवहमान द्रव्यत्व, द्रवणशील मौलिकता की अपेक्षा से है जो अनादि से अनन्त तक अपनी पर्यायों में बहता रहता है। कोई भी दार्शनिक इस ठोस सत्य से कैसे इन्कार कर सकता है? इसके बिना विचार का कोई आधार ही नहीं रह जाता है।

बुद्ध जैसे शाश्वतवाद से भयभीत थे वैसे ही वे उच्छेदवाद भी नहीं चाहते थे। वे न तो तत्त्व को शाश्वत कहते थे और न उच्छिन्न ही। उन्होंने तत्त्व के स्वरूप को दो 'न' से कहा है। जबकि उसका विध्यात्मक रूप उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक ही बन सकता है।

तथागत बुद्ध का तो यह कथन है कि न तो वस्तु सर्वथा नित्य है और न सर्वथा उच्छिन्न, किन्तु प्रभाकरगुप्त यह विधान करते हैं कि या तो वस्तु को नित्य मानो या क्षणिक अर्थात् उच्छिन्न। क्षणिक का अर्थ उच्छिन्न इसलिए किया है कि जिसके मौलिकत्व और असंकरता की कोई निश्चितता नहीं हो ऐसा क्षणिक उच्छिन्न के अतिरिक्त दूसरा और क्या हो सकता है? वर्तमान क्षण में अतीत के संस्कार और भविष्य की योग्यता का होना ही ध्रौव्यत्व की व्याख्या है। द्रव्य को त्रैकालिक भी इसी अर्थ में कहा जाता है कि वह अतीत से प्रवहमान होता हुआ वर्तमान तक आया है और आगे अनागत के लिए तैयारी कर रहा है। अनागत जब वर्तमान बनेगा तब अभी का वर्तमान उसके लिए अतीत बन जायेगा। इस प्रकार अतीत, वर्तमान और अनागत की शृंखला धाराप्रवाह रूप से चलती ही रहेगी।

अर्चट का यह कथन भी कैसे उचित कहा जा सकता है कि जिस रूप में उत्पाद और व्यय है उसी रूप से ध्रौव्य नहीं है किन्तु ये दोनों रूप एक धर्मी में नहीं रह सकते हैं क्योंकि जब सभी प्रमाण अनन्तधर्मात्मक वस्तु की साक्षी दे रहे हैं तो उन दोनों का एक धर्मी में रहने का निषेध कैसे किया जा सकता है। जबकि इस सम्बन्ध में कर्म और कर्मफल को एक अधिकरण में रहना सिद्ध करने वाला प्रमाण स्पष्ट रूप से कह रहा है कि—

यस्मिन्नेव तु संताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव सन्धत्ते कर्पासे रक्तता यथा॥

अर्थात् जिस सन्तान में कर्मवासना यानी कर्म के संस्कार पड़ते है उसी में फल का अनुसंधान होता है। जैसे कि जिस कपास के बीज में लाक्षारस का सिंचन किया गया है, उसी से उत्पन्न होने वाली कपास लाल रंग की होती है। इस कथन का आशय क्या है? जबकि सन्तान एक संसरणभाव (आदि से अनन्त की ओर गमन करने वाला) तत्त्व है, जो पूर्व और उत्तर को जोड़ता है और वे पूर्व और उत्तर परिवर्तित होते हैं। इसी को तो जैनदर्शन में ध्रौव्य शब्द से कहा गया है जिसके कारण द्रव्य अनादि से अनन्त तक परिवर्तमान रहता है। द्रव्य एक, अखण्ड और मौलिक तत्त्व है, जिसका अपने धर्मों के साथ कथंचित् भेदाभेद और कथंचित् तादात्म्य है। अभेद इसलिए है कि द्रव्य से उन धर्मों को पृथक नहीं किया जा सकता है, उनका पृथक्करण अशक्य है। भेद इसलिए है कि द्रव्य और पर्यायों में संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि की विविधतायें पाई जाती हैं।

अर्चट को द्रव्य और पर्याय में संख्यादि के भेद से भेद मानने में भी आपत्ति है। वे लिखते हैं कि—

द्रव्यपर्यायरूपत्वात् द्वैरूप्यं वस्तुनः किल।
तयोरेकात्मकत्वेऽपि भेदः संज्ञादिभेदतः॥
भेदाभेदोक्तदोषाश्च तयोरिष्टौ कथं न वा।
प्रत्येकं ये प्रसज्यन्ते द्वयोर्भावे कथन्न ते॥
न चैवं गम्यते तेन वादोऽयं जाल्मकल्पितः[1]

अर्थात् द्रव्य और पर्याय में संख्यादि के भेद से भेद मानना उचित नहीं है, क्योंकि भेद और अभेद पक्ष में जो दोष आते हैं, वे दोनों पक्ष मानने पर अवश्य होंगे। भिन्नाभिन्नात्मक, भेदाभेदात्मक एक वस्तु की सम्भावना नहीं है, अतः यह वाद दुष्ट कल्पित है, आदि। परन्तु यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि जो अभेद अंश है वही द्रव्य है और जो भेद है वही पर्याय है। सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद वस्तु में नहीं माना गया है, जिसमें भेद पक्ष और अभेद पक्ष के दोष वस्तु में आयें। द्रव्य एक अखण्ड, मौलिक है और उसके कालक्रम से होने वाले परिणमन पर्याय कहलाते हैं। वे उसी द्रव्य में होते हैं। यानी द्रव्य अतीत के संस्कार लेता हुआ वर्तमान पर्याय रूप होता है और भविष्य के लिए कारण बनता है। अखण्ड द्रव्य को समझाने के लिए उसमें अनेक गुण माने जाते हैं, जो पर्याय रूप से परिणत होते हैं। द्रव्य और पर्याय में जो संज्ञाभेद, लक्षणभेद, संख्याभेद, कार्यभेद आदि बतलाये जाते हैं वे उन दोनों का

---

१ हेतुबिन्दु टीका, पृ० १०४-१०५

भेद समझने के लिए हैं, वस्तुतः उनमें ऐसा भेद नहीं है। जिससे पर्यायों को द्रव्य से निकालकर पृथक् या भिन्न बताया जा सके। पर्याय रूप से द्रव्य अनित्य है और यदि द्रव्य से अभिन्न होने के कारण पर्याय भी नित्य कही जाती है तो भी कोई दूषण नहीं है, क्योंकि द्रव्य का अस्तित्व किसी न किसी पर्याय में ही तो होता है। द्रव्य और पर्याय दोनों का स्वरूप अलग-अलग है—इसका इतना ही अर्थ है कि दोनों को पृथक्-पृथक् समझाने के लिए उनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। द्रव्य और पर्याय के कार्य भी अलग-अलग इसलिए हैं कि द्रव्य से अन्वय का ज्ञान होता है जबकि पर्यायों से भेद का। द्रव्य एक होता है और पर्यायें कालक्रम से अनेक होती हैं। अतएव इन संज्ञा आदि से वस्तु के टुकड़े मानकर जो दूषण दिये जाते हैं वे यहाँ (स्याद्वाद कथन-प्रणाली में) लागू नहीं होते हैं। हाँ वैशेषिक जो द्रव्य, गुण, कर्म आदि को स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं, उनके भेदपक्ष में इन दूषणों का होना अवश्यम्भावी है। सर्वथा अभेद रूप ब्रह्मवाद में विवर्त, विवाद या भिन्न प्रतिभास आदि की सम्भावना नहीं है। प्रतिपाद्य-प्रतिपादक, ज्ञान-ज्ञेय आदि का भेद भी असम्भव है। इसका फलितार्थ यह निकलता है कि इस प्रकार एक पूर्वबद्ध धारणा के कारण वैशेषिक के सर्वथा भेद और अद्वैतवाद के सर्वथा अभेद में दिये जाने वाले दूषणों की तरह जैनदर्शन के कथंचित् भेदाभेदवाद में बिना विचार किये दोषापत्ति कर दी जाती है। 'सत् सामान्य' से जो सत् पदार्थों को जैन-दर्शन में एक कहते हैं, वह वस्तु सत् एकत्व नहीं है किन्तु व्यवहारार्थ संग्रहमूल एकत्व है जो उपचरित है, मुख्य नहीं है। शब्द प्रयोग की दृष्टि से एक द्रव्य में विवक्षित धर्म-भेद और द्रव्यों में रहने वाला परमार्थतः सत्भेद, दोनों नितान्त भिन्न प्रकार के हैं। अतः वस्तु की समीक्षा करते समय सावधानीपूर्वक कथन करने की शैली को समझकर वर्णित स्वरूप पर विचार करना चाहिए।

आचार्य शान्तरक्षित और स्याद्वाद

आचार्य शान्तरक्षित ने अपने तत्त्वसंग्रह नामक ग्रन्थ में 'स्याद्वाद परीक्षा' नामक एक स्वतन्त्र प्रकरण लिखा है। अन्य बौद्धाचार्यों की तरह वे भी उसमें सामान्य-विशेषात्मक या भावाभावात्मक तत्त्व में दूषण देते हुए लिखते हैं कि—यदि सामान्य और विशेष रूप एक ही वस्तु है तो उनके (सामान्य और विशेष के) वस्तु से अभिन्न होने के कारण सामान्य और विशेष में वस्तुमात्रयं हो जायेगा। यदि सामान्य और विशेष परस्पर भिन्न हैं और उनमें वस्तु में अभिन्नत्व प्रतिपादन करने की चेष्टा की जाती है तो वस्तु में भेद हो जायेगा। विधि और प्रतिषेध परस्पर विरोधी हैं, अतः वे एक वस्तु में नहीं हो सकते हैं। नरसिंह, मेचकरत्न आदि के दृष्टान्त भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि वे सब अनेक अणुओं के समूहरूप हैं। अतः उनका यह स्वरूप असदी की तरह विरुद्ध कल्पित है।[1] आदि।

---

१ तत्त्वसंग्रह, स्याद्वाद परीक्षा प्रकरण, पृ० ४८६

आचार्य शान्तरक्षित के उक्त दूषणो में कोई नई बात नही है। सिर्फ बौद्धाचार्यों के पुराने दूषणों को भाषा के नये परिवेश मे दुहराया गया है। यथा-प्रसग यद्यपि इन दूषणो को सही स्थिति को समझाते हुए यह बताया जा चुका है कि वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। एकान्त रूप से न तो सामान्यात्मक है और न विशेषात्मक। लेकिन इस स्थिति मे भी जब दूषण दिये हैं तो वस्तुस्थिति को विशद् रूप से स्पष्ट करने के लिये यहाँ पुनः प्रयास करते हैं।

बौद्ध दार्शनिकों की एक ही दलील है कि एक वस्तु दो रूप नही हो सकती है। या तो वह सामान्यात्मक मानी जाये अथवा विशेषात्मक। लेकिन वे यह क्यों भूल जाते हैं और समझते नही कि जब प्रत्येक स्व-लक्षण परस्पर भिन्न हैं, एक दूसरे रूप नहीं हैं तब रूप का स्वलक्षण रूप के स्वलक्षण की अपेक्षा अस्ति है और रसादि के स्वलक्षण की अपेक्षा नास्ति है, अन्यथा रूप और रस मिलकर एक हो जायेंगे। जैन दार्शनिक स्वरूप अस्तित्व को ही पर-रूप नास्तित्व नही कहते हैं, क्योंकि दोनो की अपेक्षायें भिन्न-भिन्न हैं, कारण और कार्य भी अलग-अलग हैं। एक ही हेतु स्वपक्ष का साधक और पर-पक्ष का दूषक, इन दोनो धर्मों की स्थिति पृथक्-पृथक् है। हेतु में यदि केवल साधक स्वरूप हो हो तो उसे स्वपक्ष की तरह पर-पक्ष को भी सिद्ध करना चाहिये। इसी तरह दूषक रूप ही हो तो परपक्ष की तरह स्वपक्ष को भी दूषण देना चाहिये। जैसे एक हेतु में पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षासत्व तीनो रूप भिन्न-भिन्न माने जाते हैं तो क्यो नही सपक्षसत्व को ही विपक्षासत्व मान लेते? इस प्रकार जब हेतु में विपक्षासत्व सपक्षसत्व से अलग है तब उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में स्वरूपास्तित्व से पररूपनास्तित्व अलग ही रूप है। अन्वयज्ञान और व्यतिरेकज्ञान रूप उनके प्रयोजन और कार्य भी भिन्न हैं।

यदि रूपस्वलक्षण अपने उत्तर रूपस्वलक्षण मे उपादान होता है और रस स्वलक्षण में निमित्त तो उसमें ये दोनों धर्म विभिन्न है या नही? यदि रूप मे एक ही स्वभाव से उपादान और निमित्तत्व की व्यवस्था की जाती है तो एक ही स्वभाव दो रूप हुआ या नही? उसने दो कार्य किये या नही? इसका फलितार्थ यह निकला कि जिस प्रकार एक ही स्वभाव रूप की दृष्टि से उपादान है और रस की दृष्टि से निमित्त माना जाता है, उसी प्रकार विभिन्न अपेक्षाओ से एक ही वस्तु मे अनेक धर्म मानने में क्यों विरोध या आपत्ति की कल्पना की जाती है?

बौद्धाचार्य अनुमान की प्रवृत्ति के बारे में कहते हैं कि—

तस्मात् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः।
भ्रान्तेर्निश्चीयते नेति साधन सप्रवर्तते॥[१]

---

१ प्रमाणवार्तिक ३।४४

अर्थात् इस पदार्थ के समस्त गुण दिख जाते हैं, परन्तु भ्रान्ति से उनका निश्चय नहीं होता अतः अनुमान की प्रवृत्ति होती है। जैसे प्रत्यक्ष के बाद होने वाले विकल्प से नील स्वलक्षण के नीलांश का निश्चय होने पर क्षणिकत्व आदि का निश्चय नहीं होता, अतः अनुमान करना पड़ता है। अर्थात् जैनदर्शन की तरह एक ही नील स्वलक्षण में नीलांश से निश्चितत्व और क्षणिकांश से अनिश्चितत्व ये दो धर्म तो मानना ही चाहिये। पदार्थ में अनेक धर्म या गुण मानने में विरोध को कोई स्थान नहीं है, वे तो प्रतीत होते हैं। वस्तु में सर्वथा भेद स्वीकार करने वाले बौद्धों के यहाँ परस्पर में सांकर्य [illegible] स्वलक्षण की प्रतिनियत व्यवस्था ही नहीं बन सकती है। दानक्षण का स्वरूप प्रतीत होने पर भी उसकी स्वर्गदानशक्ति का निश्चय नहीं होता, ऐसी स्थिति में दानक्षण में निश्चितता और अनिश्चितता दोनों ही माननी होंगी। एक रूपस्वलक्षण अनादि काल से अनन्तकाल तक प्रतिक्षण परिवर्तित होकर भी कभी समाप्त नहीं होता, उसका समूल उच्छेद नहीं होता, वह न तो सजातीय रूपान्तर बनता है और न विजातीय रसादि ही। वह उसकी जो अनवरत स्थिति है, उसका नियामक क्या है? वस्तु परिवर्तमान होकर भी जो समाप्त नहीं होती, इसी का नाम ध्रौव्य है। जिसके कारण विवक्षित क्षण क्षणान्तर नहीं होता और न सर्वथा उच्छिन्न ही होता है।

इस स्थिति में जब रूप-स्वलक्षण रूप-स्वलक्षण ही है, रसादि नहीं, रूपस्वलक्षण प्रतिक्षण परिवर्तित होता हुआ भी सर्वथा उच्छिन्न नहीं होता, रूपस्वलक्षण उपादान भी है और निमित्त भी है, रूपस्वलक्षण निश्चित भी है और अनिश्चित भी, रूपस्वलक्षण सादृश्यमूलक सामान्य धर्म भी है और वह विशेष भी है, रूपस्वलक्षण रूप शब्द का अभिधेय है, और रसादि का अनभिधेय, तब उसकी अनेक धर्मात्मकता स्वयंसिद्ध है। स्याद्वाद वस्तु की इसी अनेकान्तात्मकता का प्रतिपादन करने वाली एक भाषा पद्धति है, जो वस्तु का सही-सही प्रतिनिधित्व करती है।

बौद्धों ने अन्यापोह शब्द के द्वारा प्रकारान्तर से सामान्य को ही माना है। जैसे अगोव्यावृत्ति गौ व्यक्तियों में ही पाई जाती है, अश्वादि में नहीं। क्योंकि इसका नियामक गौ में पाया जाने वाला सादृश्य ही हो सकता है। सादृश्य दो पदार्थों में पाया जाने वाला एक धर्म नहीं है, किन्तु अलग-अलग प्रत्येक वस्तुनिष्ठ है। जितने पर-रूप हैं, उनकी व्यावृत्ति यदि वस्तु में पाई जाती है तो वस्तु में उतने धर्मभेद मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिये। प्रत्येक वस्तु अपने अखण्ड रूप में अविभागी और अनिर्वाच्य होकर भी जब उन-उन धर्मों की अपेक्षा कही जाती है तो उसकी अभिधेयता स्पष्ट ही है। वस्तु का अवक्तव्यत्व धर्म स्वयं उसकी अनेकान्तात्मकता को प्रगट कर रहा है कि वस्तु में इतने धर्म, गुण और पर्याय हैं कि उसके पूर्ण स्वरूप को हम शब्दों द्वारा नहीं कह सकते हैं और इसलिये उसे अवक्तव्य कहते हैं।

आचार्य शान्तरक्षित ने स्वयं क्षणिक प्रतीत्यसमुत्पाद में अनाद्यनन्तता और सन्तति विशेषता देकर उसकी संततिनित्यता स्वीकार की है।[1] फिर भी द्रव्य के नित्यानित्यात्मक होने में उन्हें विरोध दिखाई देता है जो आश्चर्य का विषय है। अनन्त स्व-लक्षणों की परस्पर अलग-अलग सत्ता मानकर पदार्थ के अस्तित्व से नहीं बचा जा सकता है। केवल रूप या नरसिंह का दृष्टान्त तो स्थूल रूप से ही दिया जाता है क्योंकि जब तक देवदत्त अनेक अणुओं का कालान्तर स्थायी संघात बना हुआ है और जब तक उनमें विशेष प्रकार का रासायनिक मिश्रण होकर बन्ध है तब तक देवदत्त की सादृश्यमूलक पुंज के रूप में ही सही, एक सत्ता तो है ही और उसमें उस समय अनेक रूपों का प्रत्यक्ष दर्शन होता ही है। नरसिंह भी इसी तरह कालान्तर स्थायी संघात के रूप में एक होकर भी अनेकाकार के रूप में प्रत्यक्ष गोचर होता है।

इसके अतिरिक्त आचार्य शान्तरक्षित ने 'परलोक परीक्षा'[2] में चार्वाक का खंडन करते समय ज्ञानादि संतति को अनादि-अनन्त स्वीकार करके ही परलोक की व्याख्या की है। यह ज्ञानादि संतति का अनाद्यनन्त होना ही तो ध्रुवता या ध्रौव्य है जो अतीत के संस्कारों को लेता हुआ भविष्य का कारण बनता जाता है। 'कर्म फल परीक्षा'[3] में इन्हीं चित्तों में विशिष्ट कार्यकारण भाव मानकर ही स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि घटाने का जो प्रयास किया गया है, वह संस्कारों को ग्रहण करने वाले चित्त क्षणों की संतति में ही संभव हो सकता है। इसके आगे वे बन्ध और मोक्ष की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि—

कार्यकारणभूताश्च तत्राविद्यादयो मताः।
बन्धस्तद्विगमादिष्टो मुक्तिर्निर्मलता धियः ॥[4]

कार्यकारण-परम्परा से चले आये अविद्या, संस्कार आदि बन्ध हैं और इनके नाश हो जाने पर जो चित्त की निर्मलता होती है, उसे मुक्ति कहते हैं। इसमें जो चित्त अविद्या आदि मलों से आस्रव सहित हो रहा है, उसी का निर्मल हो जाना, यह चित्त की अनुस्यूतता और अनाद्यनन्तता का स्पष्ट निरूपण है और यह वस्तु को एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सिद्ध कर देता है।

---

१ तत्त्वसंग्रह, श्लोक ४

२ उपादानतदादेयभूतज्ञानादिसन्ततेः।
काचिन्नियतमर्यादावस्थैव परिकीर्त्यते ॥
तस्याश्चानाद्यनन्तायाः परः पूर्व इहेति च।
—तत्त्वसंग्रह, श्लोक १८७२-७३

३ पृ० १८४

४ तत्त्वसंग्रह, श्लोक ५४४

तत्त्वसंग्रहपंजिका[1] में उद्धृत एक प्राचीन श्लोक में तो 'तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते' कहकर 'तदेव' पद से चित्त की सान्वयता और बंधमोक्षाधारता का वर्णन कर दिया गया है।

किन्हीं चित्तों में ही विशिष्ट कार्यकारण भाव का मानना और अन्य में नहीं —यह प्रतिनियत स्वभाव-व्यवस्था तत्त्व को भावाभावात्मक माने बिना नहीं बन सकती है। यानी जिन चित्तों में परस्पर उपादान-उपादेय भाव होता है वे परस्पर कुछ विशेषता अवश्य रखते हैं, जिसके कारण उन्हीं में ही कर्तृ-भोक्तृ आदि एकात्मगत व्यवस्था बनती है, सन्तान की परम्परा से रहित चित्त के साथ नहीं। एक संतानगत चित्तों में ही उपादान-उपादेय भाव होता है। यह प्रतिनियत संतान-व्यवस्था स्वयं सिद्ध करती है कि चित्तत्व केवल उत्पाद-व्यय की निरन्वय परम्परा नहीं है। यह ठीक है कि पूर्व और उत्तर पर्यायों के उत्पाद-व्यय रूप से बदलते रहने पर भी कोई ऐसा अविकारी कूटस्थ नित्य अंश नहीं है जो सभी पर्यायों में सत् की तरह अविकृत भाव से पिरोया जाता हो, परन्तु वर्तमान अतीत की संस्कार संपत्ति का मालिक बनकर ही तो भविष्य को अपना उत्तराधिकार देता है। यह जो अधिकार के ग्रहण और विसर्जन की परम्परा अमुक चित्त क्षणों में ही चलती है, सन्तानान्तर चित्तों में नहीं, वह प्रकृत चित्तक्षणों का परस्पर ऐसा तादात्म्य सिद्ध कर रही है, जिसको हम ध्रौव्य या द्रव्य की जगह मान सकते हैं। बीज और अंकुर का कार्यकारण भाव भी सर्वथा निरन्वय नहीं है किन्तु जो अणु पहले बीज के आकार में थे उन्हीं में के कुछ अणु अन्य अणुओं का साहचर्य पाकर अंकुर के आकार को धारण कर लेते हैं। यहाँ भी ध्रौव्य या द्रव्य विच्छिन्न नहीं होता किन्तु अवस्था बदल जाती है। प्रतीत्यसमुत्पाद में भी प्रतीत्य और समुत्पाद इन दो क्रियाओं का एक ही कर्ता मानना पड़ेगा। 'केवल क्रियाएँ ही हैं और कारक नहीं है,' यह निराश्रय बात प्रतीति का विषय नहीं होती। अतः तत्त्व को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक तथा व्यवहार के लिए सामान्य-विशेषात्मक मानना ही चाहिए।

कर्णकगोमी और स्याद्वाद

कर्णकगोमी भी बौद्ध दार्शनिक हैं। स्याद्वाद पर दोषारोपण के प्रसंग में सर्वप्रथम इन्होंने 'अन्यापोह—इतरेतराभाव न मानने पर एक वस्तु सर्वात्मक हो जायेगी —इस सिद्धान्त का खंडन[2] करते हुए लिखा है कि 'अभाव के द्वारा भावभेद नहीं किया

---

१ पृष्ठ १८४

२ योऽपि मन्यते—सर्वात्मकमेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे। तस्माद् भेद एवान्यथा न स्यादन्योन्याभावो भावानां यदि न भवेदिति, सोऽप्यनेन निरस्तः। अभावेन भावभेदस्य कर्तुमशक्यत्वात्। नाप्यभिन्नानां हेतुतो निष्पन्नानामन्योन्याभावः सम्भवति। अभिन्नाश्चेन्निष्पन्नाः, कथमन्योन्याभावः सम्भवति? भिन्नाश्चेन्निष्पन्नाः कथमन्योन्याभाव कल्पनेत्युक्तम्।
—प्रमाणवार्तिक स्ववृ० टी० पृ० १०९

जा सकता। यदि पदार्थ अपने कारणों से अभिन्न उत्पन्न हुए हैं तो अभाव उनमें भेद नहीं डाल सकता और यदि भिन्न उत्पन्न हुए हैं तो अन्योन्याभाव की कल्पना ही व्यर्थ है।' इसके बाद वे ऊर्ध्वतासामान्य और पर्याय विशेष अर्थात द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु में दूषण देते हुए लिखते हैं कि 'सामान्य और विशेष मे अभेद मानने पर या तो अत्यन्त अभेद रहेगा या अत्यन्त भेद। अनन्त धर्मात्मक धर्मी प्रतीत नही होता अत. लक्षणभेद से भी भेद नहीं हो सकता। दही और ऊँट परस्पर अभिन्न हैं, क्योंकि ऊँट मे अभिन्न द्रव्यत्व से दही का तादात्म्य है। अतः स्याद्वाद मिथ्यावाद है।'[1] आदि।

कर्णकगोमी की इन दोषापत्तियों का समाधान यह है कि यद्यपि यह ठीक है कि समस्त पदार्थ अपने-अपने कारणों से स्वस्वभावस्थित उत्पन्न होते हैं परन्तु एक पदार्थ दूसरे से भिन्न है। इसका अर्थ यह है कि जगत इतरेतराभावात्मक है। इतरेतराभाव कोई स्वतन्त्र पदार्थ होकर दो पदार्थों मे भेद नही डालता है किन्तु पटादि का इतरेतराभाव घट रूप है और घट का इतरेतराभाव पटादि रूप है। पदार्थ मे स्व-अस्तित्व और पर-नास्तित्व यह दोनों रूप हैं। पर-नास्तित्व को ही इतरेतराभाव कहते हैं। दो पदार्थ अभिन्न अर्थात् एकसत्ताक तो उत्पन्न होते ही नहीं हैं। जितने पदार्थ हैं, वे सब अपनी-अपनी धारा से बदलते हुए स्वरूपस्थ हैं। दो पदार्थों के स्वरूप का प्रतिनियत होना ही एक का दूसरे में अभाव है जो तत्-तत् पदार्थस्वरूप ही होता है, भिन्न पदार्थ नही। भिन्न अभाव मे तो जैन भी यही दूषण देते हैं।

द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु मे कालक्रम से होने वाली अनेक पर्यायें परस्पर उपादान-उपादेय रूप से जो अनाद्यनन्त बहती हैं, कभी भी उच्छिन्न नहीं होती हैं और न दूसरी धारा से सक्रान्त होती हैं, इसी को ऊर्ध्वतासामान्य, द्रव्य या ध्रौव्य कहते हैं। अव्यभिचारी उपादान-उपादेयभाव का नियामक यही होता है, अन्यथा सन्तानान्तर क्षण के साथ उपादान-उपादेयभाव को कौन रोक सकता है? जो यह कहा गया है कि द्रव्य से अभिन्न होने के कारण पर्यायें एकरूप हो जायेंगी या द्रव्य भिन्न-भिन्न हो जायेगा—सो जब द्रव्य स्वयं ही पर्यायरूप से प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है तब वह पर्यायों की

१ तेन योऽपि मन्यते—नास्माभिः घटपटादिष्वेक सामान्यमिष्यते तेषामेकान्तभेदात् किन्त्वपरापरेण पर्यायेणावस्थासञ्ज्ञितेन परिणामि द्रव्यम्, एतदेव च सर्वपर्यायानुयायित्वात् सामान्यमुच्यते। तेन युगपदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत् इति वस्तुनो लक्षणमिति। तदाह—घटमौलिसुवर्णार्थी……सोऽप्यत्र निराकृत एव द्रष्टव्य। तद्धति सामान्य-विशेषवति वस्तुन्युभ्युपगम्यमाने अत्यन्तमभेदभेदौ स्याताम्……अथ सामान्य-विशेषयोः कथंचिद्भेद इष्यते। अत्राप्याह—अन्योन्यमित्यादि। सादृशासामान्य-विशेषयोः……सदृशात्मन्येः सामान्यविशेषयोः यदि कथंचिदन्योन्यं परस्परं भेदः तदैकान्तेन तयोर्भेद एव स्यात्……तद्वति वस्तुन्यभ्युपगम्यमाने अत्यन्तभेदाभेदौ स्याताम्। ……मिथ्यावाद एव स्याद्वादः।

—प्रमाणवार्तिक स्ववृ० टीका, पृ० ३३२-४२

दृष्टि से अनेक है और उन पर्यायों में जो स्वधारा की क्रमबद्धता है, उस रूप से वे सब एक रूप ही हैं। सन्तानान्तर के प्रथम क्षण में स्व-सन्तान के प्रथम क्षण में जो अन्तर है और जिसके कारण अन्तर है और जिसकी वजह से स्व-सन्तान, पर-सन्तान यह विभाग होता है, वही ऊर्ध्वतासामान्य या द्रव्य है। 'स्वभाव-परभावाभ्यां यस्मात् व्यावृत्तिभागिनः'[1] इत्यादि श्लोकों में जो सजातीय और विजातीय या स्वभाव और परभाव शब्द का प्रयोग किया गया है, वह 'स्वपर' विभाग कैसे होगा? जो स्व की धारा है उसे ही तो ऊर्ध्वतासामान्य कहते हैं।

दही और ऊँट में अभेद की बात तो कल्पना मात्र है और इसके बारे में पहले काफी विचार किया जा चुका है। क्योंकि दही और ऊँट में कोई एक द्रव्य अनुयायी नहीं है, जिसके कारण उनमें एकत्व को माना जाये। 'जिस प्रकार अनुगत प्रत्यय के बल पर कुण्डल, कटक आदि में एक सुवर्ण सामान्य माना जाता है, उसी प्रकार ऊँट और दही में भी एक द्रव्य मानना चाहिए' यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि वस्तुतः द्रव्य तो पुद्गल अणु ही हैं। सुवर्ण आदि भी अनेक परमाणुओं की चिरकाल तक एक जैसी बनी रहने वाली सदृश स्कन्ध-अवस्था ही है और उसी के कारण उसके विकारों में अनन्य प्रत्यय होता है। प्रत्येक आत्मा का अपनी हर्ष-विषाद, सुख-दुःख आदि पर्यायों में कालभेद होने पर भी जो अन्वय है वह ऊर्ध्वतासामान्य है। एक पुद्गलाणु का अपनी कालक्रम से होने वाली अवस्थाओं में जो अविच्छेद है वह भी ऊर्ध्वतासामान्य ही है, इसी के कारण उनमें अनुगत प्रत्यय होता है। इनमें उस रूप से एकत्व या अभेद कहने में कोई आपत्ति नहीं है। दो स्वतन्त्र द्रव्यों में सादृश्यमूलक एकत्व का ही आरोप होता है, वास्तविक नहीं। अतः जिन्हें हम मिट्टी या सुवर्ण द्रव्य कहते हैं वे सब अनेक परमाणुओं के स्कन्ध हैं, उन्हें हम व्यवहार के लिए ही एक द्रव्य कहते हैं।

अनेक द्रव्यों में व्यवहार के लिए जो सादृश्यमूलक अभेद व्यवहार होता है वह व्यवहार के लिए ही है। यह सादृश्य बहुत से अवयवों या गुणों की समानता है और वह प्रत्येक व्यक्तिनिष्ठ होता है, उभयनिष्ठ या अनेकनिष्ठ नहीं। गो का सादृश्य गवयनिष्ठ है और गवय का सादृश्य गोनिष्ठ है। इस अर्थ में सादृश्य उस वस्तु का परिणमन ही हुआ अतः वह उससे अभिन्न है। ऐसा कोई सादृश्य नहीं है जो दो वस्तुओं में अनुस्यूत रहता हो। उसकी प्रतीति अवश्य पर-सापेक्ष है परन्तु स्वरूप तो व्यक्तिनिष्ठ ही है। इसको निमित्त बनाकर जो अनेक व्यक्तियों में अभेद कहा जाता है, वह काल्पनिक है, वास्तविक नहीं है। ऐसी दशा में दही और ऊँट में अभेद व्यवहार एक पुद्गल सामान्य की दृष्टि से भी किया जा सकता है वह औपचारिक कल्पना है। ऊँट चेतन है जबकि दही में चेतना नहीं पाई जाती, अतः उन दोनों में पुद्गल सामान्य की दृष्टि से अभेद व्यवहार करना अनुचित ही है। ऊँट के शरीर और दही के परमाणुओं

---

१ प्रमाणवार्तिक ३।३६

है रूप-रस-गंध-स्पर्श रूप सादृश्य दिखाकर अभेद की कल्पना करके दूषण देना भी उचित नहीं है। क्योंकि इस प्रकार के काल्पनिक प्रसंगों से तो समस्त व्यवहारों का ही उच्छेद हो जायेगा। सादृश्यमूलक स्थूल प्रत्यय तो बौद्ध भी मानते हैं।

फिर भी जैनदर्शन पर दोषारोपण किया जाता है। उसका कारण यह प्रतीत होता है कि सांख्य का प्रकृति-परिणामवाद और उसकी अपेक्षा जो भेदाभेद है, उसे जैनों पर आरोपित कर इन दार्शनिकों ने जैनदर्शन के साथ न्याय नहीं किया है। सांख्यदर्शन एक प्रकृति की सत्ता मानता है। वही प्रकृति दही रूप भी बनती है और ऊँट रूप भी। अतः एक प्रकृति रूप से दही और ऊँट में अभेद का प्रसंग देना उचित भी हो सके किन्तु जैन तत्त्वज्ञान का आधार किन्तु तो ही दूसरा है। वह वास्तव में बहुत्ववादी है और प्रत्येक परमाणु को स्वतन्त्र द्रव्य मानता है। अनेक द्रव्यों में सादृश्यमूलक एकत्व उपचरित है, आरोपित है और काल्पनिक है। रह जाती है एक द्रव्य की बात, सो उसके एकत्व का लोप स्वयं बौद्ध भी नहीं कर सकते हैं। निर्वाण में जिस बौद्ध पक्ष ने चित्त सन्तति का सर्वथा उच्छेद माना है उसने तो दर्शनशास्त्र के मौलिक आधारभूत नियम का ही लोप कर दिया है। चित्तसन्तति स्वयं अपने में परमार्थ सत् है, वह कभी भी उच्छिन्न नहीं हो सकती है। बुद्ध स्वयं उच्छेदवाद के उतने ही विरोधी थे जितने कि उपनिषद् प्रतिपादित शाश्वतवाद के। बौद्धदर्शन की सबसे बड़ी और मोटी भूल यही है कि उसके एक पक्ष ने निर्वाण अवस्था में चित्त सन्तति का सर्वथा उच्छेद मान लिया है। इसी कारण बुद्ध ने स्वयं निर्वाण को अव्याकृत कहा था, उसके स्वरूप के सम्बन्ध में भाव या अभाव किसी रूप में उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया था। बुद्ध के इस मौन ने ही उनके तत्त्वज्ञान में अनेक विरोधी विचारों के उदय का अवसर उपस्थित कर दिया।

'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' नामक टीका में निर्ग्रन्थादि के मत के रूप में भेदाभेद का पूर्व पक्ष करके दूषण दिया है कि 'दो धर्म एक धर्मी में असिद्ध हैं।'[1] किन्तु जब प्रतीति के बल से पदार्थ में उभयात्मकता सिद्ध होती है तब उसे 'असिद्ध' कह देने से उसका निषेध नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। स्याद्वाद और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणामवाद में जितने भी दूषण बौद्धदर्शन के ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं, वे सब तत्त्व का विपर्यास करके ही थोपे गये हैं। स्याद्वाद और अनेकान्त के सम्बन्ध में अब तक यही होता आया है।

जयराशि भट्ट और स्याद्वाद

जयराशि भट्ट 'तत्त्वोपप्लवसिंह' नामक खण्डन ग्रन्थ के रचयिता हैं। इस ग्रन्थ

1 तद्युक्ता धर्मा सत्त्वादि धर्मैः सत्त्वासत्त्वादिभिः [illegible] निर्ग्रन्थादिभिरुक्तम्। [illegible] समम्। कस्मात्? न भिन्नाभिन्नमतेऽपि पूर्ववत् भिन्नाभिन्नयोरेकत्वम्। ......उभयोरेकस्मिन् असिद्धत्वात्—भिन्नाभिन्न [illegible] [illegible] [illegible] दूषितम्। —विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि टी० १, सं० १

नहीं हो पाता है। इस समग्र कथन का सीधा तात्पर्य यह हुआ कि वस्तु अनेकान्त रूप है, उसमें अनन्त धर्म हैं। अतः उसे किसी एक रूप में नहीं कहा जा सकता है। अनेकान्त दर्शन भी तो यही कहता है कि वस्तु मूलतः अनन्तधर्मात्मक है और उसका पूर्णरूप अनिर्वचनीय होने से उसका एक-एक धर्म से कथन करते समय स्याद्वाद पद्धति का ध्यान रखना चाहिये।

यदि तत्त्वोपप्लवकार ने वस्तु के विधेयात्मक रूप पर ध्यान दिया होता तो वे स्वयं वस्तु के अनन्तधर्मात्मक स्वरूप को समझ लेते, किन्तु शब्दों की एक-धर्मवाचक सामर्थ्य के कारण वे उलझन में फँस गये हैं। उस उलझन से निकलने का उपाय स्याद्वाद ही बतलाता है कि हमारा प्रत्येक कथन सापेक्ष होना चाहिये और उसे सुनिश्चित विवक्षा या दृष्टिकोण से प्रतिपादन करना चाहिये।

आचार्य व्योमशिव और स्याद्वाद

आचार्य व्योमशिव प्रशस्तपादभाष्य के टीकाकार हैं। आपने भाष्य पर व्योमवती नामक टीका लिखी है। उसमें अनेकांत ज्ञान को मिथ्या रूप बताने के लिये आप उन्हीं विरोध प्रदर्शक प्राचीन युक्तियों को उपस्थित करते हैं कि—एक धर्मी में विधि-प्रतिषेध रूप दो विरोधी धर्मों की सम्भावना नहीं है। मुक्ति में भी अनेकांत लगने से वही मुक्त भी होगा और वही संसारी भी। इसी तरह अनेकांत में अनेकांत मानने से दूषण आता है।[1]

लेकिन यहाँ विचारणीय यह है कि जिस प्रकार एक चित्र अवयवी में चित्ररूप एक होकर भी अनेक आकार वाला होता है। एक ही पृथ्वीत्व सामान्य स्व-व्यक्तियों में अनुगत होने के कारण सामान्य होकर भी जलादि से व्यावृत होने से विशेष भी कहा जाता है और मेचकरत्न एक होकर भी अनेकाकार होता है। उसी प्रकार एक ही द्रव्य अनेकांतरूप हो सकता है। उसमें कोई विरोध नहीं है। मुक्ति में भी अनेकांत लग सकता है। एक ही आत्मा जो अनादि से बद्ध था वही कर्मबंधन से मुक्त हुआ, अतएव उस आत्मा को वर्तमान पर्याय की दृष्टि से मुक्त तथा अतीत पर्यायों की दृष्टि से अमुक्त कह सकते हैं। उसमें कोई विरोध नहीं है। द्रव्य तो अनादि अनंत होता है। उसमें त्रैकालिक पर्यायों की दृष्टि से अनेक व्यवहार हो सकते हैं। मुक्त तो कर्मबंधन से हुआ है स्व-स्वरूप से तो वह सदा अमुक्त (स्व-स्वरूप स्थित) ही है। अनेकांत में भी अनेकान्त लगता है। जिसका पूर्व में संकेत किया जा चुका है कि नय की अपेक्षा एकान्त है और प्रमाण की अपेक्षा वस्तुतत्त्व अनेकान्त रूप है।

आत्मसिद्धि प्रकरण में जब आचार्य व्योमशिव आत्मा को स्व-संवेदन-प्रत्यक्ष का विषय सिद्ध करते हैं तब वहाँ यह प्रश्न हुआ कि—'आत्मा तो कर्ता है, वह उसी

---

१ प्रशस्तपादभाष्य व्योमवती टीका, पृ० २०।

स्वयं स्वसंवेदन का कर्म कैसे हो सकता है ?' इस प्रश्न का समाधान अनेकांत का आश्रय लेकर वहाँ इस प्रकार किया गया है कि—'इसमें कोई विरोध नहीं है, लक्षण भेद से दोनों रूप हो सकते हैं। स्वतन्त्रपने की अपेक्षा वह कर्ता है और ज्ञान का विषय होने से कर्म है।' इस प्रकार आत्मा में अविरोधी अनेक धर्म मानने में तो उन्हें कोई विरोध नहीं है किन्तु अनेकान्तवाद की विचारदृष्टि में विरोध दिख गया। जिससे ज्ञात होता है कि आचार्य व्योमशिव पर तत्कालीन वातावरण का कितना प्रभाव था कि स्वयं स्याद्वाद सिद्धान्त के समर्थक होकर भी उसी का विरोध करते हैं।

श्री भास्कर भट्ट और स्याद्वाद

ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारों में भास्कर भट्ट भेदाभेदवादी माने जाते हैं। इन्होंने अपने भाष्य में शंकराचार्य का खंडन किया है किन्तु 'नैकस्मिन्न सम्भवात्' सूत्र में आर्हतमत की समीक्षा के प्रसंग में शंकराचार्य का ही अनुसरण करके सप्तभंगी में विरोध और अनवधारण नामक दूषण देते हैं। वे कहते हैं कि 'सब अनेकान्त रूप हैं ऐसा निश्चय करते हो या नहीं ? यदि हाँ, तो वह एकान्त हो गया और यदि नहीं तो निश्चय भी अनिश्चय रूप होने से निश्चय नहीं रह जायेगा। अतः ऐसे शास्त्र के प्रणेता उन्मत्ततुल्य हैं।'

भास्कर भट्ट के विचारों की समीक्षा करने के पूर्व हम भेदाभेद के बारे में उनके शंका समाधान को उपस्थित करते हैं, जिससे उनकी सही दृष्टि का ज्ञान हो सके। भास्कर भाष्य में उन्होंने लिखा है:—

शंका—भेद और अभेद में तो विरोध है ?

समाधान—यह प्रमाण और प्रमेय तत्त्व को न समझने वालों की शंका है। जो वस्तु प्रमाण से जिस रूप से परिच्छिन्न हो वह उसी रूप में है। गो, अश्व आदि समस्त पदार्थ भिन्न-भिन्न ही प्रतीत होते हैं।[2] सर्वथा अभिन्न या भिन्न पदार्थ कोई नहीं है। सत्ता, ज्ञेयत्व और द्रव्यत्व आदि सामान्य रूप से सब अभिन्न हैं और व्यक्ति

---

1 अथात्मनः कर्तृत्वादेकस्मिन् काले कर्मत्वासम्भवेनाप्रत्यक्षत्वम् तन्न, लक्षणभेदेन तदुपपत्तेः तथाहि—ज्ञानचिकीर्षाधारत्वस्य कर्तृलक्षणस्योपपत्तेः कर्तृत्वम्, तदैव च क्रियया व्याप्यत्वोपलब्धेः कर्मत्वं चेति न दोषः लक्षणतन्त्रत्वाद् वस्तुव्यवस्थायाः। —प्रशस्तपाद भाष्य व्योमवती टीका, पृ० ३९२

२ यदप्युक्तं भेदाभेदयोर्विरोध इति, तदभिधीयते, अनिरूपित प्रमाण-प्रमेयतत्त्वस्येदं चोद्यम्—

यत्प्रमाणैः परिच्छिन्नमविरुद्धं हि तत्तथा।
वस्तुजातं गवाश्वादि भिन्नाभिन्नं प्रतीयते॥

—भास्कर भाष्य, पृ० १६

मात्र व्यवहारसत्य ही बन सकता है और कल्पना की दौड़ का चरम् बिंदु भी हो सकता है परन्तु उसका तत्त्व सत् या परमार्थसत् होना नितान्त असंभव है। अतः इतना बड़ा अभेद जिसमे चेतन-अचेतन, मूर्त, अमूर्त आदि सभी लीन हो जायें, कल्पना साम्राज्य की चरम कोटि है और इस कल्पना कोटि को परमार्थ सत् न मानते के कारण जैनदर्शन का स्याद्वाद सिद्धात यदि आपको मूल तत्त्व का स्वरूप समझने मे नितान्त असमर्थ प्रतीत होता है तो यह आपकी कल्पना की दौड़ ही है।

स्याद्वाद सिद्धात की समीक्षा के प्रकरण में उपाध्यायजी ने आगे लिखा है कि 'इसी कारण यह व्यवहार तथा परमार्थ के बीचोंबीच तत्त्व-विचार को कतिपय क्षण के लिये विश्रम्भ तथा विराम देने वाले विश्राम गृह से बढ़कर अधिक महत्त्व नही रखता।[१] उक्त कथन मे आप यह कहना चाहते हैं कि प्रत्येक दर्शन को उस काल्पनिक अभेद तक पहुँचना ही चाहिए, जिसको आपने कल्पित कर लिया है। परन्तु जब स्याद्वाद वस्तु का विचार कर रहा है तब वह परमार्थ सत् वस्तु की सीमा को कैसे लांघ सकता है ? ब्रह्मवाद न केवल युक्ति विरुद्ध ही है, किन्तु आज के विज्ञान मे उसके एकीकरण का कोई वास्तविक मूल्य सिद्ध नही होता। विज्ञान ने अणु का भी विश्लेषण किया है और प्रत्येक परमाणु की अपनी-अपनी मौलिक और स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर दी है, तब यदि स्याद्वाद वस्तु को अनेकान्तात्मक सीमा पर पहुँचाकर बुद्धि को विराम देता है तो ऐसा सिद्ध करना उसका भूषण ही है। काल्पनिक अभेद से वास्तविक स्थिति की उपेक्षा करना बुद्धि का खिलवाड मात्र ही है।

डॉ० देवराज और स्याद्वाद

आपने अपनी पुस्तक 'पूर्वी और पश्चिमी दर्शन' में पृष्ठ ६५ पर स्यात् शब्द का 'कदाचित्' अनुवाद किया है, जो बहुत ही भ्रमपूर्ण है। कदाचित् शब्द कालापेक्ष है और उसका सीधा अर्थ है किसी समय, तथा प्रचलित अर्थ में कदाचित् शब्द संशय से मिलता-जुलता है। वस्तु मे अस्तित्व और नास्तित्व धर्म एक ही काल में रहते हैं न कि भिन्न काल में। स्यादस्ति-नास्ति का अर्थ कदाचित् अस्ति (है) और कदाचित् नास्ति (नहीं है)—यह अर्थ नही है, किन्तु सह (एक साथ) अस्ति और नास्ति है। स्यात् का सही और सटीक अर्थ है—अपेक्षा विशेष से अर्थात् एक निश्चित प्रकार से। यानी अमुक निश्चित दृष्टिकोण से वस्तु 'अस्ति' है और उसी समय दूसरे निश्चित दृष्टिकोण से 'नास्ति' है, इनमे कालभेद नही है। क्योंकि अपेक्षा प्रयुक्त निश्चयवाद ही स्याद्वाद का अभ्रान्त वाच्यार्थ हो सकता है।

श्री हनुमन्तराव एम० ए० और स्याद्वाद

श्री हनुमन्तराव एम० ए० ने अपने Jain Instrumental Theory of Knowledge' नामक लेख मे जो इण्डियन फिलॉसॉफीकल कांग्रेस के किसी अधिवेशन

१ भारतीय दर्शन, पृ० १७३

में कहा गया था, लिखा है कि 'स्याद्वाद सरल समझौते का मार्ग उपस्थित करता है, वह पूर्ण सत्य तक नहीं ले जाता' आदि। ये विचार भी उसी तरह के हैं, जिनकी पूर्व में सही स्थिति बतलाई जा चुकी है कि ऐसे विचार स्याद्वाद के स्वरूप को न समझने पर वस्तुस्वरूप की उपेक्षा करने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए हैं। वस्तु तो अपने स्थान पर अपने विराट रूप में स्थित है, उसमें अनन्त धर्म हैं जो हमें परस्पर विरोधी मालूम होते हुए भी अविरुद्ध भाव से विद्यमान हैं। परन्तु हमारी दृष्टि में विरोध और एकांगिता होने से हम उसकी यथार्थ स्थिति को नहीं समझ पा रहे हैं।

प्रो० एस० के० बेलवालकर और स्याद्वाद

प्रोफेसर महोदय इस प्रसंग पर लिखते हैं—'जैनदर्शन का प्रमाण सम्बन्धी भाग अनमेल और असंगत है, अगर वह स्याद्वाद के आधार पर लिया जाये तो S (एस) हो सकता है, S (एस) नहीं हो सकता है दोनों हो सकते हैं, P (पी) नहीं हो सकता इस प्रकार का निषेधात्मक और अज्ञेयवादी (एग्नोस्टिक) वक्तव्य कोई सिद्धान्त नहीं हो सकता।' इसका समाधान यही है कि स्याद्वादी किसी भी वस्तु के विषय में निर्णय देते हुए यही कहेगा कि अमुक अपेक्षा से ही ऐसा है। तब प्रश्न उठ सकता है कि 'अमुक अपेक्षा से' ऐसा क्यों कहा जाय? तो इसका उत्तर होगा कि इसके बिना व्यवहार ही नहीं चलेगा। अमुक रेखा छोटी है या बड़ी यह प्रश्न ही तब तक पैदा नहीं होगा जब तक कि हमारे मस्तिष्क में दूसरी रेखा की कोई कल्पना नहीं होगी। इस स्थिति में अनिश्चितता नहीं किन्तु यथार्थता यह होगी कि रेखा बड़ी या छोटी है भी, नहीं भी। यह तर्क श्री बेलवालकर के तर्क पर भी लागू होता है कि रेखा बड़ी भी है छोटी की अपेक्षा से, छोटी भी है बड़ी की अपेक्षा से, छोटी-बड़ी दोनों ही नहीं है समरेखा की अपेक्षा से। इसी प्रकार से S है अंग्रेजी भाषा की अपेक्षा से, S मुक्त प्रकार का चिन्ह है संस्कृत भाषा की अपेक्षा से। दोनों है दोनों भाषाओं की अपेक्षा से। दोनों नहीं है अन्य भाषाओं की अपेक्षा से। इस प्रकार स्याद्वाद अपनी अपेक्षाओं से वस्तु का पूर्णरूपेण कथन करने के कारण पूर्ण सिद्धांत है। वह न तो अज्ञेयवादी है और न निषेधात्मक दृष्टि है। उसकी दृष्टि तो वही है जैसा कि वस्तु स्वरूप है।

सर राधाकृष्णन और स्याद्वाद

भारत के सुप्रसिद्ध विचारक सर डॉ० राधाकृष्णन् ने अपने ग्रन्थ इण्डियन फिलासफी (भाग १, पृष्ठ ३०५-६) में स्याद्वाद पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है—'इससे हमें केवल सापेक्षिक अथवा अर्ध सत्य का ज्ञान हो सकता है। स्याद्वाद से हम पूर्ण सत्य को नहीं जान सकते। दूसरे शब्दों में स्याद्वाद हमें अर्ध सत्यों के पास लाकर खड़ा कर देता है और इन्हीं अर्धसत्यों को पूर्ण सत्य मान लेने की प्रेरणा देता है परन्तु केवल निश्चित-अनिश्चित अर्ध सत्यों को मिलाकर एक साथ रख देने से वह पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता।' आदि।

मात्र व्यवहारसत्य ही बन सकता है और कल्पना की दौड़ का चरम् बिंदु भी हो सकता है परन्तु उसका तत्त्व सत् या परमार्थसत् होना नितान्त असंभव है। अतः इतना बड़ा अभेद जिसमें चेतन-अचेतन, मूर्त, अमूर्त आदि सभी लीन हो जायें, कल्पना साम्राज्य की चरम कोटि है और इस कल्पना कोटि को परमार्थ सत् न मानने के कारण जैनदर्शन का स्याद्वाद सिद्धांत यदि आपको मूल तत्त्व का स्वरूप समझने में नितान्त असमर्थ प्रतीत होता है तो यह आपकी कल्पना की दौड़ ही है।

स्याद्वाद सिद्धांत की समीक्षा के प्रकरण में उपाध्यायजी ने आगे लिखा है कि 'इसी कारण यह व्यवहार तथा परमार्थ के बीचोंबीच तत्त्व-विचार को कतिपय क्षण के लिये विश्रम्भ तथा विराम देने वाले विश्राम गृह से बढ़कर अधिक महत्त्व नहीं रखता।[१] उक्त कथन में आप यह कहना चाहते हैं कि प्रत्येक दर्शन को उस काल्पनिक अभेद तक पहुँचना ही चाहिए, जिसको आपने कल्पित कर लिया है। परन्तु जब स्याद्वाद वस्तु का विचार कर रहा है तब वह परमार्थ सत् वस्तु की सीमा को कैसे लाँघ सकता है? ब्रह्मकवाद न केवल युक्ति विरुद्ध ही है, किन्तु आज ■ विज्ञान में उसके एकीकरण का कोई वास्तविक मूल्य सिद्ध नहीं होता। विज्ञान ने अणु का भी विश्लेषण किया है और प्रत्येक परमाणु की अपनी-अपनी मौलिक और स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर दी है, तब यदि स्याद्वाद वस्तु को अनेकान्तात्मक सीमा पर पहुँचाकर बुद्धि को विराम देता है तो ऐसा सिद्ध करना उसका भूषण ही है। काल्पनिक अभेद में वास्तविक स्थिति की उपेक्षा करना बुद्धि का खिलवाड़ मात्र ही है।

डॉ० देवराज और स्याद्वाद

आपने अपनी पुस्तक 'पूर्वी और पश्चिमी दर्शन' में पृष्ठ ६५ पर स्यात् शब्द का 'कदाचित्' अनुवाद किया है, जो बहुत ही भ्रमपूर्ण है। कदाचित् शब्द कालापेक्ष है और उसका सीधा अर्थ है किसी समय; तथा प्रचलित अर्थ में कदाचित् शब्द संशय से मिलता जुलता है। वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व धर्म एक ही काल में रहते हैं न कि भिन्न काल में। स्यादस्ति-नास्ति का अर्थ कदाचित् अस्ति (है) और कदाचित् नास्ति (नहीं है)—यह अर्थ नहीं है, किन्तु सह (एक साथ) अस्ति और नास्ति है। स्यात् का सही और सटीक अर्थ है—अपेक्षा विशेष से अर्थात् एक निश्चित प्रकार से। यानी अमुक निश्चित दृष्टिकोण से वस्तु 'अस्ति' है और उसी समय दूसरे निश्चित दृष्टिकोण से 'नास्ति' है, इनमें कालभेद नहीं है। क्योंकि अपेक्षा प्रयुक्त निश्चयवाद ही स्याद्वाद का अभ्रान्त वाच्यार्थ हो सकता है।

श्री हनुमन्तराव एम० ए० और स्याद्वाद

श्री हनुमन्तराव एम० ए० ने अपने Jain Instruemental Theory of Knowledge' नामक लेख में जो इण्डियन फिलॉसॉफीकल कांग्रेस के किसी अधिवेशन

१ भारतीय दर्शन, पृ० १७३

में पढ़ा गया था, लिखा है कि 'स्याद्वाद सरल समझौते का मार्ग उपस्थित करता है, वह पूर्ण सत्य तक नहीं ले जाता' आदि। ये विचार भी उसी तरह के हैं, जिनकी पूर्व में सही स्थिति बतलाई जा चुकी है कि ऐसे विचार स्याद्वाद के स्वरूप को न समझने पर वस्तुस्वरूप की उपेक्षा करने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए हैं। वस्तु तो अपने स्थान पर अपने विराट रूप में स्थित है, उसमें अनन्त धर्म हैं जो हमें परस्पर विरोधी मालूम होते हुए भी अविरुद्ध भाव से विद्यमान हैं। परन्तु हमारी दृष्टि में विरोध और एकांगिता होने से हम उसकी यथार्थ स्थिति को नहीं समझ पा रहे हैं।

प्रो० एस० के० बेलवालकर और स्याद्वाद

प्रोफेसर महोदय एक प्रसंग पर लिखते हैं—'जैनदर्शन का प्रमाण सम्बन्धी भाग बनमेल और असंगत है, अगर वह स्याद्वाद के आधार पर लिया जाये तो S (एस) हो सकता है, S (एस) नहीं हो सकता है दोनों हो सकते हैं, P (पी) नहीं हो सकता इस प्रकार का निषेधात्मक और अज्ञेयवादी (एग्नोस्टिक) वक्तव्य कोई *सिद्धान्त नहीं हो सकता।' इसका समाधान यही है कि स्याद्वादी किसी भी वस्तु* के विषय में निर्णय देते हुए यही कहेगा कि अमुक अपेक्षा से ही ऐसा है। तब प्रश्न उठ सकता है कि 'अमुक अपेक्षा से' ऐसा क्यों कहा जाये ? तो इसका उत्तर होगा कि इसके बिना व्यवहार ही नहीं चलेगा। अमुक रेखा छोटी है या बड़ी यह प्रश्न ही तब तक पैदा नहीं होगा जब तक कि हमारे मस्तिष्क में दूसरी रेखा की कोई कल्पना नहीं होगी। इस स्थिति में अनिश्चितता नहीं किन्तु यथार्थता यह होगी कि रेखा बड़ी या छोटी है भी, नहीं भी। यह तर्क श्री बेलवालकर के तर्क पर भी लागू होता है कि रेखा बड़ी भी है छोटी की अपेक्षा से, छोटी भी है बड़ी की अपेक्षा से, छोटी-बड़ी दोनों ही नहीं है समरेखा की अपेक्षा से। इसी प्रकार से S है अंग्रेजी भाषा की अपेक्षा से, S लुप्त अकार का चिन्ह है संस्कृत भाषा की अपेक्षा से। दोनों है दोनों भाषाओं की अपेक्षा से। दोनों नहीं है *अन्य भाषाओं* की अपेक्षा से। इस प्रकार स्याद्वाद अपनी अपेक्षाओं से वस्तु का पूर्णरूपेण कथन करने के कारण पूर्ण सिद्धांत है। वह न तो अज्ञेयवादी है और न निषेधात्मक दृष्टि है। उसकी दृष्टि तो वही है जैसा कि वस्तु स्वरूप है।

सर राधाकृष्णन और स्याद्वाद

भारत के सुप्रसिद्ध विचारक सर डॉ० राधाकृष्णन् ने अपने ग्रन्थ इण्डियन फिलासफी (भाग १, पृष्ठ ३०५-६) में स्याद्वाद पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है—'इससे हमें केवल सापेक्षिक अथवा अर्ध सत्य का ज्ञान हो सकता है। स्याद्वाद से हम पूर्ण सत्य को नहीं जान सकते। दूसरे शब्दों में स्याद्वाद हमें अर्ध सत्यों के पास लाकर खड़ा कर देता है और इन्हीं अर्धसत्यों को पूर्ण सत्य मान लेने की प्रेरणा देता है परन्तु केवल निश्चित-अनिश्चित अर्ध सत्यों को मिलाकर एक साथ रख देने से वह पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता।' आदि।

मात्र व्यवहारसत्य ही बन सकता है और कल्पना की दौड़ का चरम बिंदु भी हो सकता है परन्तु उसका तत्त्व सत् या परमार्थसत् होना नितान्त असंभव है। अत: इतना बड़ा अभेद जिसमें चेतन-अचेतन, मूर्त, अमूर्त आदि सभी लीन हो जायें, कल्पना साम्राज्य की चरम कोटि है और इस कल्पना कोटि को परमार्थ सत् न मानने के कारण जैनदर्शन का स्याद्वाद सिद्धान्त यदि आपको मूल तत्त्व का स्वरूप समझाने में नितान्त असमर्थ प्रतीत होता है तो यह आपकी कल्पना की दौड़ ही है।

स्याद्वाद सिद्धान्त की समीक्षा के प्रकरण में उपाध्यायजी ने आगे लिखा है कि 'इसी कारण यह व्यवहार तथा परमार्थ के बीचोबीच तत्त्व-विचार को कतिपय क्षण के लिये विश्रम्भ तथा विराम देने वाले विश्राम गृह से बढ़कर अधिक महत्त्व नहीं रखता।'[१] उक्त कथन से आप यह कहना चाहते हैं कि प्रत्येक दर्शन को उस काल्पनिक अभेद तक पहुँचना ही चाहिए, जिसको आपने कल्पित कर लिया है। परन्तु जब स्याद्वाद वस्तु का विचार कर रहा है तब वह परमार्थ सत् वस्तु की सीमा को कैसे लांघ सकता है? ब्रह्मवाद न केवल युक्ति विरुद्ध ही है, किन्तु आज के विज्ञान में उसके एकीकरण का कोई वास्तविक मूल्य सिद्ध नहीं होता। विज्ञान ने अणु का भी विश्लेषण किया है और प्रत्येक परमाणु की अपनी-अपनी मौलिक और स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर दी है, तब यदि स्याद्वाद वस्तु को अनेकान्तात्मक सीमा पर पहुँचाकर बुद्धि को विराम देता है तो ऐसा सिद्ध करना उसका भूषण ही है। काल्पनिक अभेद से वास्तविक स्थिति की उपेक्षा करना बुद्धि का खिलवाड़ मात्र ही है।

डॉ० देवराज और स्याद्वाद

आपने अपनी पुस्तक 'पूर्वी और पश्चिमी दर्शन' में पृष्ठ ६५ पर स्यात् शब्द का 'कदाचित्' अनुवाद किया है, जो बहुत ही भ्रमपूर्ण है। कदाचित् शब्द कालापेक्ष है और उसका सीधा अर्थ है किसी समय, तथा प्रचलित अर्थ में कदाचित् शब्द संशय से मिलता-जुलता है। वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व धर्म एक ही काल में रहते हैं न कि भिन्न काल में। स्यादस्ति-नास्ति का अर्थ कदाचित् अस्ति (है) और कदाचित् नास्ति (नहीं है)—यह अर्थ नहीं है, किन्तु सह (एक साथ) अस्ति और नास्ति है। स्यात् का सही और सटीक अर्थ है—अपेक्षा विशेष से अर्थात् एक निश्चित प्रकार से। यानी अमुक निश्चित दृष्टिकोण से वस्तु 'अस्ति' है और उसी समय दूसरे निश्चित दृष्टिकोण से 'नास्ति' है, इनमें कालभेद नहीं है। क्योंकि अपेक्षा प्रयुक्त निश्चयवाद ही स्याद्वाद का अभ्रान्त वाच्यार्थ हो सकता है।

श्री हनुमन्तराव एम० ए० और स्याद्वाद

श्री हनुमन्तराव एम० ए० ने अपने Jain Instruemental Theory of Knowledge' नामक लेख में जो इण्डियन फिलॉसॉफीकल कांग्रेस के किसी अधिवेशन

१ भारतीय दर्शन, पृ० १७३

में पढ़ा गया था, लिखा है कि 'स्याद्वाद सरल समझौते का मार्ग उपस्थित करता है, वह पूर्ण सत्य तक नहीं ले जाता' आदि। ये विचार भी उसी तरह के हैं, जिनकी पूर्व में सही स्थिति बतलाई जा चुकी है कि ऐसे विचार स्याद्वाद के स्वरूप को न समझने पर वस्तुस्वरूप की उपेक्षा करने के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए हैं। वस्तु तो अपने स्थान पर अपने विराट रूप में स्थित है, उसमें अनन्त धर्म हैं जो हमें परस्पर विरोधी मालूम होते हुए भी अविरुद्ध भाव से विद्यमान हैं। परन्तु हमारी दृष्टि में विरोध और एकांगिता होने से हम उसकी यथार्थ स्थिति को नहीं समझ पा रहे हैं।

प्रो० एस० के० बेलवालकर और स्याद्वाद

प्रोफेसर महोदय एक प्रसंग पर लिखते हैं—'जैनदर्शन का प्रमाण सम्बन्धी भाग अनमेल और असंगत है, अगर वह स्याद्वाद के आधार पर लिया जाये तो ■ (एस) हो सकता है, S (एस) नहीं हो सकता है दोनों हो सकते हैं, P (पी) नहीं हो सकता इस प्रकार का निषेधात्मक और अज्ञेयवादी (एग्नोस्टिक) वक्तव्य कोई सिद्धान्त नहीं हो सकता।' इसका समाधान यही है कि स्याद्वादी किसी भी वस्तु के विषय में निर्णय देते हुए यही कहेगा कि अमुक अपेक्षा से ही ऐसा है। तब प्रश्न उठ सकता है कि 'अमुक अपेक्षा से' ऐसा क्यों कहा जाये? तो इसका उत्तर होगा कि इसके बिना व्यवहार ही नहीं चलेगा। अमुक रेखा छोटी है या बड़ी यह प्रश्न ही तब तक पैदा नहीं होगा जब तक कि हमारे मस्तिष्क में दूसरी रेखा की कोई कल्पना नहीं होगी। इस स्थिति में अनिश्चितता नहीं किन्तु यथार्थता यह होगी कि रेखा बड़ी या छोटी है भी, नहीं भी। यह तर्क श्री बेलवालकर के तर्क पर भी लागू होता है कि रेखा बड़ी भी है छोटी की अपेक्षा से, छोटी भी है बड़ी की अपेक्षा से, छोटी-बड़ी दोनों ही नहीं है समरेखा की अपेक्षा से। इसी प्रकार से S है अंग्रेजी भाषा की अपेक्षा से, S लुप्त अकार का चिन्ह है संस्कृत भाषा की अपेक्षा से। दोनों है दोनों भाषाओं की अपेक्षा से। दोनों नहीं है अन्य भाषाओं की अपेक्षा से। इस प्रकार स्याद्वाद अपनी अपेक्षाओं से वस्तु का पूर्णरूपेण कथन करने के कारण पूर्ण सिद्धांत है। वह न तो अज्ञेयवादी है और न निषेधात्मक दृष्टि है। उसकी दृष्टि तो वही है जैसा कि वस्तु स्वरूप है।

सर राधाकृष्णन और स्याद्वाद

भारत के सुप्रसिद्ध विचारक सर डॉ० राधाकृष्णन् ने अपने ग्रन्थ इण्डियन फिलासफी (भाग १, पृष्ठ ३०५-६) में स्याद्वाद पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है—'इससे हमें केवल सापेक्षिक अथवा अर्ध सत्य का ज्ञान हो सकता है। स्याद्वाद से हम पूर्ण सत्य को नहीं जान सकते। दूसरे शब्दों में स्याद्वाद हमें अर्ध सत्यों के पास लाकर खड़ा कर देता है और इन्हीं अर्धसत्यों को पूर्ण सत्य मान लेने की प्रेरणा देता है परन्तु केवल निश्चित-अनिश्चित अर्ध सत्यों को मिलाकर एक साथ रख देने से वह पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता।' आदि।

उक्त कथन पर विचार करने से पहले हमें यह तो मानना ही पड़ेगा कि स्याद्वाद स्वयं अपने आप में इतना पुष्ट है कि राधाकृष्णन् का तर्क उसे हतप्रभ नही कर सकता है। उन्होंने यह बताने की कहीं भी कृपा नही की है। कि स्याद्वाद ने निश्चित-अनिश्चित अर्धसत्यों को पूर्ण सत्य मान लेने की प्रेरणा कैसे दी है। हां, वह वेदान्त की तरह चेतन और अचेतन के काल्पनिक अभेद की दौड़ में अवश्य सम्मिलित नही हुआ और न किसी ऐसे सिद्धांत के समन्वय का संकेत करता है, जिसमें वस्तु-स्थिति की उपेक्षा की गई हो। वे स्याद्वाद की समन्वय दृष्टि को अर्धसत्यों के पास लाकर पटकना समझते हैं परन्तु जब प्रत्येक वस्तु स्वरूपतः अनन्तधर्मात्मक है तब उस वास्तविक नतीजे पर पहुँचने को अर्ध-सत्य कैसे कह सकते हैं ? हां, स्याद्वाद उस प्रमाण विरुद्ध काल्पनिक अभेद की ओर वस्तुस्थिति मूलक दृष्टि से नही जा सकता है। स्याद्वाद तो यह मानकर चलता है कि विश्व में निरपेक्ष सत्य कुछ है ही नही तो फिर हमारे मन में उसके लिए मोह क्यों उठे। आचार्य धर्मकीर्ति ने इसी बात को कहा है कि—यदि पदार्थों को स्वय यह अभीष्ट है तो हम उन्हें निरपेक्ष बनाने वाले कौन होते हैं ?[१] वैसे जैनदर्शन मे परम संग्रह नय की दृष्टि से एक चरम अभेद की कल्पना भी की गई है जिसमे सद् रूप से सभी चेतन और अचेतन समा जाते हैं—सर्वमेकं सद् विशेषात्—सब एक हैं सत् रूप से, चेतन अचेतन में कोई भेद नही है। परन्तु यह एक कल्पना ही है। क्योंकि ऐसा कोई एक 'वस्तु सत्' नही है जो प्रत्येक मौलिक द्रव्य मे अनुगत रहता है। अतएव किसी को चरम अभेद की कल्पना ही देखना हो तो वह जैनदर्शन के परमसंग्रहनय मे देखी जा सकती है। परन्तु वह अभेद भी सादृश्यमूलक अभेदोपचार ही होगा, वास्तविक नही। बुद्धिगत काल्पनिक अभेद हमारे आनन्द का विषय हो सकता है, परन्तु इससे दो द्रव्यों की एक सत्ता स्थापित नही हो सकती है। सापेक्ष सत्य के बारे में विचारकों को जो सन्देहशीलता लगती है उसका कारण यह है कि सापेक्ष सत्य को पूर्ण सत्य वास्तविक सत्य से परे सोच लिया जाता है, किन्तु वस्तुत सापेक्ष सत्य उससे भिन्न नही है।

यह पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है और यहां पुनः दुहराते हैं कि स्याद्वाद पदार्थों को जानने की एक दृष्टि है। स्याद्वाद स्वय अन्तिम सत्य नही है। वह हमें अन्तिम सत्य तक पहुँचाने के लिए केवल मार्गदर्शक का काम करता है। स्याद्वाद से व्यवहारसत्य के जानने मे उपस्थित होने वाले विरोधों का समन्वय किया जा सकता है। इसलिए जैनदर्शनकारो ने स्याद्वाद को व्यवहारसत्य माना है। व्यवहार-सत्य के आगे जैनदर्शन मे निरपेक्ष सत्य भी माना गया है जिसे पारिभाषिक शब्दों में केवलज्ञान कहा जाता है। स्याद्वाद मे सम्पूर्ण पदार्थों का क्रम-क्रम से ज्ञान होता है किन्तु केवलज्ञान सत्य प्राप्ति की उत्कृष्ट दशा है, उसमें सम्पूर्ण पदार्थ और उन पदार्थों की अनन्त पर्यायें एक साथ प्रतिभासित होती हैं। स्याद्वाद का क्षेत्र लोक-

---

१ यदीदं स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम् ? —प्रमाणवार्तिक २।२०९

व्यवहार भी है और द्रव्यमात्र भी है, जिसका परिज्ञान सप्तभंगी द्वारा हो जाता है। स्याद्वाद हमें केवल जैसे-तैसे अर्धसत्यों को ही पूर्ण सत्य मान लेने के लिए बाध्य नहीं करता है किन्तु सत्य के दर्शन करने के लिए अनेक मार्गों की खोज करता है। स्याद्वाद का कथन है कि मनुष्य की शक्ति सीमित है, इसीलिए वह आपेक्षिक सत्य को ही जान सकता है। हमें पहले व्यावहारिक विरोधों का समन्वय करके आपेक्षिक सत्य को प्राप्त करना चाहिये और आपेक्षिक सत्य को जानने के बाद हम पूर्ण सत्य केवल-ज्ञान का साक्षात्कार करने के अधिकारी हो सकते हैं।

यद्यपि स्याद्वाद को विरोधी समालोचकों के भरपूर आक्षेप सहन करने पड़े हैं परन्तु भगवान महावीर अनन्तधर्म वाली वस्तु के सम्बन्ध में व्यवस्थित और पूर्ण निष्पक्षदर्शी थे। उन्होंने न केवल वस्तु का अनेकान्त स्वरूप ही बताया किन्तु उसके जानने देखने के उपाय—नय दृष्टियाँ और उनके प्रतिपादन का प्रकार—स्याद्वाद भी बताया। स्याद्वाद न तो संशयवाद है न अनिश्चिततावाद है, न विभज्यवाद है और न सम्भववाद या अभीष्टवाद ही है। वह तो अपेक्षा से प्रयुक्त होने वाला निश्चयवाद है। इसीलिए स्याद्वाद सम्पूर्ण जैनेतर दर्शनों का उन-उनकी दृष्टि को यथास्थान रखकर समन्वय करने में समर्थ हो सका है। इतना सब कुछ होने पर भी जो अपने एकांगी दृष्टिकोण से स्याद्वाद पर आक्षेप लगाते हैं, उनके लिए क्या कहा जा सकता है। हम तो यही आशा करते हैं कि मानव अहिंसा के विकास और जीवन को संवारने के लिए स्याद्वाद का यथोचित उपयोग किया जाये।

आदीपमा व्योम-समस्वभाव,
स्याद्वादमुद्रानतिभेदवस्तु ।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्य—
दितित्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः ॥

× × ×

नीति-विरोधध्वंसी,
लोक-व्यवहारवर्तकः सम्यक् ।
परमागमस्य बीज,
भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

× × ×

वीर-वदन-हिमवन से इसका
धारावाहिक पुण्य प्रवाह ।
बहता आता संसृति पथ में,
जिसका है साहित्य अथाह ॥

9

स्याद्वाद साहिय का विकास : ऐतिहासिक दृष्टि

अहिंसा और अनेकांत ये जैनधर्म के दो मूल सिद्धांत हैं। भगवान महावीर ने इन्हीं दो मूल सिद्धांतों पर अधिक बल दिया है। महावीर परम अहिंसक थे। वे शारीरिक अहिंसा के समान ही मानसिक अहिंसा-पालन पर भी जोर देते थे। उनका निश्चित मत था कि उपशम वृत्ति से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है, और यही वृत्ति मोक्ष का साधन है। मानसिक, वाचिक और कायिक इस त्रिविध अहिंसा की परिपूर्ण साधना और स्थायी प्रतिष्ठा वस्तु स्वरूप के यथार्थ दर्शन के बिना होना अशक्य है। हम भले ही शरीर से दूसरे की हिंसा न करें किन्तु वचन-व्यवहार और चित्तगत विचार यदि विषम और विसवादी हैं तो कायिक अहिंसा का पालन कठिन है इसीलिये उनका उपदेश था कि प्रत्येक पुरुष भिन्न-भिन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार ही सत्य की प्राप्ति करता है, जिससे प्रत्येक दर्शन के सिद्धांत किसी अपेक्षा से सत्य हैं। जब तक इन मतवादों का वस्तुस्थिति के आधार से यथार्थ दर्शनपूर्वक समन्वय न होगा तब तक हिंसा और संघर्ष की जड़ नहीं कट सकती है। हमारा कर्तव्य तो यह होना चाहिये कि हम व्यर्थ के वाद-विवादों में न पड़कर अहिंसा और शांतिमय जीवनयापन करें। हम प्रत्येक वस्तु को प्रतिक्षण उत्पन्न होती हुई और नष्ट होती हुई देखते हैं और साथ ही उस वस्तु के नित्यत्व का भी अनुभव करते हैं। अतएव प्रत्येक पदार्थ किसी अपेक्षा से नित्य और सत् तथा किसी अपेक्षा से अनित्य और असत् आदि अनेक धर्मों से युक्त है।

अनेकांतवाद सम्बन्धी इस प्रकार के विचार प्राय प्राचीन आगम ग्रन्थों में यत्र तत्र देखने में आते हैं। गौतम गणधर भगवान महावीर से पूछते हैं—आत्मा ज्ञान स्वरूप है अथवा अज्ञान स्वरूप? भगवान उत्तर देते हैं—आत्मा नियम से ज्ञान स्वरूप है क्योंकि ज्ञान के बिना आत्मा की वृत्ति नहीं देखी जाती है। परन्तु आत्मा ज्ञान रूप भी है और अज्ञान रूप भी—आया पुण सिय णाणे सिय अण्णाणे।[1] इसी तरह

---

१ सर्वनयानां जिनप्रवचनस्यैव निबन्धनत्वात्। किमस्य निबन्धनमिति चेत्। उच्यते निबन्धनं चास्य 'आया भन्ते नाणे अन्नाणे इति यो गौतमस्वामिना पृष्टो

9

स्याद्वाद साहित्य का विकास : ऐतिहासिक दृष्टि

अहिंसा और अनेकांत ये जैनधर्म के दो मूल सिद्धांत हैं। भगवान महावीर ने इन्हीं दो मूल सिद्धांतों पर अधिक बल दिया है। महावीर परम अहिंसक थे। वे शारीरिक अहिंसा के समान ही मानसिक अहिंसा-पालन पर भी जोर देते थे। उनका निश्चित मत था कि उपशम वृत्ति से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है, और यही वृत्ति मोक्ष का साधन है। मानसिक, वाचिक और कायिक इस त्रिविध अहिंसा की परिपूर्ण साधना और स्थायी प्रतिष्ठा वस्तु स्वरूप के यथार्थ दर्शन के बिना होना असंभव है। हम भले ही शरीर से दूसरे की हिंसा न करें किंतु वचन-व्यवहार और चित्तगत विचार यदि विषम और विसंवादी हैं तो कायिक अहिंसा का पालन कठिन है इसीलिये उनका उपदेश था कि प्रत्येक पुरुष भिन्न-भिन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार ही सत्य की प्राप्ति करता है, जिससे प्रत्येक दर्शन के सिद्धांत किसी अपेक्षा से सत्य हैं। जब तक इन मतवादों का वस्तुस्थिति के आधार से यथार्थ दर्शनपूर्वक समन्वय न होगा तब तक हिंसा और संघर्ष की जड़ नहीं कट सकती है। हमारा कर्तव्य तो यह होना चाहिये कि हम व्यर्थ के वाद-विवादों में न पड़कर अहिंसा और शांतिमय जीवनयापन करें। हम प्रत्येक वस्तु को प्रतिक्षण उत्पन्न होती हुई और नष्ट होती हुई देखते हैं और साथ ही उस वस्तु के नित्यत्व का भी अनुभव करते हैं। अतएव प्रत्येक पदार्थ किसी अपेक्षा से नित्य और सत् तथा किसी अपेक्षा से अनित्य और असत् आदि अनेक धर्मों से युक्त है।

अनेकांतवाद सम्बन्धी इस प्रकार के विचार प्राय प्राचीन आगम ग्रन्थों में यत्र तत्र देखने में आते हैं। गौतम गणधर भगवान महावीर से पूछते हैं—आत्मा ज्ञान स्वरूप है अथवा अज्ञान स्वरूप? भगवान उत्तर देते हैं—आत्मा नियम से ज्ञान स्वरूप है क्योंकि ज्ञान के बिना आत्मा की वृत्ति नहीं देखी जाती है। परन्तु आत्मा ज्ञान रूप भी है और अज्ञान रूप भी—आया पुण सिय णाणे सिय अण्णाणे।[1] इसी तरह

---

[1] सर्वनयानां जिनप्रवचनस्यैव निबन्धनत्वात्। किमस्य निबन्धनमिति चेत्। उच्यते निबन्धनं चास्य 'आया भन्ते नाणे अन्नाणे इति श्री गौतमस्वामिना पृष्टो

ज्ञाताधर्मकथा[1] और भगवती[2] में भी वस्तु को द्रव्य की अपेक्षा एक, ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा अनेक, किसी अपेक्षा से अस्ति, किसी से नास्ति और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य कहा गया है।

इस प्रकार प्राचीन आगमों में स्याद्वाद के सूचक त्रिपदी (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य) सिय अत्थि, सिय णत्थि, द्रव्य, गुण, पर्याय, नय आदि शब्दों का अनेक स्थानों पर उल्लेख पाया जाता है। किन्तु स्याद्वाद के सात भंगों का उल्लेख नहीं मिलता है। इसके बाद हम आगम ग्रन्थों पर लिखित निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य रूप जैन वाङ्मय की ओर आते हैं। आगम ग्रन्थों पर ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी में भद्रबाहु की इन निर्युक्तियों में भी आगमों के विचारों को विशेष रूप से प्रस्फुटित किया गया है।

जैनदर्शन में स्याद्वाद साहित्य का विकास

इसके पश्चात् जैन वाङ्मय को सर्वप्रथम संस्कृत भाषा का रूप देने वाले दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों द्वारा मान्य आचार्य उमास्वाति हुए हैं। इनका समय ई० सन प्रथम शताब्दी माना जाता है। भगवान महावीर के निर्वाण के बाद से लेकर इनके पूर्व तक जैन साहित्य की भाषा प्रायः प्राकृत रही। इस दीर्घ-काल के अधिकांश राजाओं के लेखों में भी इसी प्राकृत भाषा का प्रयोग मिलता है किन्तु धीरे-धीरे इस स्थिति में परिवर्तन हुआ। संस्कृत भाषा का एक नया रूप विकसित हुआ जिसे राजसभाओं, कवियों और पण्डितों की गोष्ठियों में स्थान मिला और उच्च वर्ग की प्रतिष्ठित भाषा का स्तर प्राप्त हुआ। बौद्ध और जैन विद्वानों ने भी इस साहित्यिक संस्कृत को अपनाकर अपने विशाल धार्मिक साहित्य से उसे समृद्ध बनाया। इस भव्य परम्परा का प्रारम्भ जैनसंघ में आचार्य उमास्वाति से हुआ। आपने लगभग ३५७ सूत्रों के 'तत्त्वार्थसूत्र' नामक अपने छोटे से ग्रन्थ में विशाल आगम साहित्य का सार बड़ी कुशलता से ग्रथित किया है। जिसमें अनेकान्तवाद और विशेष-कर नयवाद की चर्चा विस्तृत रूप में पायी जाती है। यहाँ अर्पित-अनर्पित,[3] प्रमाण-

---

व्याकरोति—'गोयमा णाणे णियमा' अतो ज्ञान नियमादात्मनि। ज्ञानस्यान्यव्यति-रेकेण वृत्त्यदर्शनात्। —नयचक्र (जैन साहित्य संशोधक १-४ पृ० १४६)

१ सुया एगे वि अहं दुवे वि अहं जाव अणेगभूयभावभविए वि अहं। से केणट्ठेणं भंते! एगे वि अहं जाव। सुया दव्वट्ठाए एगे अहं, नाणदंसणट्ठाए दुवे वि अहं पएसट्ठाए अक्खए वि अहं अव्वए वि अहं अवट्ठिए वि अहं उवओगट्ठाए अणेगभूयभावभविए वि अहं। —ज्ञातृधर्मकथा ५।४६

२ आया भंते! रयणप्पभा पुढवी अन्ना रयणप्पभा पुढवी? गोयमा, रयणप्पभा सिय आया सिय नो आया सिय अवत्तव्वं आया तिय नो आया तिय। —भगवती १२।१०

३ अर्पितानर्पित सिद्धेः। —तत्त्वार्थसूत्र ५।३१

नयों के भेद और उपभेदों[1] का वर्णन विस्तार से किया गया है। परन्तु यहाँ भी स्याद्वाद के स्यादस्ति आदि सात भंगो के नामो का उल्लेख नहीं मिलता है।

जैन साहित्य में स्यादस्ति आदि स्याद्वाद के सूचक सप्तभंगो के नाम सर्वप्रथम हमें आचार्य कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय और प्रवचनसार में देखने को मिलते हैं। परन्तु यहाँ भी स्याद्वाद के विषय मे विशेष चर्चा सुनाई नहीं देती है। यही कारण है कि उक्त ग्रंथो मे सप्त भंगो के केवल नाममात्र ही गिनाये गए हैं।

दक्षिण भारत के जैनसंघ मे असाधारण रूप से सम्मानित आचार्य कुन्द-कुन्द का मूल नाम पद्मनंदि था। कोण्डकुन्द यह उनके मूल स्थान का नाम था जो दक्षिण की परंपरा के अनुसार उनके नाम के रूप मे प्रचलित हुआ तथा संस्कृत मे यही नाम कुन्दकुन्द के रूप मे प्रसिद्ध हुआ। यह कोण्डकुन्द अब कोनकोण्डल कहलाता है तथा आंध्रप्रदेश के अनन्तपुर जिले में स्थित है। यहाँ कई जैन शिलालेख प्राप्त हुए हैं। इनके उपलब्ध ग्रंथो मे दसभक्ति अष्ट प्राभृत, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार और समयसार के नाम उल्लेखनीय हैं। इनकी सभी रचनायें शौरसेनी प्राकृत में हैं। दस भक्ति और अष्ट प्राभृत में आरम्भिक रचनायें मालूम पड़ती हैं। नियमसार में आध्यात्मिक दृष्टि से साधु जीवन के विविध अंगों का वर्णन किया गया है। पंचास्तिकाय मे १७३ गाथायें हैं। जिनमें छह द्रव्यों और नौ पदार्थों का विवरण मिलता है। प्रवचनसार मे ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र इन तीन अधिकारों (प्रकरणों) मे २७५ गाथायें हैं। सर्वज्ञ के दिव्य ज्ञान और उसके द्वारा उपदिष्ट द्रव्य स्वरूप का प्रभावी समर्थन इसमे प्राप्त होता है। समयसार में ४१५ गाथायें हैं जिनमें निश्चयनय और व्यवहारनय की विभिन्न दृष्टियों से आत्म-तत्त्व का विशद वर्णन किया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा किये गये स्याद्वाद सूचक सप्तभंगो के उल्लेख से यह ज्ञात पड़ता है कि इस समय जैन आचार्य अपने सिद्धान्तों पर होने वाले प्रतिपक्षियो के कर्कश तर्क प्रहारों से सतर्क हो गये थे और यहीं से स्याद्वाद का क्रमबद्ध विकास प्रारम्भ होता है। इस विकास का श्रेय आचार्य सिद्धसेन दिवाकर तथा स्वामी समन्तभद्र को है। इन दोनो आचार्यों से पूर्व जैनदर्शन मे तर्क द्वारा किसी स्वतन्त्र सिद्धान्त की स्थापना नहीं हुई थी। इन विद्वानो के पूर्व का युग विशेषत: आगम-प्रधान ही था, लेकिन गौतम के 'न्याय सूत्र' की रचना के पश्चात् जैसे-जैसे तर्क का प्रचार बढ़ने लगा, वैसे-वैसे जैन तथा बौद्ध विद्वानो ने अपने-अपने दर्शनो में तर्कपद्धति को स्थान देना प्रारम्भ किया। फलत: बौद्ध और जैन आचार्यो ने अपने अपने सिद्धान्तो के प्रतिपक्षियो के तर्क-प्रहारो से सुरक्षित रखने के लिये क्रमश: शून्यवाद और स्याद्वाद को एक सुनिश्चित तथा सुव्यवस्थित स्वरूप दिया।

१ प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारः।

वाचक उमास्वाति आदि अन्य आचार्यों के द्वारा जैन वाङ्मय में संस्कृत भाषा का प्रवेश होने के कई शताब्दी पहले ही यह भाषा बौद्ध साहित्य में अपना उच्च स्थान बना चुकी थी। जब बौद्धदर्शन में नागार्जुन, वसुबंधु, असंग तथा बौद्ध न्याय के पिता दिङ्नाग का युग आया तब दर्शनशास्त्रियों में इन बौद्ध दार्शनिकों के प्रबल तर्क प्रहारों से बेचैनी उत्पन्न हो रही थी। दर्शनशास्त्र के तार्किक अंश और परपक्ष खंडन का प्रारंभ हो चुका था। इस युग में जो धर्म संस्था प्रतिवादियों के आक्षेपों का निराकरण करके स्व-दर्शन की प्रभावना नहीं कर सकती थी उसका अस्तित्व ही खतरे में था। अतः पर-चक्र से रक्षा करने के लिये अपना दुर्ग स्वतः सुरक्षित बनाने का महत्त्वपूर्ण कार्य स्वामी समन्तभद्र और सिद्धसेन दिवाकर इन दो महान् आचार्यों ने किया।

स्वामी समन्तभद्र प्रसिद्ध स्तुतिकार थे। इन्होंने दर्शन, सिद्धान्त एवं न्याय संबंधी मान्यताओं को स्तुति काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

समन्तभद्र द्वारा लिखित निम्नलिखित रचनायें मानी जाती हैं—

(१) बृहद् स्वयंभूस्तोत्र, (२) स्तुतिविद्या अथवा जिनशतक, (३) देवागम स्तोत्र या आप्तमीमांसा, (४) युक्त्यनुशासन या वीरस्तुति (५) रत्नकरण्ड श्रावकाचार, (६) जीव सिद्धि, (७) तत्त्वानुशासन, (८) प्राकृत व्याकरण, (९) प्रमाण पदार्थ, (१०) कर्म प्राभृत टीका, (११) गन्धहस्ति महाभाष्य।

इनमें से कई रचनाएँ अनुपलब्ध हैं। उपलब्ध ग्रंथों को देखने से प्रतीत होता है कि समंतभद्र अत्यन्त प्रतिभाशाली और स्व-समय, पर-समय के ज्ञाता सारस्वत थे। उनकी कारिकाओं के अवलोकन से उनका विभिन्न दर्शनों का पांडित्य अभिव्यक्त होता है। उन्होंने देवागमस्तोत्र (आप्तमीमांसा) में आप्तविषयक मूल्यांकन में सर्वज्ञाभाववादी मीमांसक, भावैकान्तवादी सांख्य, एकांत पर्यायवादी बौद्ध तथा सर्वथा उभयवादी वैशेषिक का तर्कपूर्ण विवेचन करते हुए निराकरण किया है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव का सप्तभंगी न्याय द्वारा समर्थन कर वीरशासन की महत्ता प्रतिपादित की है। सर्वथा अद्वैतवाद, द्वैतवाद, कर्माद्वैत, फलाद्वैत-लोकाद्वैत, प्रभृति का निरसन कर अनेकातात्मकता सिद्ध की है। इनमें अनेकांतवाद का स्पष्ट स्वरूप विद्यमान है।

स्वामी समंतभद्र ने अपने ग्रंथों में जैनदर्शन के निम्नलिखित सिद्धांतों का निरूपण किया है—

(१) प्रमाण का स्वपराभास लक्षण।
(२) प्रमाण के क्रमभावी और अक्रमभावी भेदों की परिकल्पना।
(३) प्रमाण के साक्षात् और परंपरा फलों का निरूपण।
(४) प्रमाण का विषय।

(५) नय का स्वरूप।
(६) हेतु का स्वरूप।
(७) स्याद्वाद का स्वरूप।
(८) वाच्य का स्वरूप।
(९) वाचक का स्वरूप।
(१०) अवाच्य का वस्तुधर्मे निरूपण एवं मतान्तर कथन।
(११) तत्त्व का अनेकान्तरूप प्रतिपादन।
(१२) अनेकान्त का स्वरूप।
(१३) अनेकान्त में भी अनेकान्त की योजना।
(१४) जैनदर्शन में अवस्तु का स्वरूप।
(१५) 'स्यात्' निपात का स्वरूप।
(१६) अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि।
(१७) युक्तियों से स्याद्वाद की व्यवस्था।
(१८) आप्त का वास्तविक स्वरूप।
(१९) वस्तु-द्रव्य-प्रमेय का स्वरूप।

स्वामी समंतभद्र के समय के बारे में विद्वानों ने पर्याप्त ऊहापोह किया है और अंतिम निष्कर्ष के रूप में उनका समय ई० सन् की पहली या दूसरी शताब्दी माना जाता है।

समन्तभद्र की तरह कवि और दार्शनिक के रूप में आचार्य सिद्धसेन भी बहुत प्रसिद्ध हैं। समन्तभद्र द्वारा प्रवर्तित तर्कपूर्ण स्तुतियों की परम्परा में सिद्धसेन की द्वात्रिंशिकाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनकी भाषा साहित्यिक सुन्दरता और तर्क के प्रभावी प्रयोग से युक्त है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्परायें इन्हें अपना-अपना आचार्य मानती हैं। आचार्य जिनसेन ने अपने आदि पुराण में सिद्धसेन को कवि और वादिराजकेसरी दोनों कहा है।

सन्मतितर्क और न्यायावतार ये सिद्धसेन रचित दोनों ग्रंथ महत्त्वपूर्ण हैं। ये दोनों ग्रंथ तर्कशास्त्र की दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। सन्मतितर्क में १६६ प्राकृत गाथाओं में नय और अनेकांत का गंभीर, विशद और मौलिक विवेचन किया गया है। आचार्य ने नयों का सांगोपांग विवेचन करके जैन न्याय की सुदृढ़-पद्धति का प्रारम्भ किया है। कथन करने की प्रक्रिया को नय कहा गया है और विभिन्न दर्शनों का अन्तर्भाव विभिन्न नयों में किया है। न्यायावतार में ३२ संस्कृत श्लोकों में प्रमाणों का संक्षिप्त विवेचन है। जैनसाहित्य में प्रमाण विवेचन सर्वप्रथम इसी ग्रंथ में मिलता है। प्रमाण के स्वपरावभासक लक्षण में 'वाद-वर्जित' विशेषण देकर उसे विशेष समृद्ध किया। ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता का आधार मोक्ष मार्गोपयोगिता की जगह धर्मकीर्ति की तरह 'मेयविनिश्चय' को रखा। इससे यह प्रतिभा-

वाचक उमास्वाति आदि अन्य आचार्यों के द्वारा जैन वाङ्मय में संस्कृत भाषा का प्रवेश होने के कई शताब्दी पहले ही यह भाषा बौद्ध साहित्य में अपना उच्च स्थान बना चुकी थी। जब बौद्धदर्शन में नागार्जुन, वसुबंधु, असंग तथा बौद्ध न्याय के पिता दिङ्नाग का युग आया तब दर्शनशास्त्रियों में इन बौद्ध दार्शनिकों के प्रबल तर्क प्रहारों से बेचैनी उत्पन्न हो रही थी। दर्शनशास्त्र के तार्किक अंश और परपक्ष खंडन का प्रारंभ हो चुका था। इस युग में जो धर्म संस्था प्रतिवादियों के आक्षेपों का निराकरण करके स्व-दर्शन की प्रभावना नहीं कर सकती थी उसका अस्तित्व ही खतरे में था। अतः पर-चक्र से रक्षा करने के लिये अपना दुर्ग स्वतः सुरक्षित बनाने का महत्त्वपूर्ण कार्य स्वामी समंतभद्र और सिद्धसेन दिवाकर इन दो महान् आचार्यों ने किया।

स्वामी समंतभद्र प्रसिद्ध स्तुतिकार थे। इन्होंने दर्शन, सिद्धांत एवं न्याय संबंधी मान्यताओं को स्तुति काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

समंतभद्र द्वारा लिखित निम्नलिखित रचनायें मानी जाती हैं—

(१) वृहद् स्वयम्भूस्तोत्र, (२) स्तुतिविद्या अथवा जिनशतक, (३) देवागम स्तोत्र या आप्तमीमांसा, (४) युक्त्यनुशासन या वीरस्तुति (५) रत्नकरण्ड श्रावकाचार, (६) जीव सिद्धि, (७) तत्त्वानुशासन, (८) प्राकृत व्याकरण, (९) प्रमाण पदार्थ, (१०) कर्म प्राभृत टीका, (११) गन्धहस्ति महाभाष्य।

इनमें से कई रचनाएँ अनुपलब्ध हैं। उपलब्ध ग्रंथों को देखने से प्रतीत होता है कि समंतभद्र अत्यन्त प्रतिभाशाली और स्व-समय, पर-समय के ज्ञाता सारस्वत थे। उनकी कारिकाओं के अवलोकन से उनका विभिन्न दर्शनों का पांडित्य अभिव्यक्त होता है। उन्होंने देवागमस्तोत्र (आप्तमीमांसा) में आप्तविषयक मूल्यांकन में सर्वथाभाववादी मीमांसक, भावैकान्तवादी सांख्य, एकांत पर्यायवादी बौद्ध तथा सर्वथा उभयवादी वैशेषिक का तर्कपूर्ण विवेचन करते हुए निराकरण किया है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव का सप्तभंगी न्याय द्वारा समर्थन कर वीरशासन की महत्ता प्रतिपादित की है। सर्वथा अद्वैतवाद, द्वैतवाद, कर्माद्वैत, फलाद्वैत-लोकाद्वैत, प्रभृति का निरसन कर अनेकांतात्मकता सिद्ध की है। इनमें अनेकांतवाद का स्वस्थ स्वरूप विद्यमान है।

स्वामी समंतभद्र ने अपने ग्रंथों में जैनदर्शन के निम्नलिखित सिद्धांतों का निरूपण किया है—

(१) प्रमाण का स्वपराभास लक्षण।
(२) प्रमाण के क्रमभावी और अक्रमभावी भेदों की परिकल्पना।
(३) प्रमाण के साक्षात् और परंपरा फलों का निरूपण।
(४) प्रमाण का विषय।

(५) नय का स्वरूप।
(६) हेतु का स्वरूप।
(७) स्याद्वाद का स्वरूप।
(८) वाच्य का स्वरूप।
(९) वाचक का स्वरूप।
(१०) अभाव का वस्तुधर्म निरूपण एवं भावान्तर कथन।
(११) तत्त्व का अनेकांतरूप प्रतिपादन।
(१२) अनेकांत का स्वरूप।
(१३) अनेकांत में भी अनेकांत की योजना।
(१४) जैनदर्शन में अवस्तु का स्वरूप।
(१५) 'स्यात्' निपात का स्वरूप।
(१६) अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि।
(१७) युक्तियों से स्याद्वाद की व्यवस्था।
(१८) आप्त का तार्किक स्वरूप।
(१९) वस्तु-द्रव्य-प्रमेय का स्वरूप।

स्वामी समंतभद्र के समय के बारे में विद्वानों ने पर्याप्त ऊहापोह किया है और अंतिम निष्कर्ष के रूप में उनका समय ई० सन् की पहली या दूसरी शताब्दी माना जाता है।

समंतभद्र की तरह कवि और दार्शनिक के रूप में आचार्य सिद्धसेन भी बहुत प्रसिद्ध हैं। समंतभद्र द्वारा प्रवर्तित तर्कपूर्ण स्तुतियों की परम्परा में सिद्धसेन की द्वात्रिंशिकाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनकी भाषा साहित्यिक सुन्दरता और तर्क के प्रभावी प्रयोग से युक्त है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परंपरायें इन्हें अपना-अपना आचार्य मानती हैं। आचार्य जिनसेन ने अपने आदि पुराण में सिद्धसेन को कवि और वादिराजकेसरी दोनों कहा है।

सम्मतितर्क और न्यायावतार ये सिद्धसेन रचित दोनों ग्रंथ महत्त्वपूर्ण हैं। ये दोनों ग्रंथ तर्कशास्त्र की दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। सन्मतितर्क में १६६ प्राकृत गाथाओं में नय और अनेकांत का गंभीर, विशद और मौलिक विवेचन किया गया है। आचार्य ने नयों का सांगोपांग विवेचन करके जैन न्याय की सुदृढ़-पद्धति का प्रारम्भ किया है। कथन करने की प्रक्रिया को नय कहा गया है और विभिन्न दर्शनों का अन्तर्भाव विभिन्न नयों में किया है। न्यायावतार में ३२ संस्कृत श्लोकों में प्रमाणों का संक्षिप्त विवेचन है। जैनसाहित्य में प्रमाण विवेचन सर्वप्रथम इसी ग्रंथ में मिलता है। प्रमाण के स्वपरावभासक लक्षण में 'बाध-वर्जित' विशेषण देकर उसे विशेष समृद्ध किया। ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता का आधार मोक्ष मार्गोप-योगिता, न कि धर्मकीर्ति की तरह 'अर्थविनिश्चय' को रखा। इससे यह प्रतिभा-

मित होता है कि इन आचार्यों के युग में 'ज्ञान' दार्शनिक क्षेत्र में अपनी प्रमाणता बाह्यार्थ की प्राप्ति या मेयविनिश्चय से ही साबित कर सकता था। आचार्य सिद्धसेन ने न्यायावतार में प्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन भेद किये हैं तथा प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों के स्वार्थ और परार्थ भेद किये हैं। अनुमान और हेतु का लक्षण करके दृष्टान्त, दूषण आदि परार्थानुमान के समस्त परिकर का निरूपण किया है।

आचार्य सिद्धसेन के समय के संबंध में अनेक मान्यताएँ प्रचलित हैं। कोई इन्हें प्रथम शताब्दी का और कोई चतुर्थ शताब्दी का विद्वान समझते हैं। लेकिन अनेक अन्वेषकों ने इनका समय ई० की चौथी शताब्दी सिद्ध किया है।

चाहे सिद्धसेन और समन्तभद्र का समय एक न हो किन्तु इनके द्वारा रचित ग्रन्थों को देखने से यह धारणा पुष्ट होती है कि ये दोनों अद्भुत प्रतिभा के धनी मौलिक विद्वान थे। इन विद्वान आचार्यों ने जैन तर्कशास्त्र पर सन्मतितर्क, न्यायावतार, युक्त्यनुशासन, आप्तमीमांसा आदि अपने ग्रन्थों में जैनदर्शन के मूल स्याद्वाद सिद्धान्त का सांगोपांग परिपूर्ण बनाकर जैन सिद्धान्त को सबसे पहले सर्वदा के लिये अटल बनाया था। उपनिषदों के अद्वैतवाद का जो समन्वय आगम सूत्रों तथा दिगम्बरीय पंचास्तिकाय और प्रवचनसार नामक ग्रन्थों में दृष्टिगोचर नहीं होता था, वह इन प्रखर विद्वानों ने बहुत सुन्दर रूप में दार्शनिकों के समक्ष उपस्थित करके अपनी-अपनी अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया था।

सिद्धसेन और समन्तभद्र ने घट, मौलि, सुवर्ण, दुग्ध, दधि, अगोरस आदि अनेक प्रकार के दृष्टान्तों[1] से और नयों के सापेक्ष वर्णन से द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नयों में जैनेतर सम्पूर्ण दृष्टियों को अनेकान्त दृष्टि के अन्तर्गत प्रतिपादित[2] कर मिथ्यादर्शनों के समूह को जैनदर्शन बताते हुए[3] अपनी सर्व समन्वयात्मक उदार

---

१ घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्॥

—समन्तभद्र आप्तमीमांसा ५९, ६०

२ उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥

—सिद्धसेन — द्वा० द्वात्रिंशिका १५

३ भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स।

—सिद्धसेन — सन्मतितर्क ३।६९

भावना का परिचय दिया है। निस्सन्देह जो स्थान वैदिक साहित्य में शंकराचार्य और कुमारिलभट्ट को प्राप्त है तथा बौद्धदर्शन में सर्वप्रथम न्याय पद्धति को स्थान देने के लिये जो महत्त्व आचार्य दिङ्नाग को है, वही महत्त्व जैन साहित्य में उक्त दोनों विद्वान आचार्यों का है।

सिद्धसेन और समन्तभद्र के बाद जैन न्याय साहित्य के क्षितिज पर आचार्य मल्लवादी और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का प्रादुर्भाव हुआ। सिद्धसेन के समान ही मल्लवादी भी नयवाद के प्रमुख ज्ञाता के रूप में प्रसिद्ध थे। प्रभावक चरित, प्रबंध कोश और प्रबंध चिन्तामणि में इनका जीवनवृत्त वर्णित है। जिसके अनुसार इनका जन्म गुजरात की राजधानी वलभी में हुआ था। उस समय इनके मामा आचार्य जिनानन्द शास्त्रविवाद में एक बौद्ध आचार्य से पराजित हुए थे। इसके फलस्वरूप राजा शिलादित्य ने जैन-श्रमणों को निर्वासित कर दिया था तथा शत्रुंजय के प्रसिद्ध तीर्थ को भी बौद्धों के अधिकार में दे दिया था। बाल्यावस्था में ही जैन संघ की इस दुरवस्था को देखकर मल्लवादी क्षुब्ध हुए और दृढ़निश्चय से अध्ययन में संलग्न हुए। शीघ्र ही उन्होंने तर्कशास्त्र में अद्भुत निपुणता प्राप्त की और बौद्ध आचार्यों को राजा शिलादित्य की सभा में पराजित कर जैन संघ का खोया हुआ गौरव पुनः प्राप्त किया। इन्होंने अनेकान्तवाद का प्रतिपादन करने के लिये नयचक्र आदि ग्रंथों की रचना की। किसी समय नयचक्र बहुत प्रसिद्ध था, अब यह मूलरूप में नहीं मिलता है किन्तु सिंहसूरि द्वारा उस पर लिखी गई टीका प्रकाशित हो गई है। सन्मतिसूत्र की टीका भी इन्होंने लिखी थी किन्तु वह भी अप्राप्य है।

आगमों के व्याख्याकारों में भद्रबाहु के बाद जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने विशेषावश्यकभाष्य की रचना की। जो सन् ६०६ में पूर्ण हुई थी। आवश्यक सूत्र की इस व्याख्या में लगभग ३६०० गाथा हैं। ज्ञान, नय, निक्षेप, परमेष्ठी, गणधर आदि का विस्तृत विवेचन इसमें किया गया है। इन्होंने प्रायः सिद्धसेन दिवाकर की शैली का ही अनुसरण किया है। जिनभद्रगणि सैद्धान्तिक परम्परा के एक बड़े विद्वान माने जाते हैं।

यद्यपि वाचक उमास्वाति से लेकर जिनभद्रगणि के समय तक के युग में संस्कृत भाषा के अभ्यास और परमत-खण्डन की दृष्टि से स्वमतस्थापक ग्रन्थों की रचना की प्रवृत्ति अवश्य स्थिर हो चुकी थी और सिद्धसेन जैसे एकाध आचार्य ने जैन न्याय की व्यवस्था दर्शाने वाला एक-आध ग्रंथ भले ही रचा हो, किन्तु अब तक इस युग में जैन न्याय या प्रमाणशास्त्र की न तो पूरी व्यवस्था हुई जान पड़ती है और न तद्-विषयक तार्किक साहित्य का निर्माण देखा जाता है। इस युग के जैन तार्किकों की प्रवृत्ति की प्रधान दिशा प्रायः दार्शनिक क्षेत्र में एक ऐसे जैन मन्तव्य की स्थापना की ओर रही जिसके बीज आगमों में बिखरे हुए थे और जो मन्तव्य आगे जाकर भारतीय दर्शन-परम्परा में एकमात्र जैन-परम्परा के ही समझे जाने लगे तथा जिस मन्तव्य के

मे सम्पूर्ण दर्शनो का अनेकातवाद मे समन्वय करके उसके ऊपर कुछ कहना या लिखना साधारण कार्य नही था । परन्तु अकलक और हरिभद्रसूरि इस असाधारण कार्य को सम्पन्न करने मे अपनी अद्भुत क्षमता और प्रकाड पांडित्य से सफल हुए । इन्होंने स्यादवाद के एक-एक विषय को लेकर नाना प्रकार से ऊहापोहात्मक रूप सूक्ष्माति-सूक्ष्म विवेचन किया ।[1] इन्होंने गम्भीर तर्कपद्धति का अवलबन लेकर स्याद्वाद पर प्रतिवादियो द्वारा आरोपित दोषों का निराकरण करते हुए नाना दृष्टिबिन्दुओं से अनेकातवाद का जो विवेचन और समर्थन किया है, वह निश्चय ही जैनदर्शन के इतिहास में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करने की क्षमता रखता है ।

यद्यपि अनेक मुद्दो मे जैनदर्शन और बौद्धदर्शन समान तन्त्रीय थे, किन्तु क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि बौद्धवादों का दृष्टिकोण एका-न्तिक होने से दोनो मे स्पष्ट विरोध था । इसीलिए इनका प्रबल खडन अकलंक और हरिभद्र के ग्रन्थो मे पाया जाता है । इनके ग्रन्थों का बहुभाग बौद्धदर्शन के खंडन से भरा हुआ है । धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक और प्रमाणविनिश्चय आदि का खडन अकलक के सिद्धिविनिश्चय, न्याय विनिश्चय, प्रमाणसग्रह और अष्टशती आदि ग्रन्थों में किया गया है । हरिभद्र के शास्त्रवार्तासमुच्चय, अनेकान्तजयपताका और अनेकातवाद-प्रवेश आदि मे बौद्धदर्शन की प्रखर आलोचना है । यहां एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जहां वैदिक दर्शनो के ग्रन्थो मे अन्य मतों का मात्र खडन ही खंडन है, वहां जैनदर्शन के ग्रन्थो मे इतर मतों का नय और स्याद्वाद पद्धति से विशिष्ट समन्वय किया गया है । शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय और धर्म-सग्रहणी आदि ग्रन्थ इसके विशिष्ट उदाहरण हैं ।

जब धर्मकीर्ति के शिष्य देवेन्द्रमति, प्रभाकर गुप्त, कर्णकगोमी, शान्तरक्षित और अर्चट आदि अपने प्रमाणवार्तिक टीका, प्रमाणवार्तिकालंकार, प्रमाणवार्तिक स्ववृत्ति टीका, तत्त्वसग्रह, वादन्याय टीका और हेतुबिन्दु टीका आदि ग्रन्थ रच चुके थे तब इसी युग मे अनन्तवीर्य ने बौद्धदर्शन के खंडन में सिद्धिविनिश्चय टीका बनाई ।

इसके बाद ईसा की नौवी शताब्दी मे दर्शनशास्त्र के धुरीण तार्किक विद्वान विद्यानन्दि और माणिक्यनन्दि का युग आता है ।

आचार्य विद्यानन्दि और माणिक्यनन्दि दोनों गुरुबन्धु थे । इन दोनों के गु का नाम वर्धमान था जो तपस्या और उत्तमज्ञान के कारण प्रसिद्ध थे तथा गंगवंशी राजाओं के गुरु थे ।

आचार्य विद्यानन्द जैनतर्कशास्त्र के प्रौढ़ लेखकों में प्रसिद्ध हैं जिन्हें प्रमाण और दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना कर श्रुत परम्परा को गतिशील बनाय

---

१ तत्त्वार्थराजवार्तिक 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्र की व्याख्या ।

इनके भी ग्रन्थ ज्ञात हैं। तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या श्लोकवार्तिक का विस्तार १८,००० श्लोकों जितना है। अद्वैतवाद के विभिन्न रूपों का विस्तृत निरसन इसमें उपलब्ध होता है। अष्टसहस्री में विद्यानन्दि ने समन्तभद्र की आप्तमीमांसा का विस्तृत विवरण और समर्थन प्रस्तुत किया है। नाम के अनुसार इसका विस्तार आठ हजार श्लोकों जितना है। समन्तभद्र की दूसरी कृति युक्त्यनुशासन पर भी युक्त्यनुशासनालंकार नामक व्याख्या ग्रन्थ लिखा है।

उक्त तीन व्याख्या ग्रन्थों के अतिरिक्त आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्र-परीक्षा, सत्य-शासन, परीक्षा, श्रीपुरपार्श्वनाथ,स्तोत्र विद्यानन्द महोदय स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। आप्तपरीक्षा में जगत्कर्ता ईश्वर की मान्यता का खंडन विस्तार से प्राप्त होता है। प्रमाणपरीक्षा में प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान के विभिन्न प्रकारों का विवेचन है। पत्र-परीक्षा में वाद-विवादों में प्रयुक्त होने वाले पत्रों (गूढ श्लोकों) का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। सत्यशासन-परीक्षा में जैनेतर मतों के निरसन के साथ अनेकांतवाद का समर्थन है। श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र में भी विभिन्न मतों का संक्षिप्त खंडन किया गया है तथा विद्यानन्दिमहोदय में तर्कशास्त्र सम्बन्धी विविध विषयों पर विचार किया गया है, किन्तु अभी वह अप्राप्त है।

विद्यानन्दि ने नैयायिकों तथा बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन करके अनेक प्रकार से मार्मिक शैली द्वारा स्याद्वाद का प्रतिपादन और समर्थन किया। इन्होंने कुमारिल आदि वैदिक विद्वानों के जैनदर्शन पर होने वाले आक्षेपों का बड़ी योग्यता से परिहार किया, जो निश्चय ही उनके अपूर्व पाण्डित्य को प्रगट करता है।

माणिक्यनन्दि ने सर्वप्रथम जैनन्याय को परीक्षामुख के सूत्रों में गूंथकर अपनी अलौकिक प्रतिभा का परिचय दिया। यह ग्रन्थ प्रमाणों के मूलभूत ज्ञान के लिए बहुत उपयोगी है। अकलंक के गम्भीर और दुर्गम ग्रन्थों के विचार सरल सूत्र शैली में निबद्ध कर यह ग्रन्थ लिखा गया है। इस पर अनेक छोटी-बड़ी व्याख्याएँ भी प्राप्त होती हैं।

इन सब जैनाचार्यों की ग्रन्थ रचना से उत्तरवर्ती जैन संघ में न्याय और प्रमाण ग्रन्थों के संग्रह, परिशीलन और नये-नये ग्रन्थों के निर्माण का ऐसा युग आया कि समाज उसी को प्रतिष्ठित विद्वान समझने लगी जिसने संस्कृत भाषा में खासकर तर्क या प्रमाण पर मूल या टीका रूप से कुछ लिखा हो। परिणामतः ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में जैन न्यायशास्त्र का अच्छा विकास हुआ। यह जैन न्यायशास्त्र का मध्याह्न काल था, जिसमें सिद्धर्षि, प्रभाचन्द्र और अभयदेव जैसे महान तार्किक विद्वान हुए।

आचार्य सिद्धर्षि दुर्गस्वामी के शिष्य थे। इन्होंने उपमितिभवप्रपंचा नामक विस्तृत कथा ग्रन्थ की रचना की है और सिद्धसेन के न्यायावतार पर टीका ग्रन्थ लिखकर अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया है।

में सम्पूर्ण दर्शनों का अनेकांतवाद में समन्वय करके उसके ऊपर कुछ कहना या लिखना साधारण कार्य नहीं था। परन्तु अकलंक और हरिभद्रसूरि इस असाधारण कार्य को सम्पन्न करने में अपनी अद्भुत क्षमता और प्रकांड पांडित्य से सफल हुए। इन्होंने स्याद्वाद के एक-एक विषय को लेकर नाना प्रकार से ऊहापोहात्मक रूप सूक्ष्माति-सूक्ष्म विवेचन किया।[१] इन्होंने गम्भीर तर्कपद्धति का अवलम्बन लेकर स्याद्वाद पर प्रतिवादियों द्वारा आरोपित दोषों का निराकरण करते हुए नाना दृष्टिबिन्दुओं से अनेकांतवाद का जो विवेचन और समर्थन किया है, वह निश्चय ही जैनदर्शन के इतिहास में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करने की क्षमता रखता है।

यद्यपि अनेक मुद्दों में जैनदर्शन और बौद्धदर्शन समान तन्त्रीय थे, किन्तु क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि बौद्धवादों का दृष्टिकोण एकान्तिक होने से दोनों में स्पष्ट विरोध था। इसीलिए इनका प्रबल खंडन अकलंक और हरिभद्र के ग्रन्थों में पाया जाता है। इनके ग्रन्थों का बहुभाग बौद्धदर्शन के खंडन से भरा हुआ है। धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक और प्रमाणविनिश्चय आदि का खंडन अकलंक के सिद्धिविनिश्चय, न्याय विनिश्चय, प्रमाणसंग्रह और अष्टशती आदि ग्रन्थों में किया गया है। हरिभद्र के शास्त्रवार्तासमुच्चय, अनेकान्तजयपताका और अनेकान्तवाद-प्रवेश आदि में बौद्धदर्शन की प्रखर आलोचना है। यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जहाँ वैदिक दर्शनों के ग्रन्थों में अन्य मतों का मात्र खंडन ही खंडन है, वहाँ जैनदर्शन के ग्रन्थों में इतर मतों का नय और स्याद्वाद पद्धति से विशिष्ट समन्वय किया गया है। शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय और धर्मसंग्रहणी आदि ग्रन्थ इसके विशिष्ट उदाहरण हैं।

जब धर्मकीर्ति के शिष्य देवेन्द्रमति, प्रज्ञाकर गुप्त, कर्णकगोमी, शान्तरक्षित और अर्चट आदि अपने प्रमाणवार्तिक टीका, प्रमाणवार्तिकालंकार, प्रमाणवार्तिक स्ववृत्ति टीका, तत्त्वसंग्रह, वादन्याय टीका और हेतुबिन्दु टीका आदि ग्रन्थ रच चुके थे तब इसी युग में अनन्तवीर्य ने बौद्धदर्शन के खंडन में सिद्धिविनिश्चय टीका बनाई।

इसके बाद ईसा की नवीं शताब्दी में दर्शनशास्त्र के तृतीय तार्किक विद्वान् विद्यानन्दि और माणिक्यनन्दि का युग आता है।

आचार्य विद्यानन्दि और माणिक्यनन्दि दोनों [illegible] थे। इन दोनों के पूर्व [illegible] न्यायशास्त्र और [illegible] के कारण प्रसिद्ध थे तथा [illegible] के [illegible] थे।

आचार्य विद्यानन्द जैनदर्शनशास्त्र के प्रौढ़ लेखकों में प्रसिद्ध हैं जिन्होंने प्रबन्ध और [illegible] ग्रन्थों की रचना का [illegible] को [illegible] बनाया।

---

१ [illegible] 'विद्यानन्द' सूत्र की व्याख्या।

इनके भी ग्रन्थ ज्ञात हैं। तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या श्लोकवार्तिक का विस्तार १८,००० श्लोकों जितना है। अद्वैतवाद के विभिन्न रूपों का विस्तृत निरसन इसमें उपलब्ध होता है। अष्टसहस्री में विद्यानन्दि ने समन्तभद्र की आप्तमीमांसा का विस्तृत विवरण और समर्थन प्रस्तुत किया है। नाम के अनुसार इसका विस्तार आठ हजार श्लोकों जितना है। समन्तभद्र की दूसरी कृति युक्त्यनुशासन पर भी युक्त्यनुशासनालंकार नामक व्याख्या ग्रन्थ लिखा है।

उक्त तीन व्याख्या ग्रन्थों के अतिरिक्त आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्र-परीक्षा, सत्य-शासन, परीक्षा, श्रीपुरपार्श्वनाथ-स्तोत्र विद्यानन्द महोदय स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। आप्तपरीक्षा में जगत्कर्ता ईश्वर की मान्यता का खंडन विस्तार से प्राप्त होता है। प्रमाणपरीक्षा में प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान के विभिन्न प्रकारों का विवेचन है। पत्र-परीक्षा में वाद-विवादों में प्रयुक्त होने वाले पत्रों (कूट श्लोकों) का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। सत्यशासन-परीक्षा में जैनेतर मतों के निरसन के साथ अनेकांतवाद का समर्थन है। श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र में भी विभिन्न मतों का संक्षिप्त खंडन किया गया है तथा विद्यानन्दिमहोदय में तर्कशास्त्र सम्बन्धी विविध विषयों पर विचार किया गया है, किन्तु अभी वह अप्राप्य है।

विद्यानन्दि ने नैयायिकों तथा बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन करके अनेक प्रकार से तार्किक शैली द्वारा स्याद्वाद का प्रतिपादन और समर्थन किया। इन्होंने कुमारिल आदि वैदिक विद्वानों के जैनदर्शन पर होने वाले आक्षेपों का बड़ी योग्यता से परिहार किया, जो निश्चय ही उनके अपूर्व पाण्डित्य को प्रगट करता है।

माणिक्यनन्दि ने सर्वप्रथम जैनन्याय को परीक्षामुख के सूत्रों में गूंथकर अपनी अलौकिक प्रतिभा का परिचय दिया। यह ग्रन्थ प्रमाणों के मूलभूत ज्ञान के लिए बहुत उपयोगी है। अकलंक के गम्भीर और दुर्गम ग्रन्थों के विचार सरल सूत्र शैली में निबद्ध कर यह ग्रन्थ लिखा गया है। इस पर अनेक छोटी-बड़ी व्याख्याएँ भी प्राप्त होती हैं।

इन सब जैनाचार्यों की ग्रन्थ रचना से उत्तरवर्ती जैन संघ में न्याय और प्रमाण ग्रन्थों के संग्रह, परिशीलन और नये-नये ग्रन्थों के निर्माण का ऐसा युग आया कि समाज उसी को प्रतिष्ठित विद्वान समझने लगी जिसने संस्कृत भाषा में खासकर तर्क या प्रमाण पर मूल या टीका रूप से कुछ लिखा हो। परिणामतः ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में जैन न्यायशास्त्र का अच्छा विकास हुआ। यह जैन न्यायशास्त्र का मध्याह्न काल था, जिसमें सिद्धर्षि, प्रभाचन्द्र और अभयदेव जैसे महान तार्किक विद्वान हुए।

आचार्य सिद्धर्षि दुर्गस्वामी के शिष्य थे। इन्होंने उपमितिभवप्रपंचा नामक विस्तृत कथा ग्रन्थ की रचना की है और सिद्धसेन के न्यायावतार पर टीका ग्रन्थ लिखकर अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया है।

में सम्पूर्ण दर्शनों का अनेकांतवाद में समन्वय करके उसके ऊपर कुछ कहना या लिखना साधारण कार्य नहीं था। परन्तु अकलंक और हरिभद्रसूरि इस असाधारण कार्य को सम्पन्न करने में अपनी अद्भुत क्षमता और प्रकांड पांडित्य से सफल हुए। इन्होंने स्यादवाद के एक-एक विषय को लेकर नाना प्रकार से ऊहापोहात्मक रूप सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया।[१] इन्होंने गम्भीर तर्कपद्धति का अवलंबन लेकर स्याद्वाद पर प्रतिवादियों द्वारा आरोपित दोषों का निराकरण करते हुए नाना दृष्टिबिन्दुओं से अनेकांतवाद का जो विवेचन और समर्थन किया है, वह निश्चय ही जैनदर्शन के इतिहास में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करने की क्षमता रखता है।

यद्यपि अनेक मुद्दों में जैनदर्शन और बौद्धदर्शन समान तन्त्रीय थे, किन्तु क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि बौद्धवादों का दृष्टिकोण एकान्तिक होने से दोनों में स्पष्ट विरोध था। इसीलिए इनका प्रबल खंडन अकलंक और हरिभद्र के ग्रन्थों में पाया जाता है। इनके ग्रन्थों का बहुभाग बौद्धदर्शन के खंडन से भरा हुआ है। धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक और प्रमाणविनिश्चय आदि का खंडन अकलंक के सिद्धिविनिश्चय, न्याय विनिश्चय, प्रमाणसंग्रह और अष्टशती आदि ग्रन्थों में किया गया है। हरिभद्र के शास्त्रवार्तासमुच्चय, अनेकान्तजयपताका और अनेकांतवाद-प्रवेश आदि में बौद्धदर्शन की प्रखर आलोचना है। यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जहाँ वैदिक दर्शनों के ग्रन्थों में अन्य मतों का मात्र खंडन-ही-खंडन है, वहाँ जैनदर्शन के ग्रन्थों में इतर मतों का नय और स्याद्वाद पद्धति से विशिष्ट समन्वय किया गया है। शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय और धर्म संग्रहणी आदि ग्रन्थ इसके विशिष्ट उदाहरण हैं।

जब धर्मकीर्ति के शिष्य देवेन्द्रमति, प्रभाकर गुप्त, कर्णकगोमी, शान्तरक्षित और अर्चट आदि अपने प्रमाणवार्तिक टीका, प्रमाणवार्तिकालंकार, प्रमाणवार्तिक स्ववृत्ति टीका, तत्त्वसंग्रह, वादन्याय टीका और हेतुबिन्दु टीका आदि ग्रन्थ रच चुके थे तब इसी युग में अनन्तवीर्य ने बौद्धदर्शन के खंडन में सिद्धिविनिश्चय टीका बनाई।

इसके बाद ईसा की नौवीं शताब्दी में दर्शनशास्त्र के धुरीण तार्किक विद्वान विद्यानन्दि और माणिक्यनन्दि का युग आता है।

आचार्य विद्यानन्दि और माणिक्यनन्दि दोनों गुरुबन्धु थे। इन दोनों के गुरु का नाम वर्धमान था जो तपस्या और उत्तमज्ञान के कारण प्रसिद्ध थे तथा गंगवंश के राजाओं के गुरु थे।

आचार्य विद्यानन्द जैनतर्कशास्त्र के प्रौढ़ लेखकों में प्रसिद्ध हैं जिन्होंने प्रमाण और दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना कर श्रुत परम्परा को गतिशील बनाया।

---

१ तत्त्वार्थराजवार्तिक 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्र की व्याख्या।

इनके नौ ग्रन्थ ज्ञात हैं। तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या श्लोकवार्तिक का विस्तार १८,००० श्लोकों जितना है। अद्वैतवाद के विभिन्न रूपों का विस्तृत निरसन इसमें उपलब्ध होता है। अष्टसहस्री में विद्यानन्दि ने समन्तभद्र की आप्तमीमांसा का विस्तृत विवरण और समर्थन प्रस्तुत किया है। नाम के अनुसार इसका विस्तार आठ हजार श्लोकों जितना है। समन्तभद्र की दूसरी कृति युक्त्यनुशासन पर भी युक्त्यनुशासनालंकार नामक व्याख्या ग्रन्थ लिखा है।

उक्त तीन व्याख्या ग्रन्थों के अतिरिक्त आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्र-परीक्षा, सत्य-शासन, परीक्षा, श्रीपुरपार्श्वनाथ,स्तोत्र विद्यानन्द महोदय स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। आप्तपरीक्षा मे जगत्कर्ता ईश्वर की मान्यता का खंडन विस्तार से प्राप्त होता है। प्रमाणपरीक्षा में प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान के विभिन्न प्रकारों का विवेचन है। पत्र-परीक्षा मे वाद-विवादों में प्रयुक्त होने वाले पत्रों (कूट श्लोकों) का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। सत्यशासन-परीक्षा में जैनेतर मतों के निरसन के साथ अनेकांतवाद का समर्थन है। श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र में भी विभिन्न मतों का संक्षिप्त खंडन किया गया है तथा विद्यानन्दिमहोदय में तर्कशास्त्र सम्बन्धी विविध विषयों पर विचार किया गया है, किन्तु अभी यह अप्राप्त है।

विद्यानन्दि ने नैयायिकों तथा बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन करके अनेक प्रकार से तार्किक शैली द्वारा स्याद्वाद का प्रतिपादन और समर्थन किया। इन्होंने कुमारिल आदि वैदिक विद्वानों के जैनदर्शन पर होने वाले आक्षेपों का बड़ी योग्यता से परिहार किया, जो निश्चय ही उनके अपूर्व पांडित्य को प्रगट करता है।

माणिक्यनन्दि ने सर्वप्रथम जैनन्याय को परीक्षामुख के सूत्रों में गूंथकर अपनी अलौकिक प्रतिभा का परिचय दिया। यह ग्रन्थ प्रमाणो के मूलभूत ज्ञान के लिए बहुत उपयोगी है। अकलक के गम्भीर और दुर्गम ग्रन्थो के विचार सरल सूत्र शैली में निबद्ध कर यह ग्रन्थ लिखा गया है। इस पर अनेक छोटी-बड़ी व्याख्याएँ भी प्राप्त होती हैं।

इन सब जैनाचार्यों की ग्रन्थ रचना से उत्तरवर्ती जैन सघ में न्याय और प्रमाण ग्रन्थों के संग्रह; परिशीलन और नये-नये ग्रन्थों के निर्माण का ऐसा युग आया कि समाज उसी को प्रतिष्ठित विद्वान समझने लगी जिसने सस्कृत भाषा में खासकर तर्क या प्रमाण पर मूल या टीका रूप से कुछ लिखा हो। परिणामतः ईसा की दसवीं-ग्यारहवी शताब्दी में जैन न्यायशास्त्र का अच्छा विकास हुआ। यह जैन न्यायशास्त्र का मध्याह्न काल था, जिसमें सिद्धर्षि, प्रभाचन्द्र और अभयदेव जैसे महान तार्किक विद्वान हुए।

आचार्य सिद्धर्षि दुर्गस्वामी के शिष्य थे। इन्होंने उपमितिभवप्रपंचा नामक विस्तृत कथा ग्रन्थ की रचना की है और सिद्धसेन के न्यायावतार पर टीका ग्रन्थ लिखकर अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया है।

में सम्पूर्ण दर्शनों का अनेकांतवाद में समन्वय करके उसके ऊपर कुछ कहना या लिखना साधारण कार्य नहीं था। परन्तु अकलंक और हरिभद्रसूरि इस असाधारण कार्य को सम्पन्न करने में अपनी अद्भुत क्षमता और प्रकाण्ड पांडित्य से सफल हुए। इन्होंने स्याद्वाद के एक-एक विषय को लेकर नाना प्रकार से ऊहापोहात्मक रूप सूक्ष्माति-सूक्ष्म विवेचन किया।[1] इन्होंने गम्भीर तर्कपद्धति का अवलम्बन लेकर स्याद्वाद पर प्रतिवादियों द्वारा आरोपित दोषों का निराकरण करते हुए नाना दृष्टिबिन्दुओं से अनेकांतवाद का जो विवेचन और समर्थन किया है, वह निश्चय ही जैनदर्शन के इतिहास में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करने की क्षमता रखता है।

यद्यपि अनेक मुद्दों में जैनदर्शन और बौद्धदर्शन समान तन्त्रीय थे, किन्तु क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि बौद्धवादों का दृष्टिकोण एकान्तिक होने से दोनों में स्पष्ट विरोध था। इसीलिए इनका प्रबल खंडन अकलंक और हरिभद्र के ग्रन्थों में पाया जाता है। इनके ग्रन्थों का बहुभाग बौद्धदर्शन के खंडन से भरा हुआ है। धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक और प्रमाणविनिश्चय आदि का खंडन अकलंक के सिद्धिविनिश्चय, न्याय विनिश्चय, प्रमाणसंग्रह और अष्टशती आदि ग्रन्थों में किया गया है। हरिभद्र के शास्त्रवार्तासमुच्चय, अनेकान्तजयपताका और अनेकांतवाद-प्रवेश आदि में बौद्धदर्शन की प्रखर आलोचना है। यहां एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जहां वैदिक दर्शनों के ग्रन्थों में अन्य मतों का मात्र खंडन-ही-खंडन है, वहां जैनदर्शन के ग्रन्थों में इतर मतों का नय और स्याद्वाद पद्धति से विशिष्ट समन्वय किया गया है। शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय और धर्म संग्रहणी आदि ग्रन्थ इसके विशिष्ट उदाहरण हैं।

जब धर्मकीर्ति के शिष्य देवेन्द्रमति, प्रभाकर गुप्त, कर्णकगोमी, शान्तरक्षित और अर्चट आदि अपने प्रमाणवार्तिक टीका, प्रमाणवार्तिकालंकार, प्रमाणवार्तिक स्ववृत्ति टीका, तत्त्वसंग्रह, वादन्याय टीका और हेतुबिन्दु टीका आदि ग्रन्थ रच चुके थे तब इसी युग में अनन्तवीर्य ने बौद्धदर्शन के खंडन में सिद्धिविनिश्चय टीका बनाई।

इसके बाद ईसा की नौवीं शताब्दी में दर्शनशास्त्र के धुरीण तार्किक विद्वान विद्यानन्दि और माणिक्यनन्दि का युग आता है।

आचार्य विद्यानन्दि और माणिक्यनन्दि दोनों गुरुबन्धु थे। इन दोनों के गुरु का नाम वर्धमान था जो तपस्या और उत्तमज्ञान के कारण प्रसिद्ध थे तथा गंगवंश के राजाओं के गुरु थे।

आचार्य विद्यानन्द जैनतर्कशास्त्र के प्रौढ़ लेखकों में प्रसिद्ध हैं जिन्होंने प्रमाण और दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना कर श्रुत परम्परा को गतिशील बनाया।

---

१ तत्त्वार्थराजवार्तिक 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्र की व्याख्या।

इनके नौ ग्रन्थ ज्ञात हैं। तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या श्लोकवार्तिक का विस्तार १८,००० श्लोकों जितना है। अद्वैतवाद के विभिन्न रूपों का विस्तृत निरसन इसमें उपलब्ध होता है। अष्टसहस्री में विद्यानन्दि ने समन्तभद्र की आप्तमीमांसा का विस्तृत विवरण और समर्थन प्रस्तुत किया है। नाम के अनुसार इसका विस्तार आठ हजार श्लोकों जितना है। समन्तभद्र की दूसरी कृति युक्त्यनुशासन पर भी युक्त्यनुशासनालंकार नामक व्याख्या ग्रन्थ लिखा है।

उक्त तीन व्याख्या ग्रन्थों के अतिरिक्त आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्र-परीक्षा, सत्य-शासन, परीक्षा, श्रीपुरपार्श्वनाथ,स्तोत्र विद्यानन्द महोदय स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। आप्तपरीक्षा में जगत्कर्ता ईश्वर की मान्यता का खंडन विस्तार से प्राप्त होता है। प्रमाणपरीक्षा में प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान के विभिन्न प्रकारों का विवेचन है। पत्र-परीक्षा में वाद-विवादों में प्रयुक्त होने वाले पत्रों (कूट श्लोकों) का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। सत्यशासन-परीक्षा में जैनेतर मतों के निरसन के साथ अनेकांतवाद का समर्थन है। श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र में भी विभिन्न मतों का संक्षिप्त खंडन किया गया है तथा विद्यानन्दिमहोदय में तर्कशास्त्र सम्बन्धी विविध विषयों पर विचार किया गया है, किन्तु अभी यह अप्राप्त है।

विद्यानन्दि ने नैयायिकों तथा बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन करके अनेक प्रकार से तार्किक शैली द्वारा स्याद्‌वाद का प्रतिपादन और समर्थन किया। इन्होंने कुमारिल आदि वैदिक विद्वानों के जैनदर्शन पर होने वाले आक्षेपों का बड़ी योग्यता से परिहार किया, जो निश्चय ही उनके अपूर्व पाहित्य को प्रगट करता है।

माणिक्यनन्दि ने सर्वप्रथम जैनन्याय को परीक्षामुख के सूत्रों में गूँथकर अपनी अलौकिक प्रतिभा का परिचय दिया। यह ग्रन्थ प्रमाणो के मूलभूत ज्ञान के लिए बहुत उपयोगी है। अकलंक के गम्भीर और दुर्गम ग्रन्थों के विचार सरल सूत्र शैली में निबद्ध कर यह ग्रन्थ लिखा गया है। इस पर अनेक छोटी-बड़ी व्याख्याएँ भी प्राप्त होती हैं।

इन सब जैनाचार्यों की ग्रन्थ रचना से उत्तरवर्ती जैन संघ में न्याय और प्रमाण ग्रन्थों के संग्रह, परिशीलन और नये-नये ग्रन्थों के निर्माण का ऐसा युग आया कि समाज उसी को प्रतिष्ठित विद्वान समझने लगी जिसने संस्कृत भाषा में खासकर तर्क या प्रमाण पर मूल या टीका रूप से कुछ लिखा हो। परिणामतः ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में जैन न्यायशास्त्र का अच्छा विकास हुआ। यह जैन न्यायशास्त्र का मध्याह्न काल था, जिसमें सिद्धर्षि, प्रभाचन्द्र और अभयदेव जैसे महान तार्किक विद्वान हुए।

आचार्य सिद्धर्षि दुर्गस्वामी के शिष्य थे। इन्होंने उपमितिभवप्रपंचा नामक विस्तृत कथा ग्रन्थ की रचना की है और सिद्धसेन के न्यायावतार पर टीका ग्रन्थ लिखकर अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया है।

धारा नगर के महाराज भोजदेव के समय में विद्यमान विद्वान मंडल में प्रभाचन्द्र का विशिष्ट स्थान था। उनकी बहुमुखी प्रतिभा के प्रमाण चार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के रूप में उपलब्ध हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड जो माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख की व्याख्या है। इसका विस्तार १२००० श्लोकों जितना है। इस व्याख्या में प्रमाणों के विषयों के रूप में, विश्व के स्वरूप के बारे में विविध वाद विषयों की सूक्ष्म चर्चा की गई है। इसी प्रकार न्यायकुमुदचन्द्र अकलंक के लघीयस्त्रय की व्याख्या है। इसमें भी मूल ग्रन्थ के प्रमाण विषयों के साथ प्रमेय विषयों का विस्तृत विवेचन है। ग्रन्थ का विस्तार १६००० श्लोक प्रमाण है। शब्दाम्भोजभास्कर जैनेन्द्र व्याकरण की विस्तृत व्याख्या है तथा गद्य कथाकोष कथा ग्रन्थ है।

अभयदेव चन्द्रकुल के प्रद्युम्नसूरि के शिष्य थे। इनके शिष्य धनेश्वर राजा मुंज की सभा में सम्मानित हुए थे। इनकी परम्परा को राजगच्छ नाम मिला था। सिद्धसेन के सन्मतितर्क पर अभयदेव ने वादमहार्णव नामक टीका लिखी, जिसका विस्तार २५००० श्लोक प्रमाण है। अब तक के जैन संस्कृत ग्रन्थों में वादमहार्णव सबसे बड़ा ग्रन्थ था। इसमें आत्मा, ईश्वर, सर्वज्ञ, मुक्ति, वेदप्रामाण्य आदि विविध विषयों का तर्कदृष्टि से विस्तृत परीक्षण किया गया है।

सिद्धर्षि आदि उक्त तीनों विद्वान् आचार्यों ने सौत्रान्तिक, वैभाषिक, विज्ञानवाद, शून्यवाद, ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत आदि बौद्ध और वैदिक वादों का समन्वय करके स्याद्वाद का नैयायिक पद्धति से प्रतिपादन किया है, जो उनके ग्रन्थों के यथास्थान अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है।

इसके पश्चात् हम बारहवीं शताब्दी की ओर आते हैं। इसे जैनदर्शन का मध्याह्नोत्तरकाल समझना चाहिए। वादिदेवसूरि और आचार्य हेमचन्द्र का नाम इस युग के प्रमुख आचार्यों में है।

देवसूरि प्रसिद्ध वादी थे अतः वादी देवसूरि इसी रूप में उनका नाम विख्यात हुआ। इनका जन्म सन् १०८७ में हुआ था तथा नौ वर्ष की अवस्था में बृहद्गच्छ के यशोभद्र के शिष्य मुनिचन्द्र के शिष्य बने थे। आपका कार्यक्षेत्र गुजरात रहा। इन्होंने स्याद्वाद का स्पष्ट विवेचन करने के लिए प्रमाणनयतत्त्वालोक नामक जैन न्याय का सूत्र ग्रन्थ लिखा और उस पर स्याद्वादरत्नाकर नामक बृहत्काय टीका की रचना की, जिसमें अपने समय तक के सभी जैन दार्शनिकों के विचारों का दोहन करके समर्पण कर दिया। साथ ही अपनी जानकारी के अनुसार ब्राह्मण और बौद्ध दर्शनों की मान्यताओं व मन्तव्यों की विस्तृत चर्चा भी की। जिससे यह ग्रन्थ रत्नाकर जैसा समग्र मन्तव्य रत्नों का आकर बन गया, जो तत्त्वज्ञान के साथ-साथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़े महत्त्व का है।

प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिए इसका संक्षेप स्याद्वादरत्नाकरावतारिका नाम से इनके शिष्य रत्नप्रभ ने किया है।

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य भी अपने समय के असाधारण पुरुष हैं। उनके कृतित्व से जैन संघ कृतज्ञता अनुभव करने के साथ साथ अपने आपको गौरवशाली अनुभव करता है। जैन न्याय, व्याकरण, काव्य आदि साहित्य के सभी अंगों को आपने पल्लवित करके अनेक नई देनें दी हैं। इन्होंने अन्ययोगव्यवच्छेदिका, अयोगव्यवच्छेदिका, प्रमाणमीमांसा आदि ग्रन्थों की रचना करके जैनदर्शन के सिद्धान्तों को विकासोन्मुखी बनाया है। अन्ययोगव्यवच्छेदिका के ३२ श्लोकों में चार्वाक, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, योगाचार, माध्यमिक आदि दर्शनों का हृदयग्राही सुन्दर वाणी में जो समन्वय किया है वह अवश्य ही अपने ढंग का अनोखा और अभूतपूर्व है।

इनके अतिरिक्त शान्तिसूरि का जैनतर्कवार्तिक, जिनेश्वरसूरि का प्रमालक्ष्म, अनन्तवीर्य की प्रमेयरत्नमाला, चन्द्रप्रभसूरि का प्रमेयरत्नकोश, चन्द्रसूरि का अनेकान्त जयपताका का टिप्पण आदि ग्रन्थ भी इसी युग की कृतियां हैं।

इसके पश्चात् तेरहवीं, चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी में जैनदर्शन के जो समर्थ व्याख्याकार और ग्रन्थ लेखक हुए हैं उन्होंने स्याद्वाद के विभिन्न अंगों की विशद रूप से विवेचना की है। इनमें आचार्य मलयगिरि एक समर्थ टीकाकार हुए हैं। इसी युग में मल्लिषेण की स्याद्वादमंजरी, चन्द्रसेन की उत्पादादिसिद्धि, रामचन्द्र गुणचन्द्र का द्रव्यालंकार, सोमतिलक की षड्दर्शन समुच्चय टीका, गुणरत्न की षड्दर्शन समुच्चय बृहद्वृत्ति, राजशेखर की स्याद्वादकलिका आदि, भावसेन त्रैविद्यदेव का विश्वतत्त्व प्रकाश, धर्मभूषण की न्यायदीपिका आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे गये हैं।

अभी तक के आचार्यों की लेखन-शैली प्राचीन न्याय प्रणाली का अनुसरण करती रही थी। किन्तु विक्रम की तेरहवीं सदी में गंगेश उपाध्याय ने नव्य न्याय की नींव डाली और प्रमाण प्रमेयों को अवच्छेदकावच्छिन्न की भाषा में जकड़ दिया। जैन विद्वानों ने भी अपने ग्रन्थों में इसका अनुसरण किया। जिनमें सत्तरहवीं-अठारहवीं शताब्दी के प्रमुख विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजी और पण्डित विमलदासजी के नाम उल्लेखनीय हैं। उपाध्यायजी जैन-परम्परा में बहुमुखी प्रतिभा के धारक असाधारण विद्वान थे। इन्होंने योग, साहित्य, प्राचीन न्याय आदि का गम्भीर पांडित्य प्राप्त करने के साथ नव्य-न्याय की परिष्कृत शैली में खण्डन-खण्डखाद्य आदि अनेक ग्रंथों का निर्माण किया और उस युग तक के विचारों का समन्वय तथा उन्हें नव्य शैली से परिष्कृत करने का आद्य और महान प्रयत्न किया। स्याद्वाद के द्वारा अभूतपूर्व ढंग से सम्पूर्ण दर्शनों का समन्वय करके स्याद्वाद को 'सार्वतान्त्रिक'[1] सिद्ध करता उपा-

---

१ नयाना भिन्नभिन्नार्थनयभेदव्यपेक्षया ।
प्रतिक्षिपेयुर्नो वेदा स्याद्वादं सार्वतान्त्रिकम् ॥ —अध्यात्मसार ५१

ध्यायजी की प्रतिभा का सूचक है। उन्होंने शास्त्रवार्तासमुच्चय की स्याद्वाद कल्पलताटीका, नयोपदेश, नयरहस्य, नयप्रदीप, न्यायखण्डनखाद्य, न्यायालोक, अष्टसहस्री टीका आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की।

पण्डित विमलदासजी ने नव्य न्याय का अनुकरण करने वाली भाषा में सप्तभंगीतरंगिणी नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की संक्षिप्त और सरल भाषा में रचना करके एक महान अभाव की पूर्ति की है।

इस प्रकार अनेक विद्वद्शिरोमणि आचार्यों ने ग्रन्थ लिखकर जैनदर्शन के विकास में जो भागीरथ प्रयत्न किये हैं उनकी यहाँ तक झलक मात्र प्रस्तुत की गई है।

यह स्याद्वाद साहित्य के विकास का इतिहास भारतीय दर्शन साहित्य के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यह विकास जैनाचार्यों के प्रकांड पांडित्य के साथ-साथ उनकी अलौकिक क्षमता तथा सर्वकल्याण की मंगलमयी दृष्टि को प्रगट करता है। भारतीय दार्शनिक क्षेत्र में जो-जो नवीन धारायें विशेष विकास को प्राप्त होती गईं उन सबको जैनाचार्यों ने अपने दर्शन में स्थान देकर नयात्मक दृष्टि से सत्य सिद्ध करने के साथ उनका स्तर निर्धारित करने का प्रयत्न किया है जो उनके सर्वतोभद्र औदार्यभाव को व्यक्त करता है। 'सत्य एक है, उसके रूप अनेक हैं भिन्न-भिन्न व्यक्ति, भिन्न-भिन्न देश-काल के अनुसार सत्य के एक अंश को ही ग्रहण कर सकते हैं, अतएव परस्पर विरोधी दिखाई देती हुई भी वे सभी दृष्टियाँ सत्य हैं,' जैन विद्वानों का यह मन्तव्य अवश्य ही विशाल उदार और गम्भीर है।

पाश्चात्य साहित्य में स्याद्वाद

वैदिक, बौद्ध आदि भारतीय दार्शनिकों की तरह पाश्चात्य दर्शनों के सस्थापकों ने भी स्याद्वाद सिद्धांतों को अपने अनुभवों से सिद्ध करके अपने साहित्य में एक सुव्यवस्थित तथा सुनिश्चित रूप दिया है, जिसका यहाँ संक्षेप में दिग्दर्शन कराते हैं।

ग्रीक दर्शन में एलिअटिक्स और हेरेक्लिट्स नामक विचारकों के बाद ईसा से ४६५ वर्ष पूर्व एम्पीडोक्लीज, एटोमिस्ट्स और अनैक्सागोरस नामक दार्शनिकों का युग था। इन तत्ववेत्ताओं ने एलिअटिक्स के एकान्त नित्यवाद और हेरेक्लिट्स के एकांत क्षणिकवाद का समन्वय करके दोनों सिद्धांतों को नित्यानित्य के रूप में ही स्वीकार किया। इनके मतानुसार सर्वथा क्षणिकवाद असम्भव है और इसी तरह सर्वथा नित्यवाद भी, किन्तु साथ ही साथ वस्तु परिवर्तनशील भी अवश्य है। इन विद्वानों ने अनुभव द्वारा नित्यत्व दशा में रहते हुए भी पदार्थों का परिवर्तन देखकर 'आपेक्षिक परिवर्तन' के सिद्धांत को स्वीकार किया है।[1]

इसके पश्चात् हम ग्रीस के प्रतिभाशाली कवि और दार्शनिक विद्वान् प्लेटो के विचारों की ओर आते हैं। सोफिस्ट नामक संवाद में एलिआ का मुसाफिर कहता

1. Thilly : History of Philosophy, p. 32.

है—जब हम 'असत्' के विषय में कुछ कहते हैं तो इसका मतलब 'सत्' के विरुद्ध (सर्वथा असत्) न होकर केवल 'सत्' से भिन्न होता है।[1] इसी प्रकार 'एथिन्स का मुसाफिर' संवाद के एक-दूसरे स्थान पर भी प्लेटो अपने पात्र के माध्यम से अपने विचारों को प्रकट करते हुए लिखते हैं —

"उदाहरण के लिये हम एक ही मनुष्य को उसके रंग, रूप, परिमाण, गुण, दोष आदि की अपेक्षा से देखते हैं। अतएव हम 'यह मनुष्य ही है' यह न कह कर 'यह भला है' इत्यादि नाना दृष्टिबिन्दुओं से व्यवहार में प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु जिसको हम प्रारम्भ में एक समझते हैं, अनेक तरह से अनेक नामों द्वारा वर्णन की जा सकती है।'

पश्चिम के आधुनिक दर्शन में भी इस प्रकार के विचारों की कमी नहीं है। उदाहरण के रूप में जर्मनी के प्रख्यात दार्शनिक हीगेल का कथन है कि 'विरुद्ध-धर्मात्मकता ही सब वस्तुओं का मूल है। किसी वस्तु का ठीक-ठीक वर्णन करने के लिये हमें उस वस्तु सम्बन्धी सम्पूर्ण सत्य कहने के साथ उस वस्तु के विरुद्ध-धर्मों का किस प्रकार समन्वय हो सकता है, यह भी प्रतिपादन करना चाहिये।[2]

इसके पश्चात् हम नवे विज्ञानवाद के प्रतिपादक ब्रैडले के विचारों पर दृष्टि-पात करें। इस दार्शनिक का कहना है कि 'कोई भी वस्तु दूसरी वस्तुओं से तुलनात्मक दृष्टि से देखी जाने पर किसी अपेक्षा से आवश्यक और किसी अपेक्षा से अनावश्यक दोनों ही सिद्ध होती है। अतएव संसार में कोई भी पदार्थ नगण्य अथवा अकिंचित्कर नहीं है। प्रत्येक तुच्छ से तुच्छ विचार में और छोटी से छोटी सत्ता में सत्यता विद्यमान है।'[3]

आधुनिक दार्शनिक विद्वान् प्रो० जे० जोकिम भी अपनी 'सत्य का स्वरूप' नामक प्रसिद्ध पुस्तक में इसी प्रकार के विचार प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि 'कोई भी विचार स्वतः ही दूसरे विचार से सर्वथा अनपेक्षित होकर केवल अपनी अपेक्षा से सत्य नहीं कहा जा सकता है। उदाहरण के लिये तीन से तीन गुणा करने पर नौ होता है (३×३=९); यह सिद्धान्त एक बालक के लिये सर्वथा निष्प्रयोजन है, परन्तु इसे पढ़कर एक गणितज्ञ के सामने गणित शास्त्र के विज्ञान का सारा नक्शा आ जाता है।' इसी प्रकार दूसरे तत्ववेत्ता प्रोफेसर पेरी के अनुसार 'यह विश्व किसी अपेक्षा से नित्य है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि इसमें परिवर्तन नहीं होता। यही सिद्धान्त संसार की छोटी से छोटी वस्तुओं के लिये भी लागू है। यह ब्रह्माण्ड नाना दृष्टिबिन्दुओं से देखा जा सकता है। किसी एक वस्तु के सिद्ध को जानकर हम उसके विषय में सम्पूर्ण सत्य जानने का दावा नहीं कर सकते हैं।'

---

१ Dialogues of Plato

२ Thilly : History of Philosophy, p. 467

३ Appearance and Reality, p. 487

इसी तरह के विचार नैयायिक जोसफ, एडमण्ड होम्स प्रभृति विद्वानों ने भी प्रगट किये हैं।

अमेरिका के प्रसिद्ध मानसशास्त्र के विद्वान प्रो० विलियम जेम्स ने भी अपेक्षावाद से समानता रखने वाले विचारों को व्यक्त किया हैं। वे कहते हैं कि 'हमारी अनेक दुनिया हैं। साधारण मनुष्य इन सब दुनियाओं को एक-दूसरे से असंबद्ध तथा अनपेक्षित दशा में देखता है। पूर्ण तत्त्ववेत्ता वही है जो संपूर्ण दुनियाओं को एक-दूसरे से संबद्ध और अपेक्षित रूप में जानता है।'

इस प्रकार जैन दार्शनिकों की तरह विश्व के समस्त पौर्वात्य और पाश्चात्य दर्शनों के संस्थापकों ने भी स्याद्वाद को अपने चिन्तन, मनन और आचार-व्यवहार के द्वारा सिद्ध करके किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है और अपने अनुभवों को स्थायी रूप देने के लिये साहित्य का अंग बना दिया। यह स्थिति हमें कलिकाल-सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य के निम्नलिखित भावों का स्मरण करने के लिए प्रेरित करती है—

'आदीपमाव्योमसमस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।'

दीपक से लेकर आकाश पर्यन्त छोटे-बड़े सभी पदार्थ स्याद्वाद की मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं।

10
स्याद्वाद की लोकमंगल दृष्टि

मानवीय विचित्र वृत्ति

'सत्य क्या है ?' यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर हजारों-लाखों वर्षों से विचार होता आया है। इस प्रश्न पर विचार करने वाला कौन है ? मनुष्य। इस भूमंडल पर जहाँ भी मनुष्य है और उसका चिंतन है, विचार शक्ति है, इस प्रश्न की चर्चा मुखर है। मानव जाति निरंतर सत्य की खोज करती रही है, सत्य को जानने के लिये उत्सुक रही है। प्रयत्न अतीत, वर्तमान या अनागत की समयरेखा द्वारा विभाजित नहीं है, अपितु अबाधगति से धारा-प्रवाह रूप से गतिमान है, उनमें एक क्षण मात्र का भी व्यवधान नहीं पड़ा है और न पड़ेगा।

आज भी सत्य का जिज्ञासु एक ऐसे चौराहे पर खड़ा है, जहाँ सभी प्रकार के आचार, विचार, बोली, देश वाले व्यक्तियों के आने-जाने का तांता लगा हुआ है। वहाँ आने वाले प्रत्येक व्यक्ति से वह एक ही प्रश्न पूछता है—सत्य क्या है ? और हर एक आदमी अलग अलग उत्तर देता हुआ आगे बढ़ जाता है। एक कहता है कि सत्य पूर्व में है तो दूसरा कहता है कि नहीं, सत्य पश्चिम में है। कोई कुछ और कोई कुछ कहकर अपने दायित्व का निर्वाह कर रहा है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति सत्य को अपनी दृष्टि से परखता है और जिस दृष्टि से देखता है, जिस रूप में देखता है, उसे ही सत्य मानने लगता है। परिणामतः उसके लिये झगड़ने लग जाता है कि 'नहीं, नहीं तुम सब झूठे हो, गुमराह हो, सत्य को नहीं पहचानते हो, अपनी बकवास बंद करो। सत्य तो मेरे पास है, आओ मैं तुम्हें सत्य को दिखाता हूँ।' इसका अर्थ यह हुआ कि सत्य बाजार में बिकने वाली वस्तु है और वह कीमत देकर खरीदी जा सकती है, अथवा सत्य का भी नीलाम हो रहा है और उसे किसी ने ऊँची बोली लगाकर खरीद लिया है। विश्व में उसके सिवाय सत्य किसी के पास है ही नहीं।

मानव की यह कितनी विचित्र मनोवृत्ति है कि वह जो कहता है, वही सत्य है। जो वह जानता है, वही सत्य है। वास्तव में मानव की इस मान्यता में सत्य दृष्टि नहीं, बल्कि उसका अहंकार छिपा हुआ है। किसी को बुद्धि का अहंकार है तो किसी को धन का और किसी को प्रतिष्ठा का। परिणामतः उसने अपने अहंकार को ही सत्य

10
स्याद्वाद की लोकमंगल दृष्टि

मानवीय विचित्र वृत्ति

'सत्य क्या है ?' यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर हजारों-लाखों वर्षों से विचार होता आया है। इस प्रश्न पर विचार करने वाला कौन है ? मनुष्य। इस भूमंडल पर जहाँ भी मनुष्य है और उसका चिन्तन है, विचार शक्ति है, इस प्रश्न की चर्चा मुखर है। *मानव जाति निरन्तर सत्य की खोज करती रही है, सत्य को जानने के* लिये उत्सुक रही है। प्रश्न अतीत, वर्तमान या अनागत की समयरेखा द्वारा *विभाजित नहीं है, अपितु अनादिकाल से* धारा-प्रवाह रूप से गतिमान है, उसमें एक क्षण मात्र का भी व्यवधान नहीं पड़ा है और न पड़ेगा।

आज भी सत्य का जिज्ञासु एक ऐसे चौराहे पर खड़ा है, जहाँ सभी प्रकार के आचार, विचार, बोली, वेश वाले व्यक्तियों के आने-जाने का तांता लगा हुआ है। वहाँ आने जाने प्रत्येक व्यक्ति से वह एक ही प्रश्न पूछता है—सत्य क्या है ? और हर एक *आदमी अलग अलग उत्तर देता हुआ आगे बढ़ जाता है। एक कहता है कि* सत्य पूर्व में है, तो दूसरा कहता है कि नहीं, सत्य पश्चिम में है। कोई कुछ और कोई कुछ कहकर अपने दायित्व का निर्वाह कर रहा है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति सत्य को अपनी दृष्टि से परखता है और जिस दृष्टि से देखता है, जिस रूप में देखता है, उसे ही सत्य मानने लगता है। परिणामतः उसके लिये झगड़ने लग जाता है कि *'नहीं, नहीं तुम सब झूठे हो, गुमराह हो, सत्य को नहीं पहचानते हो*, अपनी बकवास बंद करो। सत्य तो मेरे पास है, आओ मैं तुम्हें सत्य को दिखाता हूँ।' इसका अर्थ यह हुआ कि सत्य बाजार में बिकने वाली वस्तु है और वह कीमत देकर खरीदी जा सकती है, अथवा सत्य का भी नीलाम हो रहा है और उसे किसी ने ऊँची बोली लगाकर खरीद लिया है। विश्व में उसके सिवाय सत्य किसी के पास है *ही नहीं।*

मानव की यह कितनी विचित्र मनोवृत्ति है कि वह जो कहता है, वही सत्य है। जो वह जानता है, वही सत्य है। वास्तव में मानव की इस मान्यता में सत्य दृष्टि नहीं, बल्कि उसका अहंकार छिपा हुआ है। किसी को बुद्धि का अहंकार है तो किसी को धन का और किसी को प्रतिष्ठा का। परिणामतः उसने अपने अहंकार को ही सत्य

ये सम्प्रदाय और उप-सम्प्रदाय अच्छे हैं या बुरे और इनके योगदान के लाभ-अलाभ का यहाँ विचार नहीं करना है। लेकिन इतना स्पष्ट है कि इन सम्प्रदायों ने धर्म को विवाद का केन्द्रबिन्दु बना दिया। इस विवाद को दूर करने का एक ही उपाय है कि आग्रह से एक कदम नीचे आ जायें। जब एकान्तिक दृष्टिकोण, विवाद और आग्रह नहीं होगा तभी भिन्नता में समन्वय के सूत्र परिलक्षित हो सकते हैं।

स्याद्वाद ने यही काम किया है। उसने आग्रह को एक कदम नीचे ला दिया। उसने विभिन्न सम्प्रदायों की समाप्ति का प्रयास नहीं किया किन्तु समन्वय के सूत्र में बाँधकर सुन्दर बना दिया। साधना पद्धतियों में यह अच्छी है या यह बुरी का निर्णय न देकर वैयक्तिक रुचि, क्षमता, देशकाल की विभिन्नता को ध्यान में रखकर यही कहा कि—

> पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
> युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥[1]

मुझे न तो महावीर के प्रति पक्षपात है और न कपिलादि मुनिगणों के प्रति द्वेष। लेकिन यह आकांक्षा है कि जो भी वचन युक्ति-युक्त हो उसे ग्रहण करूँ।

तो स्याद्वाद ने व्यक्ति को उस असीम उच्च धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया, जहाँ वह अपने स्व और विचारों की कसौटी करे। वह बाबावाक्यं प्रमाणम् अथवा महाजनो येन गतः स पन्थाः या लकीर का फकीर न बनकर अपना निर्णायक स्वयं बने। आस्था और आत्म-विश्वास के आलोक में जो कुछ भी युक्तियुक्त और हेयोपादेय के विवेक से समन्वित हो, ग्रहण कर ले। इस स्थिति में विवाद को अवकाश ही नहीं रहेगा। स्याद्वाद के उक्त सूत्र का प्रयोग जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में किया जा सकता है।

स्याद्वाद का दूसरा उपयोग वैचारिक सहिष्णुता के लिए हो सकता है। एक ही प्रकार की जीवन प्रणाली, एक ही प्रकार की आचार-विचार की साधना-पद्धति न तो व्यवहार्य है और न सम्भव ही। यह तो संघर्ष का कारण बनेगी। विश्व इतिहास में अनेक राजक्रान्तियाँ हुईं, जिनका उद्देश्य एक प्रकार की राजव्यवस्था, समाज-व्यवस्था स्थापित करना रहा है किन्तु कुछ समय बाद उनके विरुद्ध भी प्रति-क्रान्तियाँ हुईं और इस प्रकार क्रान्तियों का सिलसिला चलता रहा। एक संस्कृति ने बलात् अपने को दूसरी संस्कृति पर लादा। एक राजा अथवा सम्राट ने अपने विचारों को जबरदस्ती जनता पर आरोपित किया। परिणामस्वरूप विप्लव और विद्रोह होते रहे और जन-जीवन पीड़ित होता रहा। यही स्थिति मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देखी जा सकती है।

---

१ षड्दर्शन

ये सम्प्रदाय और उप-सम्प्रदाय अच्छे हैं या बुरे और इनके योगदान के लाभ-अलाभ का यहाँ विचार नहीं करना है। लेकिन इतना स्पष्ट है कि इन सम्प्रदायों ने धर्म को विवाद का केन्द्रबिन्दु बना दिया। इस विवाद को दूर करने का एक ही उपाय है कि आग्रह से एक कदम नीचे आ जायें। जब एकांगिक दृष्टिकोण, विवाद और आग्रह नहीं होगा तभी भिन्नता में समन्वय के सूत्र परिलक्षित हो सकते हैं।

स्याद्वाद ने यही काम किया है। उसने आग्रह को एक कदम नीचे ला दिया। उसने विभिन्न सम्प्रदायों की समाप्ति का प्रयास नहीं किया किन्तु समन्वय के सूत्र में बाँधकर सुन्दर बना दिया। साधना पद्धतियों में यह अच्छी है या यह बुरी का निर्णय न देकर वैयक्तिक रुचि, क्षमता, देशकाल की विभिन्नता को ध्यान में रखकर यही कहा कि—

> पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
> युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥[1]

मुझे न तो महावीर के प्रति पक्षपात है और न कपिलादि मुनिगणों के प्रति द्वेष। लेकिन यह आकांक्षा है कि जो भी वचन युक्ति-युक्त हो उसे ग्रहण करूँ।

तो स्याद्वाद ने व्यक्ति को उस असीम उन्मुक्त धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया, जहाँ वह अपने स्व और विचारों की कसौटी करे। वह बाबावाक्यं प्रमाणम् अथवा महाजनो येन गतः स पन्थाः या लकीर का फकीर न बनकर अपना निर्णायक स्वयं बने। आस्था और आत्म-विश्वास के आलोक में जो कुछ भी युक्तियुक्त और हेयोपादेय के विवेक से समन्वित हो, ग्रहण कर ले। इस स्थिति में विवाद को अवकाश ही नहीं रहेगा। स्याद्वाद के उक्त सूत्र का प्रयोग जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में किया जा सकता है।

स्याद्वाद का दूसरा उपयोग वैचारिक सहिष्णुता के लिए हो सकता है। एक ही प्रकार की जीवन प्रणाली, एक ही प्रकार की आचार-विचार की साधना-पद्धति न तो व्यवहार्य है और न सम्भव ही। यह तो संघर्ष का कारण बनेगी। विश्व इतिहास में अनेक राजक्रान्तियाँ हुईं, जिनका उद्देश्य एक प्रकार की राजव्यवस्था, समाज-व्यवस्था स्थापित करना रहा है किन्तु कुछ समय बाद उनके विरुद्ध भी प्रति-क्रान्तियाँ हुईं और इस प्रकार क्रान्तियों का सिलसिला चलता रहा। एक संस्कृति ने बलात् अपने को दूसरी संस्कृति पर लादा। एक राजा अथवा सम्राट ने अपने विचारों को जबरदस्ती जनता पर आरोपित किया। परिणामस्वरूप विप्लव और विद्रोह होते रहे और जन-जीवन पीड़ित होता रहा। यही स्थिति मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देखी जा सकती है।

---

१ षड्दर्शन समुच्चय टीका।

मानवीय वृत्तियों की विभिन्नता का उन्मूलन नहीं किया जा सकता है, केवल उन वृत्तियों का मार्गान्तरीकरण हो सकता है। इसके लिए आवश्यक होती है वैचारिक सहिष्णुता। विश्व का महान शक्तिशाली अन्यतम व्यक्ति भी सभी प्राणियों की रुचि को शक्ति, भय और प्रलोभन से एक नहीं कर सकता है, न ही सभी को एक ही मार्ग का अनुगामी और न अधार्मिक जनों को धार्मिक बना सकता है। ऐसी स्थिति में तो यही संभव है—

> योऽपि न सहते हितमुपदेशं तदुपरि मा कुरु कोपं रे !
> निष्फलया किं परजनतप्त्या कुरुषे निज सुखलोपं रे ॥[१]

जो तुम्हारी हितकारी शिक्षा को नहीं सुनता, उस पर कोप मत करो, उसे भला-बुरा मत कहो। व्यर्थ में दूसरे पर कोप करने से स्वयं अपने सुख व शान्ति को भंग करोगे। सदाचरण से तो करने वाले को ही लाभ होगा। यह वृत्ति तभी उत्पन्न हो सकती है जब मन में माध्यस्थ वृत्ति उत्पन्न हो जाये और माध्यस्थ वृत्ति की जननी है वैचारिक सहिष्णुता। वैचारिक सहिष्णुता तभी संभव है जब अनेकांतदृष्टि, स्याद्-वाद-वृत्ति का आश्रय लिया जायेगा। इसीलिए उपाध्याय श्री यशोविजय जी ने वैचारिक सहिष्णुता के लिए स्याद्वाद के अवलम्बन की आवश्यकता की ओर संकेत करते हुए कहा है—

> यस्य सर्वत्र समतानयेषु तनयेष्विव।
> तस्यानेकान्तवादस्य क्वन्यूनाधिक शेमुषी॥
> तेन स्याद्वादमालंब्य सर्वदर्शनतुल्यतां।
> मोक्षोद्देशाविशेषेण यः पश्यति स शास्त्रवित्॥
> माध्यस्थमेव शास्त्रार्थो येन तच्चारु सिद्ध्यति।
> स एव धर्मवादः स्यादन्यद्बालिशवल्गनम्॥
> माध्यस्थसहितं ह्येकपदज्ञानमपि प्रमा।
> शास्त्रकोटिर्वृथैवान्या तथा चोक्तं महात्मना॥[२]

सच्चा अनेकांतवादी किसी दर्शन पर द्वेष नहीं करता है। वह संपूर्ण नय रूप दर्शनों को इस प्रकार की वात्सल्यदृष्टि से देखता है जिस प्रकार कोई पिता अपने पुत्रों को देखता है। क्योंकि अनेकान्तवादी की न्यूनाधिक बुद्धि नहीं होती है। वास्तव में सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जाने का वही अधिकारी है जो स्याद्वाद का अवलंबन लेकर संपूर्ण दर्शनों में समानता का भाव रखता है। माध्यस्थभाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है, यही धर्मवाद है। माध्यस्थभाव रहने पर शास्त्र के एक पद का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा करोड़ों शास्त्रों के पढ़ जाने से भी कोई लाभ नहीं है।

---

१ शान्तसुधारस भावना १६

२ अध्यात्मसार, ६९-७२

उक्त कथन का सारांश यह है कि स्याद्वाद आत्मा में समन्वयोग का इतना व्यापक विस्तार कर देता है कि स्व-पर का भेद ही नहीं रहता है। समन्वयोगी के स्वरूप को कबीर के शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है—

लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल ।
लाली देखन जो चली मैं भी हो गई लाल ॥

इसी कारण स्याद्वाद का उपासक जिस दृष्टिकोण को देखता है या विचार को सुनता है, या चिन्तन की शैली को परखता है, उसमें अपने ही किसी न किसी अंश को पाता है। विभिन्न दिखने वाले अंश भी स्वयं उसके चिंतन के किसी न किसी आयाम में मेल खाते हैं। अतः वह उनका विरोध करे तो करे कैसे ? वे विभिन्न प्रतीत होने वाले विचार भी तो उसकी समग्र चिंतन काया के ही तो अंग हैं। अगर उनको निरस्कृत कर दिया तो वह स्वयं समन्वयोगी न होकर विषमता का विश्वामित्र हो जायेगा। इसीलिये स्याद्वादी सहिष्णु होता है। वह रागद्वेष रूप आत्मा से विकारों पर विजय प्राप्त करने के लिये सतत प्रयत्नशील रहता है। दूसरों के विचारों को सुनता है, सिद्धांतों का सम्मान करता है और अपने विचारों के साथ सामंजस्य के आधार का अन्वेषण करता है एवं माध्यस्थभाव से संपूर्ण विरोधों का समन्वय करता है।

जैनाचार्यों ने उक्त कथन को अपने कृतित्व द्वारा भी अभिव्यक्त किया है। सिद्धसेन दिवाकर जैसे प्रकाण्ड मनीषी जैनाचार्यों ने जैनदर्शन के कोषागार की श्रीवृद्धि में अपनी मनीषा का ही अर्घ्य अर्पित नहीं किया अपितु वेद, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, बौद्ध आदि दर्शनों पर भी द्वात्रिंशिकाओं की रचना की तथा महान् जैन दार्शनिक हरिभद्रसूरि ने षड्दर्शनसमुच्चय जैसे वृहद् ग्रंथ में षड्दर्शनों की यथातथ्य विवेचना करके इसी उदारवृत्ति का परिचय दिया है। इतना ही नहीं मल्लवादी, राजशेखर, पं० आशाधर, उपाध्याय यशोविजयजी आदि अनेक जैनविद्वानों ने उस युग में वैदिक और बौद्ध ग्रंथों पर टीका टिप्पणियाँ लिखीं। वह काल स्व-पक्ष मंडन और येन-केन प्रकारेण परपक्ष के खंडन, प्रताड़न का माना जाता था। किन्तु जैनाचार्यों की अन्तर्दृष्टि में 'अथ निज परोवा' की निकृष्ट भावना नहीं थी। वे तो गुणग्राही, समन्वयशील एवं उदारहृदय के साकाररूप थे। इसीलिये वे अपने बौद्धिक प्रागल्भ्य को विशेषकर अन्य दर्शनों को भी विकासोन्मुखी बनाने हेतु विनियोजन करने में सक्षम हो सके।

उक्त कथन का आशय यह हुआ कि पर के प्रति माध्यस्थ भाव रखने, सहिष्णुता प्रदर्शित करने के लिये स्याद्वाद का अवलम्बन आवश्यक है। विचारों की अभिव्यक्ति एक प्रशंसनीय कार्य है लेकिन 'ही' के साथ वह आग्रह, विग्रह का रूप ले लेती है और 'भी' के रहने पर माध्यस्थ्यरूपता। इस 'भी' का नाम अनेकांत दृष्टि—स्याद्वाद है, जो सत्य के किसी न किसी एक अंश को उद्घाटित करता है।

माता-पिता पुत्र-पुत्री सास-बहू आदि के समूह का नाम परिवार है। इन सबका मिल-जुलकर रहने के सिवाय परिवार का अपना अन्य कोई अस्तित्व नहीं है। लेकिन इन सदस्यों में भी संघर्ष हो जाता है, जिसका कारण है विचार-भिन्नता। संघर्ष के केन्द्रबिन्दु बनते हैं पिता-पुत्र, सास-बहू। पिता अपने अनुभवों के आधार पर पुत्र का जीवन-निर्माण करना चाहता है और पुत्र अपनी तर्कबुद्धि को मुख्य मानकर पिता के अनुभवों की उपेक्षा करता है। पिता की दृष्टि अनुभव-प्रधान होती है और अपनी मान्यताओं को पुत्र से मनवाना चाहता है। पिता प्राचीन संस्कारों की रक्षा करना चाहता है तो पुत्र उन्हें सर्वथा समाप्त करना उपयुक्त समझता है। यही बात सास और बहू के दृष्टिकोण की है। सास यह अपेक्षा करती है कि बहू वैसा ही जीवन व्यतीत करे जैसा कि उसने स्वयं बहू के रूप में बिताया है और बहू अपने मातृपक्ष के संस्कारों और स्वतन्त्रता वाला व्यवहार करना चाहती है। इसी प्रकार से परिवार के अन्य-अन्य सदस्यों के अपने-अपने दृष्टिकोण होते हैं जो विवाद का कारण बन जाते हैं। इन विवादों के समाधान का एक ही उपाय है कि जब तक सहिष्णु दृष्टि से एक-दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयास नहीं किया जाये तब तक संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता है। हम दूसरे के सम्बन्ध में कोई विचार करें और निर्णय लें, उससे पहले स्वयं उस स्थिति में खड़े हों। दूसरे की भूमिका में स्वयं को खड़ा करके ही उसके बारे में सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है। पिता और सास, पुत्र एवं बहू से जिस बात की अपेक्षा करते हैं, उसमें पहले अपने को उनकी भूमिका पर लाकर टटोल लें और पुत्र व बहू पिता व सास के अनुभवों का अनुसरण करने में भलाई का अनुभव कर लें तो संघर्ष का अवसर नहीं आयेगा। सह-अस्तित्व का यही आधार है। अनेकांतवाद यही तो कहता है कि दो मतों के बीच एक ऐसा सेतु बनाओ जिससे परस्पर विरुद्ध एक-दूसरे से भिन्न दिखने वाले भी अपना-अपना अस्तित्व पृथक्-पृथक् रखकर परस्पर सहयोगी बन जायें।

उक्त पारिवारिक स्थिति की तरह दार्शनिक क्षेत्र भी है। प्रत्येक दार्शनिक भिन्न-भिन्न देश और काल की परिस्थिति के अनुसार सत्य के केवल उस अंश को ग्रहण करता है, जो उसके समक्ष प्रतीत हो रहा है। जैसा एक दर्शन कर्म, उपासना और ज्ञान को मोक्ष का प्रधान कारण मानता है, दूसरा शील, समाधि और प्रज्ञा को मुख्यता देता है और तीसरा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्ष का साधन कहता है। इसके पीछे अपनी-अपनी दृष्टि है, लेकिन उनके समन्वय का प्रयास नहीं होता है, जिससे वे परस्पर विपरीत दिशागामी प्रतीत होते हैं। लेकिन स्याद्वाद सिद्धांत द्वारा इनका समन्वय हो जाता है कि शाब्दिक प्रक्रिया के कारण यह भिन्नता है, भावात्मक भिन्नता नहीं है।

आज का राजनैतिक जगत वैचारिक संघर्षों से परिव्याप्त है। पूँजीवाद, साम्यवाद, समाजवाद, अधिनायकवाद, राजतंत्र, प्रजातंत्र, कुलीनतंत्र, सैनिकतंत्र आदि अनेक प्रकार की राज्य-व्यवस्थायें और शासन-प्रणालियाँ प्रचलित हैं। ये

माता-पिता पुत्र-पुत्री सास-बहू आदि के समूह का नाम परिवार है। इन सबका मिल-जुलकर रहने के सिवाय परिवार का अपना अन्य कोई अस्तित्व नहीं है। लेकिन इन सदस्यों में भी संघर्ष हो जाता है, जिसका कारण है विचार-भिन्नता। संघर्ष के केन्द्रबिन्दु बनते हैं पिता-पुत्र, सास-बहू। पिता अपने अनुभवों के आधार पर पुत्र का जीवन-निर्माण करना चाहता है और पुत्र अपनी तर्कबुद्धि को मुख्य मानकर पिता के अनुभवों की उपेक्षा करता है। पिता की दृष्टि अनुभव-प्रधान होती है और अपनी मान्यताओं को पुत्र से मनवाना चाहता है। पिता प्राचीन संस्कारों की रक्षा करना चाहता है तो पुत्र उन्हें सर्वथा समाप्त करना उपयुक्त समझता है। यही बात सास और बहू के दृष्टिकोण की है। सास यह अपेक्षा करती है कि बहू वैसा ही जीवन व्यतीत करे जैसा कि उसने स्वयं बहू के रूप में बिताया है और बहू अपने मातृपक्ष के संस्कारों और स्वतन्त्रता वाला व्यवहार करना चाहती है। इसी प्रकार से परिवार के अन्य-अन्य सदस्यों के अपने-अपने दृष्टिकोण होते हैं जो विवाद का कारण बन जाते हैं। इन विवादों के समाधान का एक ही उपाय है कि जब तक सहिष्णु दृष्टि से एक-दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयास नहीं किया जावे तब तक संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता है। हम दूसरे के सम्बन्ध में कोई विचार करें और निर्णय लें, उससे पहले स्वयं उस स्थिति में खड़े हों। दूसरे की भूमिका में स्वयं को खड़ा करके ही उसके बारे में सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है। पिता और सास, पुत्र एवं बहू से जिस बात की अपेक्षा करते हैं, उससे पहले अपने को उनकी भूमिका पर खड़ाकर टटोल लें और पुत्र व बहू पिता व सास के अनुभवों का अनुसरण करने में भलाई का अनुभव कर लें तो संघर्ष का अवसर नहीं आयेगा। सह-अस्तित्व का यही आधार है। अनेकांतवाद यही तो कहता है कि दो मनों के बीच एक ऐसा सेतु बनाओ जिससे परस्पर विरुद्ध एक-दूसरे से भिन्न दिखने वाले भी अपना-अपना अस्तित्व पृथक्-पृथक् रखकर परस्पर सहयोगी बन जायें।

उक्त पारिवारिक स्थिति की तरह दार्शनिक क्षेत्र भी है। प्रत्येक दार्शनिक भिन्न-भिन्न देश और काल की परिस्थिति के अनुसार सत्य के केवल उस अंश को ग्रहण करता है, जो उसके समक्ष प्रतीत हो रहा है। जैसा एक दर्शन कर्म, उपासना और ज्ञान को मोक्ष का प्रधान कारण मानता है, दूसरा शील, समाधि और प्रज्ञा को मुख्यता देता है और तीसरा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्ष का साधन कहता है। इसके पीछे अपनी-अपनी दृष्टि है, लेकिन उनके समन्वय का प्रयास नहीं होता है, जिससे वे परस्पर विपरीत दिशागामी प्रतीत होते हैं। लेकिन स्याद्वाद सिद्धांत द्वारा इनका समन्वय हो जाता है कि शाब्दिक प्रक्रिया के कारण यह भिन्नता है, भावात्मक भिन्नता नहीं है।

आज का राजनैतिक जगत वैचारिक संघर्षों से परिव्याप्त है। पूंजीवाद, साम्यवाद, समाजवाद, अधिनायकवाद, राजतंत्र, प्रजातंत्र, कुलीनतंत्र, सैनिकतंत्र आदि अनेक प्रकार की राज्य-व्यवस्थायें और शासन-प्रणालियां प्रचलित हैं। ये

प्रणालियाँ भी एक-दूसरे को समाप्त करने तथा अपना-अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने में लगी हुई हैं। महायुद्ध और प्रादेशिक युद्ध अपना-अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने के लिए हुए और हो रहे हैं। आर्थिक लाभ के अतिरिक्त अपनी विचारधारा का प्रसार प्रमुख कारण है। ये संघर्ष और युद्ध मानव जाति के लिए विभीषिका बने हुए हैं।

इन युद्धों में कोई भी पक्ष लाभ की स्थिति में नहीं है। विजित और विजयी दोनों भयभीत हैं और यह अनुभव करते हैं कि कोई न कोई शांति का मार्ग-उपाय मिले। इसी उद्देश्य को लेकर संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे एक मंच का निर्माण हुआ है। इस मंच का निर्माण होने पर भी और शांति व सह-अस्तित्व की आवश्यकता पर जोर देते हुए भी विश्व-शांति स्थापित नहीं हो रही है। इसका कारण स्पष्ट है कि अनेकांतदृष्टि और स्याद्वाद की भावना को नहीं अपनाया गया है। बात शांति की की जाती है और प्रवृत्ति पूर्ववत् दुराग्रह से भरी हुई है।

आज की राजनीति यद्यपि राजतन्त्र से प्रजातंत्र तक आ पहुँची है। इसके बीच अनेक उतार-चढ़ाव भी उसने देखे हैं। लेकिन आज भी प्रजातंत्र आगे नहीं बढ़ पाया है। निर्वाचित व्यक्ति पूर्ववत् राजतंत्र के अनुरूप आचरण कर रहे हैं। बहुमत और अल्पमत की निर्णायक पद्धति के कारण वास्तविक प्रजातंत्र की स्थापना नहीं हुई है। वह बहुमततंत्र बनकर रह गया है, जिसमें अल्पमतों की आवाज भी नहीं सुनी जाती। साथ ही हारे हुए नेताओं पर अनेक प्रकार के मिथ्यादोषारोपण कर उनका चरित्र हनन किया जाता है। प्रजातंत्र तभी सफल हो सकेगा जब स्याद्वादी दृष्टिकोण को स्वीकार किया जायेगा। विरोधी पक्ष की बात इसलिए अग्राह्य नहीं मानी जानी चाहिए कि वह अल्पमत में है। ऐसा होने पर ही तो शासन अथवा सत्ताधारी दल निरंकुश प्रवृत्ति करने लगता है। इसलिए विरोधी पक्ष को उतना ही मान देना चाहिए जितना अपने पक्ष को सम्माननीय माना जाता है। विपक्ष विरोधी ही नहीं है, किन्तु उसकी धारणाओं में भी किसी रूप से सत्य का अंश है। इससे अपने दोषों के निराकरण का अवसर मिलता है। यह तभी सम्भव है जब वैचारिक सहिष्णुता और समन्वय का दृष्टिकोण अंगीकार किया जायेगा। वैचारिक सहिष्णुता और समन्वय के द्वारा ही प्रजातंत्र का भविष्य उज्ज्वल बन सकता है। इसलिये प्रजातंत्र को यदि सही मायने में अपना आदर्श प्रतिफलित करना है तो उसे वैचारिक सहिष्णुता और समन्वय के मार्ग पर अग्रसर होना होगा और उसके लिए स्याद्वाद—अनेकांतवाद के सिवाय अन्य कोई आधार नहीं हो सकता है। जिस सीमा तक स्याद्वाद को अपनाया जायेगा, प्रजातंत्र भी उसी सीमा तक सफल होता जायेगा। अब दायित्व है, राजनीतिज्ञों पर कि वे व्यवहार की राजनीति में स्याद्वाद का उपयोग करते हैं या नहीं।

व्यक्तिगत जीवन में स्याद्वाद

उक्त कथन का अर्थ यह है कि स्याद्वाद दर्शन और चिन्तन के क्षेत्र तक सीमित नहीं है, अपितु आचरण व प्रयोग का भी माध्यम है। व्यक्ति और समष्टि सभी

के लिए समानरूप से उपादेय है। शिष्ट और सामान्य नागरिक आचरण के तीन सूत्र हैं—सम्मान, सुरक्षा और संयम जिन्हें आगमों की भाषा में कहेंगे—

नो अत्ताणं आसाएज्जा नो परं आसाएज्जा।

न अपनी अवहेलना (उपेक्षा, अनादर) करो और न दूसरों की। यानी सम्मान योग्य आचार प्रवृत्ति करो। जैसे अपना अपमान होने पर दुःख होता है, क्रोध आता है, वैसे ही दूसरे की अवहेलना होने पर उसको भी दुःखानुभूति होती है। अवहेलना, अनादर संघर्ष के कारण हैं। अतः सम्मानपूर्ण व्यवहार करना चाहिए।

सव्वे पाण पिआउया नाइ वाएज्जं कंचणं।

सबको अपना जीवन प्रिय है, किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो। सभी प्राणी अपने प्राणों की सुरक्षा के लिए सतत सचेष्ट रहते हैं। प्रत्येक विकट परिस्थिति में प्राणों की रक्षा के लिए सभी प्रयत्न करते हैं। प्राणहरण पर जैसा अनुभव तुम्हें होता है, वैसा ही अन्य को भी। अतः हिंसा मत करो, प्राणों और प्राणी की रक्षा करो। रक्षा का अर्थ सिर्फ प्राणों को न लेना ही नहीं है किन्तु दीन, दुखी, अभाव पीड़ितों के प्रति तन, मन, धन से अग्रसर होकर उनको अभय दो। सुरक्षा का अर्थ है सेवा, उपकार, करुणा, मैत्री आदि का व्यवहार करना।

अप्पणो य परं नालं कुतो अन्नाणु सासिउ।

जो अपने पर अनुशासन नहीं रख सकता है, वह दूसरों पर अनुशासन कैसे रख सकेगा? यदि व्यक्ति स्वेच्छाचारी है, अपने जीवन में मर्यादा नहीं करता है और यथेच्छा प्रवृत्ति करता है तो दूसरों से सद्व्यवहार की अपेक्षा कैसे रखी जा सकती है। अनुशासन का सही मायने में यह अर्थ है कि पहले अपने को संयमित बनाओ, मर्यादा में रहो और जिस मर्यादा में स्वयं रहोगे, तदनुकूल दूसरा भी शासन मानेगा।

उक्त तीनों आगम वाक्यों का सारांश यह है कि व्यक्ति यदि दूसरे की अवहेलना करता है, दुराग्रह पर अड़ा रहता है तो दूसरे भी उपेक्षा कर देते हैं। स्व की रक्षा या विलास के लिए अन्य के प्राणहनन करता है, तो दूसरे भी उसे प्राणघातक मान वैसा करने के लिए उन्मुख हो जाते हैं अथवा क्रूर मानकर दूर रहना पसन्द करते हैं और जो अनुशासनहीन है, लोक-मर्यादा, व्यवस्था का पालन नहीं करता है तो दूसरे भी उसकी बात सुनने के लिए तत्पर नहीं होते हैं।

स्याद्वाद द्वारा यही संकेत किया जाता है आचार के लिए और विचार के लिए कि सद्विचार, सहिष्णुता एवं सत्प्रवृत्ति का सहयोग आवश्यक है। हिंसमित परपक्ष को सुनो, उसकी बात में भी सत्य समाया हुआ है। जीवन सबके लिए समान रूप से इष्ट है। यदि इसको न माना जायेगा तो विश्व में निर्बलों को जीने का अधिकार ही नहीं रहेगा। इसलिए जीवन-विकास के लिए इन तीनों सूत्रों को उतारना आवश्यक है। इन तीनों में ही स्याद्वाद की जीवनस्पर्शी व्याख्या समाई हुई है।

स्याद्वाद सिर्फ विचार नहीं है, किन्तु आचार-व्यवहार भी है, जो अहिंसा और अपरिग्रह के रूप में विकसित हुआ है।

विश्व मंगलकारी स्याद्वाद

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे, चिंतन के प्रत्येक आयाम मे हम परस्पर विरुद्ध दो स्थितयों के स्पष्ट दर्शन करते हैं। यह दोनों स्थितियाँ सापेक्ष हैं। एकान्त अस्ति या एकात नास्ति जैसा निरपेक्ष कुछ भी नही है। तब हम 'ही' का प्रयोग करके सफल नही हो सकते हैं किन्तु 'भी' का प्रयोग करके सफल व संतुलित रह सकते हैं। 'भी' का प्रयोग सफल, शिष्ट और सर्वमान्य प्रणाली है और इसके दर्शन हमें अपने प्रतिदिन के जीवन व्यवहार में होते हैं। अपेक्षाओ की सिद्धि 'ही' से नही 'भी' से सभव है। 'भी' का प्रयोग यह अभिव्यक्ति देता है कि स्व-सत्य तो सत्य है ही, लेकिन दूसरा भी सत्य है।

भगवान महावीर ने स्याद्वाद सिद्धात के द्वारा यही सूत्र दिया है कि एक पक्ष की सत्ता स्वीकार करते हुए भी दूसरे पक्ष को भी उसका सत्य कहने दो और उस सत्य को स्वीकार करो। यह सिर्फ दार्शनिक चिंतन नहीं है किन्तु सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला है और इसके द्वारा हम गरीबों, दुर्बलों और अल्पसंख्यकों को न्याय दे सकते हैं। आज जो संघर्ष, वर्गभेद, साम्प्रदायिक कलह, विग्रह आदि हैं उनका मूल कारण एक-दूसरे के दृष्टिकोण को न समझना है, वैयक्तिक हठ व आग्रह आदि हैं।

स्याद्वाद संकुचित एवं अनुदार दृष्टि को विशाल बनाता है। यह विशालता, उदारता ही पारस्परिक सौहार्द, सहयोग, सद्भावना एवं समन्वय का मूल प्राण है। आज के युग में तो इसकी और भी अधिक आवश्यकता है। समानता और सहअस्तित्व का सिद्धान्त स्याद्वाद को स्वीकार किये बिना फलित नहीं हो सकता है। उदारता और सहयोग की भावना तभी बलवती बनेगी जब हमारा चिन्तन, कथन अनेकांतवादी होगा।

किसी एक पक्ष पर अड़ जाना तथा वाद-विवाद में आँखें लाल करके बोलने लगना, ये लक्षण उन लोगों के हैं जो अभी सत्य की राह पर नहीं आये हैं। सत्य के मार्ग पर आया हुआ व्यक्ति हठी नहीं होता है बल्कि स्याद्वादी होता है। जब तक विश्व अनेकांतदृष्टि स्याद्वाद को स्वीकार नहीं करेगा तब तक संसार में शांति होना संभव नही है। विश्व को अपने विकास के लिए स्याद्वाद का शाश्वत सरल मार्ग स्वीकार करना पड़ेगा यही विश्व मंगल की आद्य इकाई है। ☆

तत्त्वार्थ सूत्र : उमास्वाति
तत्त्वार्थाधिगमभाष्य स्वोपज्ञ भाष्य : उमास्वाति
तत्त्वार्थ राजवार्तिक : अकलंकदेव
तत्त्व संग्रह : आचार्य शान्तरक्षित
तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक : विद्यानन्दि
तत्त्वार्थ सूत्र : सिद्धसेनीया टीका
तत्त्वार्थ भाष्य टीका : भावसेन
तैत्तिरीय उपनिषद्
तैत्तिरीय उपनिषद् : शांकरभाष्य
तत्त्वार्थ प्रदीप : वल्लभाचार्य
तैत्तिरीय ब्राह्मण
तत्त्वोपप्लवसिंह : जयराशि भट्ट
दीघनिकाय
द्रव्यानुयोग तर्कणा
दि नेचर आफ फिजीकल वर्ल्ड
द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका : सिद्धसेन दिवाकर
दर्शन दिग्दर्शन : राहुल सांकृत्यायन
धवला, खण्ड १३
न्यायावतार
न्याय-दीपिका
न्यायावतार टीका : सिद्धर्षि
नयचक्र
नय-रहस्य
न्यायोपदेश
न्यायभाष्य
न्याय-रत्नाकर
न्यायसूत्र
नायाधम्मकहाओ (ज्ञातृधर्मकथा)
प्रमाणनयतत्त्वालोक
पंच-संग्रह
पचास्तिकाय : कुन्दकुन्दाचार्य
प्रमाणवार्तिक : धर्मकीर्ति
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय : अमृतचन्द्राचार्य
पंचास्तिकाय टीका
प्रमाण-मीमांसा

पंचाध्यायी
प्राकृत व्याकरण
प्रमेय-रत्नमाला
प्रमेय-कमल-मार्तण्ड
पंचाशक : उमास्वाति ?
प्रवचनसार
प्रवचनसार टीका
पंचदशी : विद्यारण्य स्वामी
प्रज्ञापना सूत्र
प्रश्नोपनिषद्
प्रमाणवार्तिकालंकार : प्रभाकर गुप्त
प्रशस्तपादभाष्य, व्योमवती टीका : आचार्य व्योमशिव
पूर्वी और पश्चिमी दर्शन : डॉ० देवराज
बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र : समंतभद्राचार्य
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य
बृहदारण्यक उपनिषद्
बृहदारण्यक उपनिषद् शांकरभाष्य
ब्रह्मसूत्र और भाष्य
ब्रह्मसूत्र का श्रीभाष्य : श्रीकण्ठ आचार्य
ब्रह्मसूत्र का वेदान्त पारिजात सौरभ भाष्य
ब्रह्ममीमांसा-भाष्य
ब्रह्मवैवर्तपुराण
बोधिचर्यावतार पंजिका
ब्रह्मसूत्र, भास्करभाष्य : भास्कराचार्य
ब्रह्मसूत्र, अणुभाष्य : वल्लभाचार्य
ब्रह्मसूत्र, निम्बार्कभाष्य : निम्बार्काचार्य
भगवती सूत्र
भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय
माध्यमिक कारिका
महाभारत
मनुस्मृति
मिस्टीरियस यूनिवर्स
मुण्डकोपनिषद्
मज्झिमनिकाय
माण्डूक्योपनिषद्

माध्यमिकवृत्ति
योगसूत्र
योगसूत्र भाष्य
रत्नाकरावतारिका
लघीयस्त्रय: अकलंकदेव
व्यासभाष्य
विग्रहव्यावर्तनी
विशेषावश्यक भाष्य
वैशेषिक सूत्र
वैशेषिक भाष्य
वेदान्त सूत्र
वेदान्त सूत्र वैदिकी वृत्ति
वेदान्त परिभाषा प्रत्यक्ष परिच्छेद टीका
विज्ञानामृत भाष्य
विश्व की रूपरेखा
विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि
शांकरभाष्य : शंकराचार्य
श्वेताश्वतर उपनिषद्
शास्त्र दीपिका : पार्थसार मिश्र
शास्त्रवार्तासमुच्चय : हरिभद्र सूरि
श्लोकवार्तिक : कुमारिल भट्ट
षड्दर्शन समुच्चय टीका : गुणरत्नसूरि
सर्वार्थसिद्धि : पूज्यपाद
सांख्यकारिका
सन्मतितर्क : सिद्धसेन दिवाकर
समयसार : कुन्दकुन्दाचार्य
स्थानांग सूत्र
स्वयंभूस्तोत्र : समन्तभद्राचार्य
स्याद्वादमंजरी
सूत्रकृतांग सूत्र
सप्तभंगी तरंगिणी
समवायांग सूत्र
समवायांग टीका
सिद्धिविनिश्चय
संयुत्तनिकाय
सत्यार्थप्रकाश : दयानन्द सरस्वती
हेतुबिन्दु टीका : आचार्य अर्चट
हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी : थिली

पंचाध्यायी
प्राकृत व्याकरण
प्रमेय-रत्नमाला
प्रमेय-कमल-मार्तण्ड
पंचाशक : उमास्वाति ?
प्रवचनसार
प्रवचनसार टीका
पंचदशी : विद्यारण्य स्वामी
प्रज्ञापना सूत्र
प्रश्नोपनिषद्
प्रमाणवार्तिकालंकार : प्रभाकर गुप्त
प्रशस्तपादभाष्य, व्योमवती टीका : आचार्य व्योमशिव
पूर्वी और पश्चिमी दर्शन : डॉ० देवराज
बृहत्स्वयंभूस्तोत्र : समंतभद्राचार्य
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य
बृहदारण्यक उपनिषद्
बृहदारण्यक उपनिषद् शांकरभाष्य
ब्रह्मसूत्र और भाष्य
ब्रह्मसूत्र का श्रीभाष्य : श्रीकण्ठ आचार्य
ब्रह्मसूत्र का वेदान्त पारिजात सौरभ भाष्य
ब्रह्ममीमांसा-भाष्य
ब्रह्मवैवर्तपुराण
बोधिचर्यावतार पंजिका
ब्रह्मसूत्र, भास्करभाष्य : भास्कराचार्य
ब्रह्मसूत्र, अणुभाष्य : वल्लभाचार्य
ब्रह्मसूत्र, निम्बार्कभाष्य : निम्बार्काचार्य
भगवती सूत्र
भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय
माध्यमिक कारिका
महाभारत
मनुस्मृति
मिस्टीरियस यूनिवर्स
मुण्डकोपनिषद्
मज्झिमनिकाय
माण्डूक्योपनिषद्

तत्त्वार्थ सूत्र : उमास्वाति
तत्त्वार्थाधिगमभाष्य स्वोपज्ञ भाष्य : उमास्वाति
तत्त्वार्थ राजवार्तिक : अकलंकदेव
तत्त्व संग्रह : शान्त रक्षित
तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक : विद्यानन्द
तत्त्वार्थ सूत्र : सिद्धसेनीया टीका
तत्त्व [illegible] टीका : [illegible]
तैत्तिरीय उपनिषद्
तैत्तिरीय उपनिषद् : शांकरभाष्य
तत्त्वार्थ वृत्ति : पूज्यपादाचार्य
तैत्तिरीय ब्राह्मण
तत्त्वोपप्लवसिंह : जयराशि भट्ट
दीघनिकाय
द्रव्यानुयोग तर्कणा
दि [illegible] आफ [illegible] वार्ड
द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका : सिद्धसेन दिवाकर
दर्शन दिग्दर्शन : राहुल सांकृत्यायन
धवला, खण्ड १३
न्यायावतार
न्याय-दीपिका
न्यायावतार टीका : सिद्धर्षि
नयचक्र
नय-रहस्य
न्यायोपदेश
न्यायभाष्य
न्याय-रत्नाकर
न्यायसूत्र
नायाधम्मकहाओ (ज्ञातृधर्मकथा)
प्रमाणनयतत्त्वालोक
पंच-संग्रह
पंचास्तिकाय : कुन्दकुन्दाचार्य
प्रमाणवार्तिक : धर्मकीर्ति
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय : अमृतचन्द्राचार्य
पंचास्तिकाय टीका
प्रमाण-मीमांसा

पंचाध्यायी
प्राकृत व्याकरण
प्रमेय-रत्नमाला
प्रमेय-कमल-मार्तण्ड
पंचाशक : उमास्वाति ?
प्रवचनसार
प्रवचनसार टीका
पंचदशी : विद्यारण्य स्वामी
प्रज्ञापना सूत्र
प्रश्नोपनिषद्
प्रमाणवार्तिकालंकार : प्रभाकर गुप्त
प्रशस्तपादभाष्य, व्योमवती टीका : आचार्य व्योमशिव
पूर्वी और पश्चिमी दर्शन : डॉ० देवराज
बृहत्स्वयंभूस्तोत्र : समंतभद्राचार्य
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य
बृहदारण्यक उपनिषद्
बृहदारण्यक उपनिषद् शांकरभाष्य
ब्रह्मसूत्र और भाष्य
ब्रह्मसूत्र का श्रीभाष्य : श्रीकण्ठ आचार्य
ब्रह्मसूत्र का वेदान्त पारिजात सौरभ भाष्य
ब्रह्ममीमांसा-भाष्य
ब्रह्मवैवर्तपुराण
बोधिचर्यावतार पंजिका
ब्रह्मसूत्र, भास्करभाष्य : भास्कराचार्य
ब्रह्मसूत्र, अणुभाष्य : वल्लभाचार्य
ब्रह्मसूत्र, निम्बार्कभाष्य : निम्बार्काचार्य
भगवती सूत्र
भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय
माध्यमिक कारिका
महाभारत
मनुस्मृति
मिस्टीरियस यूनिवर्स
मुण्डकोपनिषद्
मज्झिमनिकाय
माण्डूक्योपनिषद्

तत्त्वार्थ सूत्र : उमास्वाति
तत्त्वार्थाधिगमभाष्य स्वोपज्ञ भाष्य : उमास्वाति
तत्त्वार्थ राजवार्तिक : अकलंकदेव
तत्त्व संग्रह : [illegible]
तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक : विद्यानन्दि
तत्त्वार्थ सूत्र : सिद्धसेनीया टीका
तत्त्व [illegible] टीका : [illegible]
तैत्तिरीय उपनिषद्
तैत्तिरीय उपनिषद् : शांकरभाष्य
तत्त्वार्थ वृत्ति : [illegible]
तैत्तिरीय ब्राह्मण
तत्त्वोपप्लवसिंह : जयराशि भट्ट
दीघनिकाय
द्रव्यानुयोग तर्कणा
दि नेचर आफ फिजीकल वर्ल्ड
द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका : सिद्धसेन दिवाकर
दर्शन दिग्दर्शन : राहुल सांकृत्यायन
धवला, खण्ड १३
न्यायावतार
न्याय-दीपिका
न्यायावतार टीका : सिद्धर्षि
नयचक्र
नय-रहस्य
न्यायोपदेश
न्यायभाष्य
न्याय-रत्नाकर
न्यायसूत्र
नायाधम्मकहाओ (ज्ञातृधर्मकथा)
प्रमाणनयतत्त्वालोक
पंच-संग्रह
पंचास्तिकाय : कुन्दकुन्दाचार्य
प्रमाणवार्तिक : धर्मकीर्ति
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय : अमृतचन्द्राचार्य
पंचास्तिकाय टीका
प्रमाण-मीमांसा

पंचाध्यायी
प्राकृत व्याकरण
प्रमेय-रत्नमाला
प्रमेय-कमल-मार्त्तण्ड
पंचाशक : उमास्वाति ?
प्रवचनसार
प्रवचनसार टीका
पंचदशी : विद्यारण्य स्वामी
प्रज्ञापना सूत्र
प्रश्नोपनिषद्
प्रमाणवार्तिकालंकार : प्रभाकर गुप्त
प्रशस्तपादभाष्य, व्योमवती टीका : आचार्य व्योमशिव
पूर्वी और पश्चिमी दर्शन : डॉ० देवराज
बृहत्स्वयंभूस्तोत्र : समंतभद्राचार्य
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य
बृहदारण्यक उपनिषद्
बृहदारण्यक उपनिषद् शांकरभाष्य
ब्रह्मसूत्र और भाष्य
ब्रह्मसूत्र का श्रीभाष्य : श्रीकण्ठ आचार्य
ब्रह्मसूत्र का वेदान्त पारिजात सौरभ भाष्य
ब्रह्ममीमांसा-भाष्य
ब्रह्मवैवर्तपुराण
बोधिचर्यावतार पंजिका
ब्रह्मसूत्र, भास्करभाष्य : भास्कराचार्य
ब्रह्मसूत्र, अणुभाष्य : वल्लभाचार्य
ब्रह्मसूत्र, निम्बार्कभाष्य : निम्बार्काचार्य
भगवती सूत्र
भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय
माध्यमिक कारिका
महाभारत
मनुस्मृति
मिस्टीरियस यूनिवर्स
मुण्डकोपनिषद्
मज्झिमनिकाय
माण्डूक्योपनिषद्

तत्त्वार्थ सूत्र : उमास्वाति
तत्त्वार्थाधिगमभाष्य-स्वोपज्ञ भाष्य : उमास्वाति
तत्त्वार्थ राजवार्तिक : अकलंकदेव
तत्त्व संग्रह : आचार्य शांतरक्षित
तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक : विद्यानन्दि
तत्त्वार्थ सूत्र : सिद्धसेनीया टीका
तत्त्व याथार्थ्य टीका : भावगणेश
तैत्तिरीय उपनिषद्
तैत्तिरीय उपनिषद् : शांकरभाष्य
तत्त्वार्थ प्रदीप : वल्लभाचार्य
तैत्तिरीय ब्राह्मण
तत्त्वोपप्लवसिंह : जयराशि भट्ट
दीघनिकाय
द्रव्यानुयोग तर्कणा
दि मेथर आफ फिजीकल वर्ल्ड
द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका : सिद्धसेन दिवाकर
दर्शन दिग्दर्शन : राहुल सांकृत्यायन
धवला, खण्ड ११
न्यायावतार
न्याय-दीपिका
न्यायावतार टीका : सिद्धर्षि
नयचक्र
नय-रहस्य
न्यायप्रवेश
न्यायभाष्य
न्याय-रत्नाकर
न्यायसूत्र
न्यायकुमुदचन्द्र ([illegible])
प्रमाणनयतत्त्वालोक
नय-प्रदीप
पंचास्तिकाय : कुन्दकुन्दाचार्य
प्रमाणवार्तिक : धर्मकीर्ति
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय : अमृतचन्द्राचार्य
पंचास्तिकाय टीका
प्रवचनसार

पंचाध्यायी
प्राकृत व्याकरण
प्रमेय-रत्नमाला
प्रमेय-कमल-मार्तण्ड
पंचाशक : उमास्वाति ?
प्रवचनसार
प्रवचनसार टीका
पंचदशी : विद्यारण्य स्वामी
प्रज्ञापना सूत्र
प्रश्नोपनिषद्
प्रमाणवार्तिकालंकार : प्रभाकर गुप्त
प्रशस्तपादभाष्य, व्योमवती टीका : आचार्य व्योमशिव
पूर्वी और पश्चिमी दर्शन : डॉ० देवराज
बृहत्स्वयंभूस्तोत्र : समंतभद्राचार्य
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य
बृहदारण्यक उपनिषद्
बृहदारण्यक उपनिषद् शांकरभाष्य
ब्रह्मसूत्र और भाष्य
ब्रह्मसूत्र का श्रीभाष्य : श्रीकण्ठ आचार्य
ब्रह्मसूत्र का वेदान्त पारिजात सौरभ भाष्य
ब्रह्ममीमांसा-भाष्य
ब्रह्मवैवर्तपुराण
बोधिचर्यावतार पंजिका
ब्रह्मसूत्र, भास्करभाष्य : भास्कराचार्य
ब्रह्मसूत्र, अणुभाष्य : वल्लभाचार्य
ब्रह्मसूत्र, निम्बार्कभाष्य : निम्बार्काचार्य
भगवती सूत्र
भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय
माध्यमिक कारिका
महाभारत
मनुस्मृति
मिस्टीरियस यूनिवर्स
मुण्डकोपनिषद्
मज्झिमनिकाय
माण्डूक्योपनिषद्

तत्त्वार्थ सूत्र : उमास्वाति
तत्त्वार्थाधिगमभाष्य-स्वोपज्ञ भाष्य : उमास्वाति
तत्त्वार्थ राजवार्तिक : अकलंकदेव
तत्त्व संग्रह : आचार्य शान्तरक्षित
तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक : विद्यानन्दि
तत्त्वार्थ सूत्र : सिद्धसेनीया टीका
तत्त्व याथार्थ्य टीका : भावसेन
तैत्तिरीय उपनिषद्
तैत्तिरीय उपनिषद् : शांकरभाष्य
तत्त्वार्थ प्रदीप : वल्लभाचार्य
तैत्तिरीय ब्राह्मण
तत्त्वोपप्लवसिंह : जयराशि भट्ट
दीघनिकाय
द्रव्यानुयोग तर्कणा
दि नेचर आफ फिजीकल वर्ल्ड
द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका : सिद्धसेन दिवाकर
दर्शन दिग्दर्शन : राहुल सांकृत्यायन
धवला, खण्ड १३
न्यायावतार
न्याय-दीपिका
न्यायावतार टीका : सिद्धर्षि
नयचक्र
नय-रहस्य
न्यायोपदेश
न्यायभाष्य
न्याय-रत्नाकर
न्यायसूत्र
णायाधम्मकहाओ (ज्ञातृधर्मकथा)
प्रमाणनयतत्त्वालोक
पंच-संग्रह
पंचास्तिकाय : कुन्दकुन्दाचार्य
प्रमाणवार्तिक : धर्मकीर्ति
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय : अमृतचन्द्राचार्य
पंचास्तिकाय टीका
प्रमाण-मीमांसा

पंचाध्यायी
प्राकृत व्याकरण
प्रमेय-रत्नमाला
प्रमेय-कमल-मार्तण्ड
पंचाशक : उमास्वाति ?
प्रवचनसार
प्रवचनसार टीका
पंचदशी : विद्यारण्य स्वामी
प्रज्ञापना सूत्र
प्रश्नोपनिषद्
प्रमाणवार्तिकालंकार : प्रभाकर गुप्त
प्रशस्तपादभाष्य, व्योमवती टीका : आचार्य व्योमशिव
पूर्वी और पश्चिमी दर्शन : डॉ० देवराज
बृहत्स्वयंभूस्तोत्र : समंतभद्राचार्य
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य
बृहदारण्यक उपनिषद्
बृहदारण्यक उपनिषद् शांकरभाष्य
ब्रह्मसूत्र और भाष्य
ब्रह्मसूत्र का श्रीभाष्य : श्रीकण्ठ आचार्य
ब्रह्मसूत्र का वेदान्त पारिजात सौरभ भाष्य
ब्रह्ममीमांसा-भाष्य
ब्रह्मवैवर्तपुराण
बोधिचर्यावतार पंजिका
ब्रह्मसूत्र, भास्करभाष्य : भास्कराचार्य
ब्रह्मसूत्र, अणुभाष्य : वल्लभाचार्य
ब्रह्मसूत्र, निम्बार्कभाष्य : निम्बार्काचार्य
भगवती सूत्र
भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय
माध्यमिक कारिका
महाभारत
मनुस्मृति
मिस्टीरियस यूनिवर्स
मुण्डकोपनिषद्
मज्झिमनिकाय
माण्डूक्योपनिषद्

तत्त्वार्थ सूत्र : उमास्वाति
तत्त्वार्थाधिगमभाष्य-स्वोपज्ञ भाष्य : उमास्वाति
तत्त्वार्थ राजवार्तिक : अकलंकदेव
तत्त्व संग्रह : आचार्य शांतरक्षित
तत्त्वार्थ श्लोकवार्त्तिक : विद्यानन्दि
तत्त्वार्थ सूत्र . सिद्धसेनीया टीका
तत्त्व याथार्थ्य टीका : भावगणेश
तैत्तिरीय उपनिषद्
तैत्तिरीय उपनिषद् : शांकरभाष्य
तत्त्वार्थ प्रदीप : वल्लभाचार्य
तैत्तिरीय ब्राह्मण
तत्त्वोपप्लवसिंह : जयराशि भट्ट
दीघनिकाय
द्रव्यानुयोग तर्कणा
दि नेचर आफ फिजीकल वर्ल्ड
द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका : सिद्धसेन दिवाकर
दर्शन दिग्दर्शन : राहुल सांकृत्यायन
धवला, खण्ड १३
न्यायावतार
न्याय-दीपिका
न्यायावतार टीका : सिद्धर्षि
नयचक्र
नय-रहस्य
न्यायोपदेश
न्यायभाष्य
न्याय-रत्नाकर
न्यायसूत्र
नायाधम्मकहाओ (ज्ञातृधर्मकथा)
प्रमाणनयतत्त्वालोक
पंच-संग्रह
पंचास्तिकाय : कुन्दकुन्दाचार्य
प्रमाणवार्तिक : धर्मकीर्ति
पुरुषार्थसिद्धयुपाय : अमृतचन्द्राचार्य
पंचास्तिकाय टीका
प्रमाण-मीमांसा

पंचाध्यायी
प्राकृत व्याकरण
प्रमेय-रत्नमाला
प्रमेय-कमल-मार्तण्ड
पंचाशक : उमास्वाति ?
प्रवचनसार
प्रवचनसार टीका
पंचदशी : विद्यारण्य स्वामी
प्रज्ञापना सूत्र
प्रश्नोपनिषद्
प्रमाणवार्तिकालंकार : प्रभाकर गुप्त
प्रशस्तपादभाष्य, व्योमवती टीका : आचार्य व्योमशिव
पूर्वी और पश्चिमी दर्शन : डॉ० देवराज
बृहत्स्वयंभूस्तोत्र : समंतभद्राचार्य
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य
बृहदारण्यक उपनिषद्
बृहदारण्यक उपनिषद् शांकरभाष्य
ब्रह्मसूत्र और भाष्य
ब्रह्मसूत्र का श्रीभाष्य : श्रीकण्ठ आचार्य
ब्रह्मसूत्र का वेदान्त पारिजात सौरभ भाष्य
ब्रह्ममीमांसा-भाष्य
ब्रह्मवैवर्तपुराण
बोधिचर्यावतार पंजिका
ब्रह्मसूत्र, भास्करभाष्य : भास्कराचार्य
ब्रह्मसूत्र, अणुभाष्य : वल्लभाचार्य
ब्रह्मसूत्र, निम्बार्कभाष्य : निम्बार्काचार्य
भगवती सूत्र
भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय
माध्यमिक कारिका
महाभारत
मनुस्मृति
मिस्टीरियस यूनिवर्स
मुण्डकोपनिषद्
मज्झिमनिकाय
माण्डूक्योपनिषद्

तत्त्वार्थ सूत्र : उमास्वाति
तत्त्वार्थाधिगमभाष्य-स्वोपज्ञ भाष्य : उमास्वाति
तत्त्वार्थ राजवार्तिक : अकलंकदेव
तत्त्व संग्रह : आचार्य शांतरक्षित
तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक : विद्यानन्दि
तत्त्वार्थ सूत्र : सिद्धसेनीया टीका
तत्त्व याथार्थ्य टीका : भावगणेश
तैत्तिरीय उपनिषद्
तैत्तिरीय उपनिषद् : शांकरभाष्य
तत्त्वार्थ प्रदीप : वल्लभाचार्य
तैत्तिरीय ब्राह्मण
तत्त्वोपप्लवसिंह : जयराशि भट्ट
दीघनिकाय
द्रव्यानुयोग तर्कणा
दि नेचर आफ फिजीकल वर्ल्ड
द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका : सिद्धसेन दिवाकर
दर्शन दिग्दर्शन : राहुल सांकृत्यायन
धवला, खण्ड १३
न्यायावतार
न्याय-दीपिका
न्यायावतार टीका : सिद्धर्षि
नयचक्र
नय-रहस्य
न्यायोपदेश
न्यायभाष्य
न्याय-रत्नाकर
न्यायसूत्र
नायाधम्मकहाओ (ज्ञातृधर्मकथा)
प्रमाणनयतत्त्वालोक
पंच-संग्रह
पंचास्तिकाय : कुन्दकुन्दाचार्य
प्रमाणवार्तिक : धर्मकीर्ति
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय : अमृतचन्द्राचार्य
पंचास्तिकाय टीका
प्रमाण-मीमांसा

पंचाध्यायी
प्राकृत व्याकरण
प्रमेय-रत्नमाला
प्रमेय-कमल-मार्तण्ड
पंचाशक : उमास्वाति ?
प्रवचनसार
प्रवचनसार टीका
पंचदशी : विद्यारण्य स्वामी
प्रज्ञापना सूत्र
प्रश्नोपनिषद्
प्रमाणवार्तिकालंकार : प्रभाकर गुप्त
प्रशस्तपादभाष्य, व्योमवती टीका : आचार्य व्योमशिव
पूर्वी और पश्चिमी दर्शन : डॉ० देवराज
बृहत्स्वयंभूस्तोत्र : समंतभद्राचार्य
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य
बृहदारण्यक उपनिषद्
बृहदारण्यक उपनिषद् शांकरभाष्य
ब्रह्मसूत्र और भाष्य
ब्रह्मसूत्र का श्रीभाष्य : श्रीकण्ठ आचार्य
ब्रह्मसूत्र का वेदान्त पारिजात सौरभ भाष्य
ब्रह्ममीमांसा-भाष्य
ब्रह्मवैवर्तपुराण
बोधिचर्यावतार पंजिका
ब्रह्मसूत्र, भास्करभाष्य : भास्कराचार्य
ब्रह्मसूत्र, अणुभाष्य : वल्लभाचार्य
ब्रह्मसूत्र, निम्बार्कभाष्य : निम्बार्काचार्य
भगवती सूत्र
भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय
माध्यमिक कारिका
महाभारत
मनुस्मृति
मिस्टीरियस यूनिवर्स
मुण्डकोपनिषद्
मज्झिमनिकाय
माण्डूक्योपनिषद्